पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: ६ :

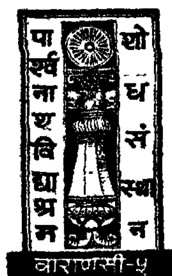
सम्पादक :
पं० दलसुख मालवणिया
डा० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य
का
बृहद् इतिहास

भाग १

अङ्ग आगम

लेखक :
पं० बेचरदास दोशी



सव्वं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

प्रकाशक :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

प्रकाशन-वर्ष :

सन् १९६६

मूल्य :

पन्द्रह रुपये

संक्षिप्त विषय-सूची

प्रस्तुत प्रकाशन जिनकी स्मृति से सम्बद्ध है



स्व. लाला मुनिलाल जैन, अमृतसर

[सन् १८९०-१९६४]

प्रकाशकीय

सन् १९५२ में जब पहली बार स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से हिन्दू विश्वविद्यालय में साक्षात्कार हुआ तो उन्होंने पथप्रदर्शन किया कि श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति को जैनविद्या के सम्बन्ध में कुछ प्राथमिक साहित्य प्रकाशित करना चाहिए। उसमें जैन साहित्य का इतिहास भी था।

उन्होंने अपनी ओर से बड़ी उत्सुकता और उत्साह से इस कार्य को प्रारम्भ कराया। १९५३ में मुनि श्री पुण्यविजयजी की अध्यक्षता में इसके लिए अहमदाबाद में सम्मेलन भी हुआ। इतिहास की रूपरेखा निश्चित की गई। तब अनुमान यही था कि शीघ्र ही इतिहास पूर्ण होकर प्रकाशित हो जाएगा। परन्तु कारणवशात् विलम्ब होता चला गया। हमें खुशी है कि आखिर यह काम होने लगा है।

जैनागमों के सम्बन्ध में रूपरेखा बनाते समय यही निश्चय हुआ था कि इतिहास का यह भाग पंडित बेचरदासजी दोशी अपने हाथ में लें। परन्तु उस समय वे इस कार्य के लिए समय कुछ कम दे रहे थे। अतः वे यह कार्य नहीं कर सकते थे। हर्ष की बात है कि इतने कालोपरांत भी यह भाग उन्हींके द्वारा लिखित हुआ है।

जैन साहित्य के इतिहास के लिए एक उपसमिति बनाई गई थी। समिति उस उपसमिति के कार्यकर्ताओं और सदस्यों के प्रति आभार प्रकाशित करती है तथा पं० बेचरदासजी व पं० दलसुख भाई मालवणिया और डा० मोहनलाल मेहता का भी आभार मानती है जिनके हार्दिक सहयोग के कारण प्रस्तुत भाग प्रकाशित हो सका है।

इस भाग के प्रकाशन का सारा खर्च श्री मनोहरलाल जैन, बी० कॉम० (मुनिलाल मोतीलाल जैनी, ६१ चम्पागली, बम्बई २, अमृतसर और दिल्ली) तथा उनके सहोदर सर्वश्री रोशनलाल, तिलकचंद और धर्मपाल ने वहन किया है। यह ग्रन्थ उनके पिता स्व० श्री मुनिलाल जैन की पुण्यस्मृति में प्रकाशित होरहा है। स्वर्गीय जीवनपर्यन्त समिति के खजांची रहे।

लाला मुनिलाल जैन का जन्म अमृतसर में सन् १८९० (वि० सं० १९४७)

में हुआ था, उनके अतिरिक्त लाला महताब शाह[1] के तीन पुत्र श्री मोतीलाल, श्री भीमसेन और श्री हंसराज हैं। परिवार तातड़ गोत्रीय ओसवाल है। लाला मुनिलाल ज्येष्ठ भाई थे।

सन् १९०४ (वि०सं० १९६१ में) पिताश्री की मृत्यु के उपरांत परिवार का भार स्वभावतः लालाजी के कंधों पर आया, उस समय उनकी आयु १४ वर्ष की थी। कुछ काल पश्चात् माताजी का भी देहान्त हो गया था। सौभाग्यवश मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व पिता महताब शाह प्रो० मस्तराम जैन के पिता लाला लच्छमणदास को नादौन, जिला कांगड़ा से अपने यहां ले आये थे। वे लालाजी के पारिवारिक कामकाज देखने में सहायक थे। इन लाला लच्छमणदास के पिता लाला महताब शाह के दूर के भाई थे। लालाजी के दक्ष मामाद्वय श्री बदरी शाह और श्री सोहनलाल सराफ, गुजरांवाला थे। वे उनके पारिवारिक और व्यापारिक धंधों का निरीक्षण अपने हाथ में लिये रहते थे। उन हितैषी स्वजनों का आभार ससम्मान लालाजी और उनके भाई सदैव अनुभव करते रहे हैं। प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ वर्ष पूर्व लालाजी ने वर्तमान व्यापार-केन्द्र मुनिलाल मोतीलाल के नाम से अमृतसर में आरम्भ किया था। अब शाखाएं दिल्ली व बम्बई में भी हैं। इससे पूर्व वह फर्म मेलूमल मानकचंद की साझेदार थी। श्री मेलूमल लालाजी के दादा थे।

प्रो० मस्तराम जो उनके परिवार के साथ रहे हैं तथा उनके स्नेह और लाड़-प्यार के भाजन रहे हैं, लिखते हैं: "वे (लाला मुनिलाल) अति प्रसन्न स्वभावी थे। हर एक के साथ वे खिले माथे से मिलते थे। वार्तालाप में दूसरे को अपना बना लेते थे। घटनाएं सुनाने का उनका अपना ही मनोहर ढंग था। रोगी की सेवा करने में अद्वितीय थे।" साधु-साध्वी की सेवा का उन्हें विशेष ध्यान रहता था। उनके लिए मर्यादासहित ओपरेशन, ऐनक, दवाई आदि की निःशुल्क व्यवस्था करना उनके चित्त की रुचि थी। स्व० आचार्यशिरोमणि श्री सोहनलालजी के मूत्रकष्ट (सन् १९२८) में सर्वोत्तम सेवा उनकी ही थी। दमा से पीड़ित भक्त बृजलाल जैनी की सेवा करना उस अनुभवी की ही निःसंकोच हिम्मत का काम था।

व्यापारिक क्षेत्र में उनका मान था। उनकी बात ध्यान और आदर से सुनी जाती थी। गुरु बाजार मर्केण्टाइल एसोसियेशन की कार्यकारिणी समिति

---

१. पंजाब में ओसवाल प्रायः 'भाबड़ों' के नाम से समझे जाते थे। उनके नामों के साथ 'शाह' शब्द पुकारने का रिवाज था, यही 'शाह' शब्द उनके नाम का अंग था।

की सदस्यता के अतिरिक्त वे उसके प्रधान उपप्रधान भी रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के अवसर पर जब कपड़े पर नियन्त्रण जारी हुआ तो उनकी उपर्युक्त एसोसियेशन को परचून कपड़ा बेचने का सरकारी डिपो सौंपा गया। क्लर्कों की अनियमितता के कारण स्थानीय आपूर्ति विभाग के अध्यक्ष अतिरिक्त जिला-न्यायाधीश बहुत नाराज हुए। कार्यकारिणी समिति के सब सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही करने का उन्होंने निश्चय किया। लालाजी ने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि गलतियां टेकनिकल थीं। उस समय अतिरिक्त जिला-न्यायाधीश ने लालाजी की व्यक्तिगत जिम्मेवारी पर भरोसा रख कर कि भविष्य में वे गलतियां न होंगी, कार्यवाही बंद कर दी थी।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें विशेष रुचि थी। शतावधानीजी की प्रेरणा से ही उन्हें 'श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति' की प्रवृत्तियों में विश्वास हो गया था। यथाशक्ति वे इसके लिए धन एकत्रित करने में भाग लेते रहे। अपने पास से और परिवार से धन दिलाते रहे। वे उदारचित्त व्यक्ति थे। किसी पदादि के इच्छुक नहीं थे परन्तु साथियों के साथी, सहचरों के सहचर थे। स्थानीय जैन सभा के उपप्रधान और प्रधान वर्षों तक रहे। जैन परमार्थ फण्ड सोसायटी के वे आदि सदस्य थे। पदाधिकारी भी रहे। इसी प्रकार पूज्य अमरसिंह जीवदया भण्डार का कार्य वे चिरकाल तक स्व० लाला रतनचंद के साथ मिलकर करते रहे।

इन सब सफलताओं का श्रेय परिवार की ओर से प्राप्त जीवित सहकार पर है। उनकी मृत्यु दिसम्बर १९६४ के अन्त में स्वपत्नी के देहान्त के मासभर बाद हुई। उनकी पत्नी पतिभक्त भार्या थी।

हरजसराय जैन
मंत्री

प्राक्कथन

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' का प्रथम भाग—अंग आगम पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसकी कई वर्षों से प्रतीक्षा की जा रही थी। द्वितीय भाग—अंगबाह्य आगम भी अति शीघ्र ही पाठकों को प्राप्त होगा। इसका अधिक अंश मुद्रित हो चुका है। आगे के भाग भी क्रमशः प्रकाशित होंगे। विश्वास है, विशाल जैन साहित्य का सर्वांगपूर्ण परिचय देनेवाला प्रस्तुत ग्रन्थराज आधुनिक भारतीय साहित्य में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा। यह ग्रंथ निम्नलिखित ८ भागों में लगभग ४००० पृष्ठों में पूर्ण होगा :—

प्रथम भाग—अंग आगम

द्वितीय भाग—अंगबाह्य आगम

तृतीय भाग—आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य

चतुर्थ भाग—कर्मसाहित्य व आगमिक प्रकरण

पंचम भाग—दार्शनिक व लाक्षणिक साहित्य

षष्ठ भाग—काव्यसाहित्य

सप्तम भाग—अपभ्रंश व लोकभाषाओं में निर्मित साहित्य

अष्टम भाग—अनुक्रमणिका

विभिन्न भागों के लेखन के लिए विशिष्ट विद्वान् संलग्न हैं। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान इस भगीरथ कार्य को प्रामाणिक रूप से यथाशीघ्र सम्पन्न करने के लिए पूर्ण प्रयत्नशील है।

प्रस्तुत भाग के लेखक निर्भीक एवं तटस्थ विचारक पूज्य पं० बेचरदासजी का तथा प्रस्तावना-लेखक निष्पक्ष समीक्षक पूज्य दलसुखभाई का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। संस्थान व मुझ पर आपकी महती कृपा है। इस भाग के मुद्रण के लिए तारा प्रिंटिंग वर्क्स का तथा प्रूफ-संशोधन आदि के लिए संस्थान के शोध-सहायक पं० कपिलदेव गिरि का आभार मानता हूँ।

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५
३. ८. १९६६

प्रस्तावना

पं० दलसुख मालवणिया
अध्यक्ष
ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद—९

प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा

वैदिकधर्म और जैनधर्म

प्राचीन यति—मुनि—श्रमण

तीर्थंकरों की परंपरा

आगमों का वर्गीकरण

उपलब्ध आगमों और उनकी टीकाओं का परिमाण

आगमों का काल

आगम-विच्छेद का प्रश्न

श्रुतावतार

प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा :

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' की मर्यादा क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यह केवल जैनधर्म या दर्शन से ही संबद्ध साहित्य का इतिहास नहीं होगा अपितु जैनों द्वारा लिखित समग्र साहित्य का इतिहास होगा।

साहित्य में यह भेद करना कि यह जैनों का लिखा है और यह जैनेतरों का, उचित तो नहीं हैं किन्तु ऐसा विवश होकर ही करना पड़ा है। भारतीय साहित्य के इतिहास में जैनों द्वारा लिखे विविध साहित्य की उपेक्षा होती आई है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रयत्न जरूरी न होता। उदाहरण के तौर पर संस्कृत साहित्य के इतिहास में जब पुराणों पर लिखना हो या महाकाव्यों पर लिखना हो तब इतिहासकार प्रायः हिन्दु पुराणों से ही सन्तोष कर लेते हैं और यही गति महाकाव्यों की भी है। इस उपेक्षा के कारणों की चर्चा जरूरी नहीं है किन्तु जिन ग्रन्थो का विशेष अभ्यास होता हो उन्हीं पर इतिहासकार के लिए लिखना आसान होता है, यह एक मुख्य कारण है। 'कादंबरी' के पढ़ने-पढ़ानेवाले अधिक हैं अतएव उसकी उपेक्षा इतिहासकार नहीं कर सकता किन्तु धनपाल की 'तिलक-मंजरी' के विषय में प्रायः उपेक्षा ही है क्योंकि वह पाठ्यग्रन्थ नहीं। किन्तु जिन विरल व्यक्तियों ने उसे पढ़ा है वे उसके भी गुण जानते हैं।

इतिहासकार को तो इतनी फुर्सत कहाँ कि वह एक-एक ग्रन्थ स्वयं पढ़े और उसका मूल्यांकन करे। होता प्रायः यही है कि जिन ग्रन्थों की चर्चा अधिक हुई हो उन्हीं को इतिहास-ग्रन्थ में स्थान मिलता है, अन्य ग्रन्थो की प्रायः उपेक्षा होती है। 'यशस्तिलक' जैसे चंपू की बहुत वर्षों तक उपेक्षा ही रही किन्तु डा० हन्दिकी ने जब उसके विषय में पूरी पुस्तक लिख डाली तब उस पर विद्वानों का ध्यान गया।

इसी परिस्थिति को देखकर जब इस इतिहास की योजना बन रही थी तब डा० ए० एन० उपाध्ये का सुझाव था कि इतिहास के पहले विभिन्न ग्रन्थो या विभिन्न विषयों पर अभ्यास, लेख लिखाये जायं तब इतिहास की सामग्री तैयार होगी और इतिहासकार के लिए इतिहास लिखना आसान होगा। उनका यह बहुमूल्य सुझाव उचित ही था किन्तु उचित यह समझा गया कि जब तक ऐसे लेख तैयार न हो जायं तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना भी उचित नहीं है। अतएव निश्चय हुआ कि मध्यम मार्ग से जैन साहित्य के इतिहास को

अनेक विद्वानों के सहयोग से लिखा जाय। उसमें गहरे चिंतनपूर्वक समीक्षा कदाचित् संभव न हो तो भी ग्रन्थ का सामान्य विषय-परिचय दिया जाय जिससे कितने विषय के कौन से ग्रन्थ हैं—इसका तो पता विद्वानों को हो ही जायगा। और फिर जिज्ञासु विद्वान् अपनी रुचि के ग्रन्थ स्वयं पढ़ने लगेंगे।

इस विचार को स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गति दी और यह निश्चय हुआ कि ई० सन् १९५३ में अहमदाबाद में होने वाले प्राच्य विद्या परिषद् के सम्मेलन के अवसर पर वहां विद्वानों की उपस्थिति होगी अतएव उस अवसर का लाभ उठाकर एक योजना विद्वानों के समक्ष रखी जाय। इसी विचार से योजना का पूर्वरूप वाराणसी में तैयार कर लिया गया और अहमदाबाद में उपस्थित निम्न विद्वानो के परामर्श से उसको अन्तिम रूप दिया गया :—

१. मुनि श्री पुण्यविजयजी
२. आचार्य जिनविजयजी
३. पं० सुखलालजी संघवी
४. पं० बेचरदासजी दोशी
५. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
६. डा० ए० एन० उपाध्ये
७. डा० पी० एल० वैद्य
८. डा० मोतीचन्द
९. श्री अगरचन्द नाहटा
१०. डा० भोगीलाल सांडेसरा
११. डा० प्रबोध पण्डित
१२. डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
१३. प्रो० पद्मनाभ जैनी
१४. श्री बालाभाई वीरचंद देसाई जयभिक्खु
१५. श्री परमानन्द कुंवरजी कापड़िया

यहां यह भी बताना जरूरी है कि वाराणसी में योजना संबंधी विचार जब चल रहा था तब उसमें संपूर्ण सहयोग श्री पं० महेन्द्रकुमारजी का था और उन्हीं की प्रेरणा से पंडितद्वय श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा श्री फूलचन्द्रजी शास्त्री भी सहयोग देने को तैयार हो गये थे। किन्तु योजना का पूर्वरूप

जब तैयार हुआ तो इन तीनों पंडितों ने निर्णय किया कि हमें अलग हो जाना चाहिए। तदनुसार उनके सहयोग से हम वंचित ही रहे—इसका दुःख सबसे अधिक मुझे है। अलग होकर उन्होंने अपनी पृथक् योजना बनाई और यह आनन्द का विषय है कि उनकी योजना के अन्तर्गत पं० श्री कैलाशचन्द्र द्वारा लिखित 'जैन साहित्य का इतिहासः पूर्व-पीठिका' श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी से वीरनि० सं० २४८९ में प्रकाशित हुआ है। जैनों द्वारा लिखित साहित्य का जितना अधिक परिचय कराया जाय, अच्छा ही है। यह भी लाभ है कि विविध दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा होगी। अतएव हम उस योजना का स्वागत ही करते हैं।

अहमदाबाद में विद्वानों ने जिस योजना को अन्तिम रूप दिया तथा उस समय जो लेखक निश्चित हुए उनमें से कुछ ने जब अपना अंश लिखकर नहीं दिया तो उन अंशों को दूसरे से लिखवाना पड़ा है किन्तु मूल योजना में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया है। हम आशा करते हैं कि यथासंभव हम उस मूल योजना के अनुसार इतिहास का कार्य आगे बढावेंगे।

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' जो कई भागों में प्रकाशित होने जा रहा है, उसका यह प्रथम भाग है। जैन अंग ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत भाग में मुझे ही लिखना था किन्तु हुआ यह कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने पं० बेचरदासजी को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में जैन आगमों के विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने ये व्याख्यान विस्तृतरूप से गुजराती में लिखे भी थे। अतएव यह उचित समझा गया कि उन्ही व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत भाग के लिए अंग ग्रन्थों का परिचय हिन्दी में लिखा जाय। डा० मोहनलाल मेहता ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और इस प्रकार मेरा भार हलका हुआ। डा० मेहता का लिखा 'अंग ग्रन्थों का परिचय' प्रस्तुत भाग में मुद्रित है।

श्री पं० बेचरदासजी का आगमों का अध्ययन गहरा है, उनकी छानबीन भी स्वतंत्र है और आगमों के विषय में लिखनेवालों में वे अग्रदूत ही हैं। उन्हीं के व्याख्यानों के आधार पर लिखा गया प्रस्तुत अंग-परिचय यदि विद्वानों को अंग आगम के अध्ययन के प्रति आकर्षित कर सकेगा तो योजक इस प्रयास को सफल मानेंगे।

वैदिकधर्म और जैनधर्म :

वैदिकधर्म और जैनधर्म की तुलना की जाय तो जैनधर्म का वह रूप जो इसके प्राचीन साहित्य से उपलब्ध होता है, वेद से उपलब्ध वैदिकधर्म से अत्यधिक

मात्रा में सुसंस्कृत है। वेद के इन्द्रादि देवों का रूप और जैनों के आराध्य का स्वरूप देखा जाय तो वैदिक देव सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली हैं किन्तु वृत्तियों की दृष्टि से हीन ही हैं। मानवसुलभ क्रोध, राग, द्वेष आदि वृत्तियों का वैदिक देवों में साम्राज्य है तो जैनो के आराध्य में इन वृत्तियों का अभाव ही है। वैदिकों के इन देवों की पूज्यता कोई आध्यात्मिक शक्ति के कारण नहीं किन्तु नाना प्रकार से अनुग्रह और निग्रह शक्ति के कारण है जब कि जैनो के आराध्य ऐसी कोई शक्ति के कारण पूज्य नहीं किन्तु वीतरागता के कारण आराध्य हैं। आराधक में वीतराग के प्रति जो आदर है वह उसे उनकी पूजा में प्रेरित करता है जब कि वैदिक देवों का डर आराधक के यज्ञ का कारण है। वैदिकों ने भूदेवों की कल्पना तो की किन्तु वे कालक्रम से स्वार्थी हो गये थे। उनको अपनी पुरोहिताई की रक्षा करनी थी। किन्तु जैनों के भूदेव वीतराग मानव के रूप में कल्पित हैं। उन्हें यज्ञादि करके कमाई का कोई साधन जुटाना नहीं था। धार्मिक कर्मकांड में वैदिकों में यज्ञ मुख्य था जो अधिकांश बिना हिंसा या पशु-वध के पूर्ण नहीं होता था जब कि जैनधर्म में क्रियाकांड तपस्यारूप है—अनशन और ध्यानरूप है जिसमें हिंसा का नाम नहीं है। ये वैदिक यज्ञ देवों को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे जब कि जैनों में अपनी आत्मा के उत्कर्ष के लिए ही धार्मिक अनुष्ठान होते थे। उसमें किसी देव को प्रसन्न करने की बात का कोई स्थान नहीं था। उनके देव तो वीतराग होते थे जो प्रसन्न भी नहीं होते और अप्रसन्न भी नहीं होते। वे तो केवल अनुकरणीय के रूप में आराध्य थे।

वैदिकों ने नाना प्रकार के इन्द्रादि देवों की कल्पना कर रखी थी जो तीनों लोक में थे और उनका वर्ग मनुष्य वर्ग से भिन्न था और मनुष्य के लिये आराध्य था। किन्तु जैनो ने जो एक वर्ग के रूप में देवों की कल्पना की है वे मानव वर्ग से पृथग्वर्ग होते हुए भी उनका वह वर्ग सब मनुष्यों के लिए आराध्य कोटि में नहीं है। मनुष्य देव की पूजा भौतिक उन्नति के लिए भले करे किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए तो उससे कोई लाभ नहीं ऐसा मन्तव्य जैनधर्म का है। अतएव ऐसे ही वीतराग मनुष्यों की कल्पना जैनधर्म ने की जो देवों के भी आराध्य हैं। देव भी उस मनुष्य की सेवा करते हैं। सारांश यह है कि देव की नहीं किन्तु मानव की प्रतिष्ठा बढाने में जैनधर्म अग्रसर है।

देव या ईश्वर इस विश्व का निर्माता या नियंता है, ऐसी कल्पना वैदिकों की देखी जाती है। उसके स्थान में जैनों का सिद्धान्त है कि सृष्टि तो अनादि काल

से चली आती है, उसका नियंत्रण या सर्जन प्राणियों के कर्म से होता है, किसी अन्य कारण से नहीं। विश्व के मूल में कोई एक ही तत्त्व होना जरूरी है—इस विषय में वैदिक निष्ठा देखी जाय तो विविध प्रकार की है। अर्थात् वह एक तत्त्व क्या है, इस विषय में नाना मत हैं किन्तु ये सभी मत इस बात में तो एकमत हैं कि विश्व के मूल में कोई एक ही तत्त्व था। इस विषय में जैनों का स्पष्ट मन्तव्य है कि विश्व के मूल में कोई एक तत्त्व नहीं किन्तु वह तो नाना तत्त्वों का संमेलन है।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल में तो देवों को गौणता प्राप्त हो गई और यज्ञ ही मुख्य बन गये। पुरोहितों ने यज्ञक्रिया का इतना महत्त्व बढ़ाया कि यज्ञ यदि उचित ढंग से हों तो देवता के लिए अनिवार्य हो गया कि वे अपनी इच्छा न होते हुए भी यज्ञ के पराधीन हो गये। एक प्रकार से यह देवों पर मानवों की विजय थी किन्तु इसमें भी दोष यह था कि मानव का एक वर्ग—ब्राह्मणवर्ग ही यज्ञ-विधि को अपने एकाधिपत्य में रखने लग गया था। उस वर्ग की अनिवार्यता इतनी बढ़ा दी गई थी कि उनके बिना और उनके द्वारा किए गये वैदिक मन्त्रपाठ और विधिविधान के बिना यज्ञ की संपूर्ति हो ही नहीं सकती थी। किन्तु जैनधर्म में इसके विपरीत देखा जाता है। जो भी त्याग-तपस्या का मार्ग अपनावे चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता था और मानवमात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी बनता था। शूद्र वेदपाठ कर ही नहीं सकता था किन्तु जैनशास्त्रपाठ में उनके लिए कोई बाधा नहीं थी। धर्ममार्ग में स्त्री और पुरुष का समान अधिकार था, दोनों ही साधना करके मोक्ष पा सकते थे।

वेदाध्ययन में शब्द का महत्त्व था अतएव वेदमन्त्रों के पाठ की सुरक्षा हुई, संस्कृत भाषा को पवित्र माना गया, उसे महत्त्व मिला। किन्तु जैनों में पद का नहीं, पदार्थ का महत्त्व था। अतएव उनके यहां धर्म के मौलिक सिद्धांत की सुरक्षा हुई किन्तु शब्दों की सुरक्षा नहीं हुई। परिणाम स्पष्ट था कि वे संस्कृत को नहीं, किन्तु लोकभाषा प्राकृत को ही महत्त्व दे सकते थे। प्राकृत अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव एकरूप रह ही नहीं सकती थी, वह बदलती ही गई जब कि वैदिक संस्कृत उसी रूप में आज वेदों में उपलब्ध है। उपनिषदों के पहले के काल में वैदिकधर्म में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्पष्टरूप से विदित होता है, जब कि जबसे जैनधर्म का इतिहास ज्ञात है तबसे उसमें ब्राह्मण नहीं किन्तु क्षत्रियवर्ग ही नेता माना गया है। उपनिषद् काल में वैदिकधर्म में ब्राह्मणों के समक्ष

क्षत्रियों ने अपना सिर उठाया है और वह भी विद्या के क्षेत्र में। किन्तु वह विद्या वेद न होकर आत्मविद्या थी और उपनिषदों में आत्मविद्या का ही प्राधान्य हो गया है। यह ब्राह्मणवर्ग के ऊपर स्पष्टरूप से क्षत्रियो के प्रभुत्व की सूचना देता है।

वैदिक और जैनधर्म में इस प्रकार का विरोध देखकर आधुनिक पश्चिम के विद्वानों ने प्रारंभ में यह लिखना शुरू किया कि बौद्धधर्म की ही तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिए खड़ा हुआ एक क्रान्तिकारी नया धर्म है या वह बौद्धधर्म की एक शाखामात्र है। किन्तु जैसे-जैसे जैनधर्म और बौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का विशेष अध्ययन बढ़ा, पश्चिमी विद्वानों ने ही उनका भ्रम दूर किया और अब सुलझे हुए पश्चिमी विद्वान् और भारतीय विद्वान् भी यह उचित ही मानने लगे हैं कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है—वह वैदिक धर्म की शाखा नहीं है। किन्तु हमारे यहाँ के कुछ अधकचरे विद्वान् अभी भी उन पुराने पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करके यह लिख रहे हैं कि जैनधर्म तो वैदिकधर्म की शाखामात्र है या वेदधर्म के विरोध में खड़ा हुआ नया धर्म है। यद्यपि हम प्राचीनता के पक्षपाती नहीं हैं, प्राचीन होनेमात्र से ही जैनधर्म अच्छा नहीं हो जाता किन्तु जो परिस्थिति है उसका यथार्थरूप से निरूपण जरूरी होने से ही यह कह रहे हैं कि जैनधर्म वेद के विरोध में खड़ा होनेवाला नया धर्म नहीं है। अन्य विद्वानों का अनुसरण करके हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि भारत के बाहरी प्रदेश में रहनेवाले आर्य लोग जब भारत में आये तब जिस धर्म से भारत में उनकी टक्कर हुई थी उस धर्म का ही विकसित रूप जैनधर्म है—ऐसा अधिक संभव है। यदि वेद से ही इस धर्म का विकास होता या केवल वैदिकधर्म का विरोध ही करना होता तो जैसे अन्य वैदिको ने वेद का प्रामाण्य मानकर ही वेदविरोधी बातों का प्रवर्तन कर दिया, जैसे उपनिषद् के ऋषियों ने, वैसे ही जैनधर्म में भी होता किन्तु ऐसा नहीं हुआ है, ये तो नास्तिक ही गिने गये—वेद निंदक ही गिने गये हैं—इन्होंने वेदप्रामाण्य कभी स्वीकृत किया ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में उसे वैदिकधर्म की शाखा नहीं गिना जा सकता। सत्य तो यह है कि वेद के माननेवाले आर्य जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़े हैं वैसे-वैसे वे भौतिकता से दूर हटकर आध्यात्मिकता में अग्रसर होते रहे हैं—ऐसा क्यों हुआ? इसके कारणों की जब खोज की जाती है तब यही फलित होता है कि वे जैसे-जैसे संस्कारी प्रजा के प्रभाव में आये है वैसे-वैसे उन्होंने अपना रवैया बदला है—उसी बदलते हुए रवैये की गूंज उपनिषदों की रचना में देखी जा सकती है। उपनिषदों में कई वेद-मान्यताओं का विरोध तो है फिर भी वे वेद के अंग बने और वेदान्त कहलाए,

वह एक ओर वेद का प्रभाव और दूसरी ओर नई सूझ का समन्वय ही तो है। वेद का अंग बनकर वेदान्त कहलाए और एक तरह से वेद का अन्त भी कर दिया। उपनिषद् बन जाने के बाद दार्शनिकों ने वेद को एक ओर रखकर उपनिषदों के सहारे ही वेद की प्रतिष्ठा बढ़ानी शुरू की। वेदभक्ति रही किन्तु निष्ठा तो उपनिषद् में ही बढ़ी। एक समय यह भी आया कि वेद की ध्वनिमात्र रह गई और अर्थ नदारद हो गया। उसके अर्थ का उद्धार मध्यकाल में हुआ भी तो वह वेदान्त के अर्थ को अग्रसर करके ही हुआ। आधुनिक काल में भी दयानंद जैसों ने भी यह साहस नहीं किया कि वेद के मौलिक हिंसा-प्रधान अर्थ की प्रतिष्ठा करें। वेद के ह्रास का यह कारण पूर्वभारत की प्रजा के संस्कारों में निहित है और जैनधर्म के प्रवर्तक महापुरुष जितने भी हुए हैं वे मुख्यरूप से पूर्वभारत की ही देन है। जब हम यह देखते हैं तो सहज ही अनुमान होता है कि पूर्वभारत का यह धर्म ही जैनधर्म के उदय का कारण हो सकता है जिसने वैदिक धर्म को भी नया रूप दिया और हिंसक तथा भौतिक धर्म को अहिंसा और आध्यात्मिकता का नया पाठ पढ़ाया।

अब तक पश्चिमी विद्वानों ने केवल वेद और वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था और जब तक सिंधुसंस्कृति को प्रकाश में लानेवाले खुदाई कार्य नहीं हुए थे तब तक—भारत में जो कुछ संस्कृति है उसका मूल वेद में ही होना चाहिए—ऐसा प्रतिपादन वे करते रहे। किन्तु जब से मोहेन-जोदारो और हरप्पा की खुदाई हुई है तब से पश्चिम के विद्वानों ने अपना मत बदल दिया है और वेद के अलावा वेद से भी बढ़-चढ़कर वेदपूर्वकाल में भारतीय संस्कृति थी इस नतीजे पर पहुँचे हैं। और अब तो उस तथाकथित सिंधुसंस्कृति के अवशेष प्रायः समग्र भारतवर्ष में दिखाई देते हैं—ऐसी परिस्थिति में भारतीय धर्मों के इतिहास को उस नये प्रकाश में देखने का प्रारंभ पश्चिमीय और भारतीय विद्वानों ने किया है और कई विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जैनधर्म वैदिकधर्म से स्वतंत्र है। वह उसकी शाखा नहीं है और न वह केवल उसके विरोध में ही खड़ा हुआ है।

प्राचीन यति—मुनि—श्रमण :

मोहेन-जोदारो में और हरप्पा में जो खुदाई हुई उसके अवशेषों का अध्ययन करके विद्वानों ने उसकी संस्कृति को सिन्धुसंस्कृति नाम दिया था और खुदाई में सबसे निम्नतर में मिलने वाले अवशेषों को वैदिक संस्कृति से भी प्राचीन संस्कृति के अवशेष हैं—ऐसा प्रतिपादन किया था। सिन्धुसंस्कृति के समान ही संस्कृति

के अवशेष अब तो भारत के कई भागों में मिले हैं—उसे देखते हुए उस प्राचीन संस्कृति का नाम सिन्धुसंस्कृति अव्याप्त हो जाता है। वैदिक संस्कृति यदि भारत के बाहर से आने वाले आर्यों की संस्कृति है तो सिन्धुसंस्कृति का यथार्थ नाम भारतीय संस्कृति ही हो सकता है।

अनेक स्थलों में होनेवाली खुदाई में जो नाना प्रकार की मोहरें मिली हैं उन पर कोई न कोई लिपि में लिखा हुआ भी मिला है। वह लिपि संभव है कि चित्रलिपि हो। किन्तु दुर्भाग्य है कि उस लिपि का यथार्थ वाचन अभी तक हो नहीं पाया है। ऐसी स्थिति में उसकी भाषा के विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं है। और वे लोग अपने धर्म को क्या कहते थे, यह किसी लिखित प्रमाण से जानना संभव नहीं है। किन्तु अन्य जो सामग्री मिली है उस पर से विद्वानों का अनुमान है कि उस प्राचीन भारतीय संस्कृति में योग को अवश्य स्थान था। यह तो हम अच्छी तरह से जानते हैं कि वैदिक आर्यों में वेद और ब्राह्मणकाल में योग की कोई चर्चा नहीं है। उनमें तो यज्ञ को ही महत्त्व का स्थान मिला हुआ है। दूसरी ओर जैन-बौद्ध में यज्ञ का विरोध था और योग का महत्त्व। ऐसी परिस्थिति में यदि जैनधर्म को तथाकथित सिन्धुसंस्कृति से भी संबद्ध किया जाय तो उचित होगा।

अब प्रश्न यह है कि वेदकाल में उनका नाम क्या रहा होगा ? आर्यों ने जिनके साथ युद्ध किया उन्हें दास, दस्यु जैसे नाम दिये हैं। किन्तु उससे हमारा काम नहीं चलता। हमें तो वह शब्द चाहिए जिससे उस संस्कृति का बोध हो जिसमें योगप्रक्रिया का महत्त्व हो। ये दास-दस्यु पुर में रहते थे और उनके पुरों का नाश करके आर्यों के मुखिया इन्द्र ने पुरन्दर की पदवी को प्राप्त किया। उसी इन्द्र ने यतियों और मुनियों की भी हत्या की है—ऐसा उल्लेख मिलता है (अथर्व० २. ५. ३)। अधिक संभव यही है कि ये मुनि और यति शब्द उन मूल भारत के निवासियों की संस्कृति के सूचक है और इन्ही शब्दों की विशेष प्रतिष्ठा जैनसंस्कृति में प्रारंभ से देखी भी जाती है। अतएव यदि जैनधर्म का पुराना नाम यतिधर्म या मुनिधर्म माना जाय तो इसमें आपत्ति को बात न होगी। यति और मुनिधर्म दीर्घकाल के प्रवाह में बहता हुआ कई शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया था। यही हाल वैदिकों का भी था। प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रों में धर्मों के विविध प्रवाहों को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो विभागों में बांटा गया है। इनमें ब्राह्मण तो वे हैं जो वैदिक संस्कृति के अनुयायी हैं और शेष सभी का समावेश श्रमणों में होता था। अतएव इस

दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भ० महावीर और बुद्ध के समय में जैनधर्म का समावेश श्रमणवर्ग में था।

ऋग्वेद (१०.१३६.२) में 'वातरशना मुनि' का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ है नग्न मुनि। और आरण्यक में आकर तो श्रमण और 'वातरशना' का एकीकरण भी उल्लिखित है। उपनिषद् में तापस और श्रमणों को एक बताया गया है (बृहदा० ४.३.२२)। इन सबका एक साथ विचार करने पर श्रमणों की तपस्या और योग की प्रवृत्ति ज्ञात होती है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और यति भी ये ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से भी जैनधर्म का संबंध श्रमण-परंपरा से सिद्ध होता है और इस श्रमण-परंपरा का विरोध वैदिक या ब्राह्मण-परंपरा से चला आ रहा है, इसकी सिद्धि उक्त वैदिक तथ्य से होती है कि इन्द्र ने यतियों और मुनियों की हत्या की तथा पतंजलि के उस वक्तव्य से भी होती है जिसमें कहा गया है कि श्रमण और ब्राह्मणों का शाश्वतिक विरोध है (पातंजल महाभाष्य ५.४.६)। जैनशास्त्रों में पांच प्रकार के श्रमण गिनाए हैं उनमें एक निर्ग्रन्थ श्रमण का प्रकार है—यही जैनधर्म के अनुयायी श्रमण हैं। उनका बौद्धग्रन्थों में निर्ग्रन्थ नाम से परिचय कराया गया है—इससे इस मत की पुष्टि होती है कि जैन मुनि या यति को भ० बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थ कहा जाता था और वे श्रमणों के एक वर्ग में थे।

सारांश यह है कि वेदकाल में जैनों के पुरखे मुनि या यति में शामिल थे। उसके बाद उनका समावेश श्रमणों में हुआ और भगवान् महावीर के समय वे निर्ग्रन्थ नाम से विशेषरूप से प्रसिद्ध थे। जैन नाम जैनों की तरह बौद्धों के लिए भी प्रसिद्ध रहा है क्योंकि दोनो में जिन की आराधना समानरूप से होती थी। किन्तु भारत से बौद्धधर्म के प्रायः लोप के बाद केवल महावीर के अनुयायियों के लिए जैन नाम रह गया जो आज तक चालू है।

तीर्थंकरों की परंपरा :

जैन-परंपरा के अनुसार इस भारतवर्ष में कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त है। प्रत्येक में छः आरे होते हैं। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था। अवसर्पिणी के समाप्त होने पर पुनः उत्सर्पिणी कालचक्र शुरू होगा। इस प्रकार अनादिकाल से यह कालचक्र चल रहा है और अनन्तकाल तक चलेगा। उत्सर्पिणी में सभी भाव उत्पत्ति को प्राप्त होते हैं और अवसर्पिणी में ह्रास को। किन्तु दोनों में तीर्थंकरों का जन्म होता है। उनकी

संख्या प्रत्येक में २४ की मानी गई है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी में अबतक २४ तीर्थंकर हो चुके हैं। अंतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव। इन दोनों के बीच का अन्तर असंख्य वर्ष है। अर्थात् जैन-परंपरा के अनुसार ऋषभदेव का समय भारतीय ज्ञात इतिहासकाल में नहीं आता। उनके अस्तित्वकाल की यथार्थता सिद्ध करने का हमारे पास कोई साधन नहीं। अतएव हम उन्हें पौराणिक काल के अन्तर्गत ले सकते हैं। उनकी अवधि निश्चित नहीं करते। किन्तु ऋषभदेव का चरित्र जैनपुराणों में वर्णित है और उसमें जो समाज का चित्रण है वह ऐसा है कि उसे हम संस्कृति का उषःकाल कह सकते हैं। उस समाज में राजा नहीं था, लोगों को लिखना-पढ़ना, खेती करना और हथियार चलाना नहीं आता था। समाज में अभी सुसंस्कृत लग्नप्रथा ने प्रवेश नहीं किया था। भाई-बहन पति-पत्नी की तरह व्यवहार करते और संतानोत्पत्ति होती थी। इस समाज को सुसंस्कृत बनाने का प्रारंभ ऋषभदेव ने किया।

यहाँ हमें ऋग्वेद के यम-यमी संवाद की याद आती है। उसमें यमी जो यम की बहन है वह यम के साथ संभोग की इच्छा करती है किन्तु यम ने नहीं माना, और दूसरे पुरुष की तलाश करने को कहा। उससे यह झलक मिलती है कि भाई-बहन का पति-पत्नी होकर रहना किसी समय समाज में जायज था किन्तु उस प्रथा के प्रति ऋग्वेद के समय में अरुचि स्पष्ट है। ऋग्वेद का समाज ऋषभदेवकालीन समाज से आगे बढ़ा हुआ है—इसमें संदेह नहीं है। कृषि आदि का उस समाज में प्रचलन स्पष्ट है। इस दृष्टि से देखा जाय तो ऋषभदेव के समाज का काल ऋग्वेद से भी प्राचीन हो जाता है। कितना प्राचीन, यह कहना संभव नहीं अतएव उसकी चर्चा करना निरर्थक है। जिस प्रकार जैन शास्त्रों में राजपरंपरा की स्थापना की चर्चा है और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की व्यवस्था है वैसे ही काल की दृष्टि से उन्नति और ह्रास का चित्र तथा राजपरंपरा की स्थापना का चित्र बौद्धपरंपरा में भी मिलता है। इसके लिए दीघनिकाय के चक्कवत्तिसुत्त (भाग ३, पृ० ४६) तथा अग्गञ्ञसुत्त (भाग ३, पृ० ६३) देखना चाहिए। जैनपरंपरा के कुलकरों की परंपरा में नाभि और उनके पुत्र ऋषभ का जो स्थान है करीब वैसा ही स्थान बौद्धपरंपरा में महासंमत का है (अग्गञ्ञसुत्त-दीघ० का) और सामयिक परिस्थिति भी दोनों में करीब-करीब समानरूप से चित्रित है। संस्कृति के विकास का उसे प्रारंभ काल कहा जा सकता है। ये सब वर्णन पौराणिक हैं, यही उसकी प्राचीनता में प्रबल प्रमाण माना जा सकता है।

हिन्दु पुराणों में ऋषभचरित ने स्थान पाया है और उनके माता-पिता मरुदेवी और नाभि के नाम भी वही हैं जैसा जैनपरंपरा मानती है और उनके त्याग और तपस्या का भी वही रूप है जैसा जैनपरंपरा में वर्णित है। और आश्चर्य तो यह है कि उनको वेदविरोधी मान कर भी विष्णु के अवताररूप से बुद्ध की तरह माना गया है।[१] यह इस बात का प्रमाण है कि ऋषभ का व्यक्तित्व प्रभावक था और जनता में प्रतिष्ठित भी। ऐसा न होता तो वैदिक परंपरा में तथा पुराणों में उनको विष्णु के अवतार का स्थान न मिलता। जैनपरंपरा में तो उनका स्थान प्रथम तीर्थंकर के रूप में निश्चित किया गया है। उनकी साधना का क्रम यज्ञ न होकर तपस्या है—यह इस बात का प्रमाण है कि वे श्रमण-परंपरा से मुख्यरूप से संबद्ध थे। श्रमणपरंपरा में यज्ञ द्वारा देव में नहीं किन्तु अपने कर्म द्वारा अपने में विश्वास मुख्य है।

पं० श्री कैलाशचन्द्र ने शिव और ऋषभ के एकीकरण की जो संभावना प्रकट की है और जैन तथा शैव धर्म का मूल एक परंपरा में खोजने का जो प्रयास किया है[२] वह सर्वमान्य हो या न हो किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषभ का व्यक्तित्व ऐसा था जो वैदिकों को भी आकर्षित करता था और उनको प्राचीनकाल से ऐसी प्रसिद्धि रही जिसकी उपेक्षा करना संभव नहीं था। अतएव ऋषभ-चरित ने एक या दूसरे प्रसंग से वेदों से लेकर पुराणों और अंत में श्रीमद्भागवत में भी विशिष्ट अवतारों में स्थान प्राप्त किया है। अतएव डा. जेकोबी ने भी जैनों की इस परंपरा में कि जैनधर्म का प्रारंभ ऋषभदेव से हुआ है—सत्य की संभावना मानी है।[३]

डा. राधाकृष्णन् ने यजुर्वेद में ऋषभ, अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख होने की बात कही है किन्तु डा० शुब्रिंग मानते हैं कि वैसी कोई सूचना उसमें नहीं है।[४] पं. श्री कैलाशचन्द्र ने[५] डा० राधाकृष्णन् का समर्थन किया है। किन्तु इस विषय में निर्णय के लिए अधिक गवेषणा की आवश्यकता है।

---

१. History of Dharmaśāstra, Vol V. part II. p, 995; जैन साहित्य का इतिहास—पूर्वपीठिका, पृ० १२०.

२. जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० १०७.

३. देखिये—जै० सा० इ० पू०, पृ० ५

४. डॉक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० २७, टि. २.

५. जै० सा० इ० पू०, पृ० १०८.

एक ऐसी भी मान्यता विद्वानों में प्रचलित है[1] कि जैनों ने अपने २४ तीर्थंकरों की नामावलि की पूर्ति प्राचीनकाल में भारत में प्रसिद्ध उन महापुरुषों के नामों को लेकर की है जो जैनधर्म को अपनानेवाले विभिन्न वर्गों के लोगों में मान्य थे। इस विषय में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ये महापुरुष यज्ञों की—हिंसक यज्ञों की प्रतिष्ठा करनेवाले नहीं थे किन्तु करुणा की और त्याग-तपस्या की तथा आध्यात्मिक साधना की प्रतिष्ठा करनेवाले थे—ऐसा माना जाय तो इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं हो सकती।

जैनपरंपरा में ऋषभ से लेकर भ० महावीर तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं उनमें से कुछ ही का निर्देश जैनेतर शास्त्रों में है। तीर्थंकरों की जो कथाएं जैनपुराणों में दी गई हैं उनमें ऐसी कथाएं भी हैं जो अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु नामान्तरों से। अतएव उनपर विशेष विचार न करके यहां उन्हीं तीर्थंकरों पर विशेष विचार करना है जिनका नामसाम्य अन्यत्र उपलब्ध है या जिनके विषय में बिना नाम के भी निश्चित प्रमाण मिल सकते हैं।

बौद्ध अंगुत्तरनिकाय में पूर्वकाल में होनेवाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरों की बात भगवान् बुद्ध ने कही है—"भूतपुब्बं भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो ··· मुगपक्ख ···अरनेमि··· कुद्दालक··· हत्थिपाल······जोतिपाल ··· अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन, भिक्खवे, सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसुं" (भाग ३. पृ० २५६-२५७)।

इसी प्रसंग में अरकसुत्त में अरक का उपदेश कैसा था, यह भी भ० बुद्धने वर्णित किया है। उनका उपदेश था कि "अप्पकं जीवितं मनुस्सानं परित्तं, लहुकं बहुदुक्खं बहुपायासं मन्तयं बोद्धब्बं, कत्तब्बं कुसलं, चरितब्बं ब्रह्मचरियं, नत्थि जातस्स अमरणं" (पृ० २५७)। और मनुष्यजीवन की इस नश्वरता के लिए उपमा दी है कि सूर्य के निकलने पर जैसे तृणाग्र में स्थित (घास आदि पर पड़ा) ओसबिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाता है वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी शीघ्र मरणाधीन होता है। इस प्रकार इस ओसबिन्दु की उपमा के अलावा पानी के बुद्बुद और पानी में दंडराजी आदि का भी उदाहरण देकर जीवन की क्षणिकता बताई गई है (पृ० २५८)।

अरक के इस उपदेश के साथ उत्तराध्ययनगत 'समयं गोयम मा पमायए' उपदेश तुलनीय है (उत्तरा. अ. १०)। उसमें भी जीवन की क्षणिकता

१. Doctrine of the Jainas, p. 28.

के ऊपर भार दिया गया है और अप्रमादी बनने को कहा गया है। उसमें भी कहा है—

> कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
> एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥

अरक के समय के विषय में भ० बुद्ध ने कहा है कि अरक तीर्थंकर के समय में मनुष्यों की आयु ६० हजार वर्ष की होती थी, ५०० वर्ष की कुमारिका पति के योग्य मानी जाती थी। उस समय के मनुष्यों को केवल छः प्रकार की पीड़ा होती थी—शीत, उष्ण, भूख, तृषा, पेशाब करना और मलोत्सर्ग करना। इनके अलावा कोई रोगादि की पीड़ा न होती थी। इतनी बड़ी आयु और इतनी कम पीड़ा फिर भी अरक का उपदेश जीवन की नश्वरता का और जीवन में बहुदुःख का था।

भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित इस अरक तीर्थंकर की बात का अठारहवें जैन तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठ सकता है या नहीं, यह विचारणीय है। जैनशास्त्रों के आधार से अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके बाद होनेवाली मल्ली तीर्थंकर की आयु ५५ हजार वर्ष है। अतएव पौराणिक दृष्टि से विचार किया जाय तो अरक का समय अर और मल्ली के बीच ठहरता है। इस आयु के भेद को न माना जाय तो इतना कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान् व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल में हुआ था जिन्हें बौद्ध और जैन दोनों ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थंकर हुए हैं। बुद्ध के बताये गये अरनेमि और जैन तीर्थंकर अर का भी कुछ संबंध हो सकता है। नामसाम्य आंशिक रूप से है ही और दोनों की पौराणिकता भी मान्य है।

बौद्ध थेरगाथा में एक अजित थेर के नाम से गाथा है—

> "मरणे मे भयं नत्थि निकन्ति नत्थि जीविते।
> सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो॥"

—थेरगाथा १.२०

उसकी अट्ठकथा में कहा गया है कि ये अजित ९१ कल्प के पहले प्रत्येकबुद्ध हो गये हैं। जैनों के दूसरे तीर्थंकर अजित और ये प्रत्येकबुद्ध अजित [illegible] और नाम के अलावा पौराणिकता में भी साम्य रखते हैं। महाभारत में अजित और शिव का ऐक्य वर्णित है। बौद्धों के, महाभारत के और जैनों के अजित एक हैं

या भिन्न, यह कहना कठिन है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि अजित नामक व्यक्ति ने प्राचीनकाल में प्रतिष्ठा पाई थी।

बौद्धपिटक में निग्गन्थ नातपुत्त का कई बार नाम आता है और उनके उपदेश की कई बातें ऐसी हैं जिससे निग्गन्थ नातपुत्त की ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर से अभिन्नता सिद्ध होती है। इस विषय में सर्वप्रथम डा० जेकोबी ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था और अब तो यह बात सर्वमान्य हो गई है। डॉ. जेकोबी ने बौद्धपिटक से ही भ० पार्श्वनाथ के अस्तित्व को भी साबित किया है। भ० महावीर के उपदेशों में बौद्धपिटकों में बारबार उल्लेख आता है कि उन्होंने चतुर्याम का उपदेश दिया है। डॉ. जेकोबी ने इस परसे अनुमान लगाया है कि बुद्ध के समय में चतुर्याम का पार्श्वनाथ द्वारा दिया गया उपदेश जैसा कि स्वयं जैनधर्म की परंपरा में माना गया है, प्रचलित था। भ० महावीर ने उस चतुर्याम के स्थान में पाँच महाव्रत का उपदेश दिया था। इस बात को बुद्ध जानते न थे। अतएव जो पार्श्वका उपदेश था उसे महावीर का उपदेश कहा गया। बौद्धपिटक के इस गलत उल्लेख से जैन परंपरा को मान्य पार्श्व और उनके उपदेश का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार बौद्धपिटक से हम पार्श्वनाथ के अस्तित्व के विषय में प्रबल प्रमाण पाते हैं।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेषनामों का कोष बनाया है। उसके देखने से पता चलता है कि सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम ऐसे हैं जो तीर्थंकरों के नामों से साम्य रखते हैं। विशेष बात यह भी ध्यान देने की है कि ये तीनों ही असुर हैं। और यह भी हम जानते हैं कि पौराणिक मान्यता के अनुसार अर्हतो ने जो जैनधर्म का उपदेश दिया है वह विशेषतः असुरों के लिए था। अर्थात् वैदिक पौराणिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरों का धर्म है। ईश्वर के अवतारों में जिस प्रकार ऋषभ को अवतार माना गया है उसी प्रकार सुपार्श्व को महाभारत में कुपथ नामक असुर का अंशावतार माना गया है। चन्द्र को भी अंशावतार माना गया है। सुमति नामक असुर के लिए कहा गया है कि वरुणप्रासाद में उनका स्थान दैत्यों और दानवों में था। तथा एक अन्य सुमति नाम के ऋषि का भी महाभारत में उल्लेख है जो भीष्म के समकालीन बताए गए हैं।

जिस प्रकार भागवत में ऋषभ को विष्णु का अवतार माना गया है उसी प्रकार अवतार के रूप में तो नहीं किन्तु विष्णु और शिव के जो सहस्रनाम महाभारत में दिये गये हैं उनमें श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव—ये नाम विष्णु के भी हैं और ऐसे ही नाम जैन तीर्थंकरों के भी मिलते हैं। सहस्रनामों

के अभ्यास से यह पता चलता है कि पौराणिक महापुरुषों का अभेद विष्णु से और शिव से करना—यह भी उसका एक प्रयोजन था। प्रस्तुत में इन नामों से जैन तीर्थंकर अभिप्रेत हैं या नहीं, यह विचारणीय है। शिव के नामों में भी अनन्त, धर्म, अजित, ऋषभ—ये नाम आते हैं जो तत्तत् तीर्थंकरों के नाम भी हैं।

शान्ति विष्णु का भी नाम है, यह कहा ही गया है। महाभारत के अनुसार उस नाम के एक इन्द्र और ऋषि भी हुए हैं। इनका संबन्ध शान्ति नामक जैन तीर्थंकर से है या नहीं, यह विचारणीय है। बीसवें तीर्थंकर के नाम मुनिसुव्रत में मुनि को सुव्रत का विशेषण माना जाय तो सुव्रत नाम ठहरता है। महाभारत में विष्णु और शिव का भी एक नाम सुव्रत मिलता है। नामसाम्य के अलावा जो इन महापुरुषों का संबंध असुरों से जोड़ा जाता है वह इस बात के लिए तो प्रमाण बनता ही है कि ये वेदविरोधी थे। उनका वेदविरोधी होना उनके श्रमणपरंपरा से संबद्ध होने की संभावना को दृढ़ करता है।

आगमों का वर्गीकरण :

सांप्रतकाल में आगम रूप से जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं और मान्य हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है। उनका वर्गीकरण करके यह सूची दी है क्योंकि प्रायः उसी रूप में वर्गीकरण सांप्रतकाल में मान्य है[1]—

११ अंग—जो श्वेताम्बरों के सभी संप्रदायों को मान्य हैं वे हैं—

१ आयार (आचार), २ सूयगड (सूत्रकृत), ३ ठाण (स्थान), ४ समवाय, ५ वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६ नायाधम्मकहाओ (ज्ञात-धर्मकथाः), ७ उवासगदसाओ (उपासकदशाः), ८ अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), ९ अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशाः), १० पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११ विवागसुयं (विपाकश्रुतम्) (१२ दृष्टिवाद, जो विच्छिन्न हुआ है)।

१२ उपांग—जो श्वेताम्बरों के तीनों संप्रदायों को मान्य हैं—

१ उववाइयं (औपपातिकं), २ रायपसेणइज्जं (राजप्रसेनजित्कं) अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीयं), ३ जीवाजीवाभिगम, ४ पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५ सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), ६ जंबुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), ७ चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८-१२ निरयावलियासुयक्खंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध) : ८ निरयावलियाओ (निरयावलिकाः), ९ कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिकाः),

१. विशेष विस्तृत चर्चा के लिए देखिए—प्रो० कापडिया का ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २.

१० पुप्फियाओ (पुष्पिकाः), ११ पुप्फचूलाओ (पुष्पचूलाः), १२ वण्हिदसाओ (वृष्णिदशाः)।

१० प्रकीर्णक—जो केवल श्वे० मूर्तिपूजक संप्रदाय को मान्य हैं—

१ चउसरण (चतुःशरण), २ आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३ भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४ संथार (संस्तार), ५ तंडुलवेयालिय (तंडुल वैचारिक), ६ चंदवेज्झय (चन्द्रवेध्यक), ७ देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८ गणिविज्जा (गणिविद्या), ९ महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), १० वीरत्थय (वीरस्तव)।

६ छेद—१ आयारदसा अथवा दसा (आचारदशा), २ कप्प (कल्प[1]), ३ ववहार (व्यवहार), ४ निसीह (निशीथ), ५ महानिसीह (महानिशीथ), ६ जीयकप्प (जीतकल्प)। इनमें से अंतिम दो स्था० और तेरापंथी को मान्य नहीं हैं।

२ चूलिकासूत्र—१ नन्दी, २ अणुयोगदारा (अनुयोगद्वाराणि)।

४ मूलसूत्र—१ उत्तरज्झाया (उत्तराध्यायाः), २ दसवेयालिय (दशवैकालिक), ३ आवस्सय (आवश्यक), ४ पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)। इनमें से अंतिम स्था० और तेरा० को मान्य नहीं है।

यह जो गणना दी गई है उसमें एक के बदले कभी-कभी दूसरा भी आता है, जैसे पिण्डनिर्युक्ति के स्थान में ओघनिर्युक्ति। दशप्रकीर्णकों में भी नामभेद देखा जाता है। छेद में भी नामभेद है। कभी-कभी पंचकल्प को इस वर्ग में शामिल किया जाता है।[2]

प्राचीन उपलब्ध आगमों में आगमों का जो परिचय दिया गया है उसमें यह पाठ है—"इह खलु समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं ... इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते, तं जहा—आयारे सूयगडे ठाणे समवाए वियाहपन्नत्ति नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अंतगडदसाओ अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हावागरणं विवागसुए दिट्ठिवाए। तत्थ णं जे से चउत्थे अंगे समवाए त्ति आहिए तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते" (समवाय अंग का प्रारंभ)।

---

१. दशाश्रुत में से पृथक् किया गया एक दूसरा कल्पसूत्र भी है। उसके नामसाम्य से भ्रम उत्पन्न न हो इसलिए इसका दूसरा नाम बृहत्कल्प रखा गया है।

२. देखिए—कापडिया—ए हिस्ट्री ऑफ दी कैनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २.

समवायांग मूल में जहाँ १२ संख्या का प्रकरण चला है वहाँ द्वादशांग का परिचय न देकर एक कोटि समवाय के बाद वह दिया है। वहाँ का पाठ इस प्रकार प्रारंभ होता है—"दुवालसंगे गणिपिडगे पन्नत्ते, तं जहा–आयारे⋯ दिट्ठिवाए। से कं तं आयारे? आयारे णं समणाणं⋯⋯"इत्यादि क्रम से एक-एक का परिचय दिया है। परिचय में "अंगट्ठयाए पढमे⋯⋯अंगट्ठयाए दोच्चे⋯⋯"इत्यादि देकर द्वादश अंगों के क्रम को भी निश्चित कर दिया है। परिणाम यह हुआ कि जहाँ कहीं अंगों की गिनती की गई, पूर्वोक्त क्रम का पालन किया गया। अन्य वर्गों में जैसा व्युत्क्रम दीखता है वैसा द्वादशांगों के क्रम में नहीं देखा जाता।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि "तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते"(समवाय का प्रारंभ) और "अंगट्ठयाए पढमे"—इत्यादि में 'अट्ठ' (अर्थ) शब्द का प्रयोग किया है वह विशेष प्रयोजन से है। जो यह परंपरा स्थिर हुई है कि 'अत्थं भासइ अरहा' (आवनि० १९२)—उसी के कारण प्रस्तुत में 'अट्ठ'—'अर्थ' शब्द का प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थरचना--शब्द-रचना तीर्थंकर भ० महावीर की नहीं है किन्तु उपलब्ध आगम में जो ग्रन्थ-रचना है, जिन शब्दों में यह आगम उपलब्ध है उससे फलित होनेवाला अर्थ या तात्पर्य भगवान् द्वारा प्रणीत है। ये ही शब्द भगवान् के नहीं हैं किन्तु इन शब्दों का तात्पर्य जो स्वयं भगवान् ने बताया था उससे भिन्न नहीं है। उन्हीं के उपदेश के आधार पर "सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं" (आवनि० १९२)—गणधर सूत्रों की रचना करते हैं।' सारांश यह है कि उपलब्ध अंग आगम की रचना गणधरों ने की है—ऐसी परंपरा है। यह रचना गणधरों ने अपने मन से नहीं की किन्तु भ० महावीर के उपदेश के आधार पर की है अतएव ये आगम प्रमाण माने जाते हैं।

तीसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि इन द्वादश ग्रन्थों को 'अंग' कहा गया है। इन्हीं द्वादश अंगों का एक वर्ग है जिनका गणिपिटक के नाम से परिचय दिया गया है। गणिपिटक में इन बारह के अलावा अन्य आगम ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है इससे यह भी सूचित होता है कि मूलरूप से आगम ये ही थे और इन्हीं की रचना गणधरों ने की थी।

'गणिपिटक' शब्द द्वादश अंगों के समुच्चय के लिए तो प्रयुक्त हुआ ही है किन्तु वह प्रत्येक के लिए भी प्रयुक्त होता होगा ऐसा समवायांग के एक उल्लेख से प्रतीत होता है—"तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलिया वज्जाणं

सत्तावन्नं अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा-आयारे सूयगडे ठाणे।"—समवाय ५७वां। अर्थात् आचार आदि प्रत्येक की जैसे अंग संज्ञा है वैसे ही प्रत्येक की 'गणिपिटक' ऐसी भी संज्ञा थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में 'अंग' (वेदांग) संज्ञा संहिताएं, जो प्रधान वेद थे, उनसे भिन्न कुछ ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त है। और वहाँ 'अंग' का तात्पर्य है वेदों के अध्ययन में सहायभूत विविध विद्याओं के ग्रन्थ। अर्थात् वैदिकवाङ्मय में 'अंग' का तात्पर्यार्थ मौलिक नहीं किन्तु गौण ग्रन्थों से है। जैनों में 'अंग' शब्द का यह तात्पर्य नहीं है। आचार आदि अंग ग्रन्थ किसी के सहायक या गौण ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु इन्हीं बारह ग्रन्थों से बननेवाले एक वर्ग की इकाई होने से 'अंग' कहे गये हैं[1] इसमें सन्देह नहीं। इसीसे आगे चलकर श्रुतपुरुष[2] की कल्पना की गई और इन द्वादश अंगों को उस श्रुतपुरुष के अंगरूप से माना गया।

अधिकांश जैनतीर्थंकरों की परंपरा पौराणिक होने पर भी उपलब्ध समग्र जैनसाहित्य का जो आदि स्रोत समझा जाता है वह जैनागमरूप अंगसाहित्य वेद जितना पुराना नही है, यह मानी हुई बात है। फिर भी उसे बौद्धपिटक का समकालीन तो माना जा सकता है।[3]

डा० जेकोबी आदि का तो कहना है कि समय की दृष्टि से जैनागम का रचना-समय जो भी माना जाय किन्तु उसमें जिन तथ्यों का संग्रह है वे तथ्य ऐसे नहीं हैं जो उसी काल के हों। ऐसे कई तथ्य उसमें संगृहीत हैं जिनका संबंध प्राचीन पूर्वपरंपरा से है।[4] अतएव जैनागमों के समय का विचार करना हो तब विद्वानों की यह मान्यता ध्यान में अवश्य रखनी होगी।

जैनपरंपरा के अनुसार तीर्थंकर भले ही अनेक हों किन्तु उनके उपदेश में साम्य होता है[5] और तत्तत्काल में जो भी अंतिम तीर्थंकर हों उन्हीं का उपदेश

---

१ Doctrine of the Jainas, p, 73.

२. नंदीचूर्णि, पृ० ४७; कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० २१.

३. "बौद्धसाहित्य जैनसाहित्य का समकालीन ही है"—ऐसा पं० कैलाशचन्द्र जब लिखते हैं तब इसका अर्थ यही हो सकता है। देखिये—जैन. सा. इ. पूर्वपीठिका, पृ० १७४.

४. Doctrine of the Jainas, p 15.

५. इसी दृष्टि से जैनागमों को अनादि-अनंत कहा गया है—"इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ च. भविस्सइ य, धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे"—नन्दी, सू० ५८; समवायांग, सू०, १४८.

और शासन विचार और आचार के लिए प्रजा में मान्य होता है। इस दृष्टि से भ. महावीर अंतिम तीर्थंकर होने से उन्हीं का उपदेश अंतिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरों का उपदेश उपलब्ध भी नहीं और यदि हो तब भी वह भ० महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया है—ऐसा मानना चाहिए।

प्रस्तुत में यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरों ने। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्ता भ० महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्ता गणधर हैं।[1] अनुयोगद्वारगत (सू० १४४, पृ० २१९) सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणंतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद हैं उनसे भी इसी का समर्थन होता है। भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके उपदेश का संवाद भ० पार्श्वनाथ के उपदेश से है। तथा यह भी शास्त्रों में कहा गया है कि पार्श्व और महावीर के आध्यात्मिक संदेश में मूलतः कोई भेद नहीं है। कुछ बाह्याचार में भले ही भेद दीखता हो।[2]

जैन परंपरा में आज शास्त्र के लिए 'आगम' शब्द व्यापक हो गया है किन्तु प्राचीन काल में वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था।[3] इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि आगमकेवली या सूत्रकेवली। और स्थविरों की गणना में भी श्रुतस्थविर[4] को स्थान मिला है वह भी 'श्रुत' शब्द की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायों का संग्रह कर दिया है वह इस प्रकार है[5]—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमें से आज 'आगम'[6] शब्द ही विशेषतः प्रचलित है।

समवायांग आदि आगमों से मालूम होता है कि सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया था उसकी संकलना 'द्वादशांगो' में हुई और वह 'गणिपिटक' इसलिए

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १९२; धवला भा० १, पृ० ६४ तथा ७२.

२. Doctrine of the Jainas, p. 29.

३. नन्दी, सू० ४१. ४. स्थानांग, सू० १५९. ५. तत्त्वार्थभाष्य, १. २०.

६. सर्वप्रथम अनुयोगद्वार सूत्र में लोकोत्तर आगम में द्वादशांग गिणिपिटक का समावेश किया है और आगम के कई प्रकार के भेद किये हैं—सू० १४४, पृ०. २१८.

कहलाया कि गरिग के लिए वही श्रुतज्ञान का भंडार था।[1]

समय के प्रवाह में आगमों की संख्या बढ़ती ही गई जो ८५ तक पहुँच गई है। किन्तु सामान्य तौर पर श्वेताम्बरों में मूर्तिपूजक संप्रदाय में वह ४५ और स्थानकवासी तथा तेरापंथ में ३२ संख्या में सीमित है। दिगम्बरों में एक समय ऐसा था जब वह संख्या १२ अंग और १४ अंगबाह्य = २६ में सीमित थी।[2] किन्तु अंगज्ञान की परंपरा वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष तक ही रही और उसके बाद वह आंशिक रूप से चलती रही—ऐसी दिगम्बर-परंपरा है।[3]

आगम की क्रमशः जो संख्यावृद्धि हुई उसका कारण यह है कि गणधरों के अलावा अन्य प्रत्येकबुद्ध महापुरुषों ने जो उपदेश दिया था उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगम में संनिविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार गणिपिटक के ही आधार पर मंदबुद्धि शिष्यों के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रन्थ बनाए थे उनका समावेश भी, आगम के साथ उनका अविरोध होने से और आगमार्थ की ही पुष्टि करनेवाले होने से, आगमों में कर लिया गया। अंत में संपूर्णदशपूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम में समाविष्ट इसलिए किये गये कि वे भी आगम को पुष्ट करने वाले थे और उनका आगम से विरोध इसलिए भी नहीं हो सकता था कि वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि होते थे। निम्न गाथा से इसी बात की सूचना मिलती है—

> सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
> सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च॥[4]
>
> —मूलाचार, ५. ८०

इससे कहा जा सकता है कि किसी ग्रन्थ के आगम में प्रवेश के लिए यह मानदंड था। अतएव वस्तुतः जब से दशपूर्वी नहीं रहे तब से आगम की संख्या

---

१. "दुवालसंगे गणिपिडगे"—समवायांग, सू० १ और १३६; नन्दी, सू० ४१ आदि।

२. जयधवला, पृ० २५; धवला, भा० १ पृ० ६६; गोम्मटसार—जीवकांड, गा० ३६७, ३६८. विशेष के लिए देखिए—आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २२—२७.

३. जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० ५२८, ५३७; ५३८ (इनमें सकलश्रुतज्ञान का विच्छेद उल्लिखित है। यह संगत नहीं जँचता)।

४. यही गाथा जयधवला में उद्धृत है—पृ० १५३. इसी भाव को व्यक्त करनेवाली गाथा संस्कृत में द्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति की टीका में पृ० ३ में उद्धृत की है।

में वृद्धि होना रुक गया होगा, ऐसा माना जा सकता है। किन्तु श्वेताम्बरों के आगमरूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो उस काल के बाद भी आगम में संमिलित कर लिये गये हैं। इसमें उन ग्रन्थों की निर्दोषता और वैराग्य भाव की वृद्धि में उनका विशेष उपयोग—ये ही कारण हो सकते हैं। या कर्ता आचार्य की उस काल में विशेष प्रतिष्ठा भी कारण हो सकती है।

जैनागमों की संख्या जब बढ़ने लगी तब उनका वर्गीकरण भी आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत संग्रह द्वादश 'अंग' या 'गणिपिटक' में था अतएव यह स्वयं एक वर्ग हो जाय और उससे अन्य का पार्थक्य किया जाय यह जरूरी था। अतएव आगमों का जो प्रथम वर्गीकरण हुआ वह अंग और अंगबाह्य इस आधार पर हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुयोग (सू० ३) के प्रारम्भ में 'अंगपविट्ठ' (अंगप्रविष्ट) और 'अंग-बाहिर' (अंगबाह्य) ऐसे श्रुत के भेद किये गये हैं। नन्दी (सू० ४४) में भी ऐसे ही भेद हैं। अंगबाहिर के लिये वहाँ 'अणंगपविट्ठ' शब्द भी प्रयुक्त है (सू० ४४ के अंत में)। अन्यत्र नंदी (सू० ३८) में ही 'अंगपविट्ठ' और 'अणंगपविट्ठ'—ऐसे दो भेद किये गए हैं।

इन अंगबाह्य ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'प्रकीर्णक' भी थी, ऐसा नन्दीसूत्र से प्रतीत होता है।[1] अंगशब्द को ध्यान में रख कर अंगबाह्य ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'उपांग' भी थी, ऐसा निरयावलिया सूत्र के प्रारंभिक उल्लेख से प्रतीत होता है और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कोई एक समय ऐसा था जब ये निरयावलियादि पाँच ही उपांग माने जाते होंगे।

समवायांग, नंदी, अनुयोग तथा पाक्षिकसूत्र के समय तक समग्र आगम के मुख्य विभाग दो ही थे—अंग और अंगबाह्य। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रभाष्य[2] से भी यही फलित होता है कि उनके समय तक भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे ही विभाग प्रचलित थे।

स्थानांग सूत्र (२७७) में जिन चार प्रज्ञप्तियों को अंगबाह्य कहा गया है वे हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति। इनमें से जंबू-

---

१. "एवमाइयाइं चउरासीइं पइण्णगसहस्साइं·········अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए·········चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ तस्स तत्तिआइं पइण्णगसहस्साइं·····"—नन्दी, सू० ४४.

२. तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, १. २०.

द्वीपप्रज्ञप्ति को छोड़ कर शेष तीन कालिक हैं—ऐसा भी उल्लेख स्थानांग (१५२) में है।

अंग के अतिरिक्त आचारप्रकल्प (निशीथ) (स्थानांग, सू० ४३३; समवायांग, २८), आचारदशा (दशाश्रुतस्कंध), बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षेपितदशा का भी स्थानांग (७५५) में उल्लेख है। किन्तु बन्धदशादि शास्त्र अनुपलब्ध हैं। टीकाकार के समय में भी यही स्थिति थी जिससे उनको कहना पड़ा कि ये कौन ग्रन्थ हैं, हम नहीं जानते। समवायांग में उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों के नाम दिये हैं (सम. ३६) तथा दशा-कल्प-व्यवहार इन तीन के उद्देशनकाल की चर्चा है। किन्तु उनको छेदसंज्ञा नहीं दी गई है।

प्रज्ञप्ति का एक वर्ग अलग होगा ऐसा स्थानांग से पता चलता है। कुवलयमाला (पृ० ३४) में अंगबाह्य में प्रज्ञापना के अतिरिक्त दो प्रज्ञप्तियों का उल्लेख है।

'छेद' संज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारंभ में कौन से शास्त्र संमिलित थे—यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम 'छेदसुत्त' का उल्लेख मिलता है। उससे प्राचीन उल्लेख अभी तक मिला नहीं है।[1] इससे अभी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के समय में छेदसुत्त का वर्ग पृथक् हो गया था।

कुवलयमाला जो ७-३-७७९ ई. में समाप्त हुई उसमें जिन नाना ग्रन्थों और विषयों का श्रमण चिंतन करते थे उनके कुछ नाम गिनाये हैं।[2] उसमें सर्वप्रथम आचार से लेकर दृष्टिवादपर्यंत[3] अंगों के नाम हैं। तदनन्तर प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति का उल्लेख है। तदनंतर ये गाथाएं हैं—

> अण्णाइ य गणहरभासियाइं सामण्णकेवलिकयाइं।
> पच्चेयसयंबुद्धेहि विरइयाइं गुणेंति महरिसिणो॥
> कत्थइ पंचावयवं दसह च्चिय साहणं परूवेंति।
> पच्चक्खमणुमाणपमाणचउक्कयं च अण्णे वियारेंति॥

१. आव० नि० ७७७; केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ३६ में उद्धृत।

२. कुवलयमाला, पृ० ३४.

३. विपाक का नाम इनमें नहीं आता, यह स्वयं लेखक की या लिपिकार की असावधानी के कारण है।

भवजलहिजाणवत्तं पेम्ममहारायणियलणिद्दलणं ।
कम्मट्ठगंठिवज्जं अण्णे धम्मं परिकहेंति ।।
मोहंधयाररविणो परवायकुरंगदरियकेसरिणो ।
णयसयखरणहरिल्ले अण्णे अह वाइणो तत्थ ।।
लोयालोयपयासं दूरंतरसण्हवत्थुपज्जोयं ।
केवलिसुत्तणिबद्धं णिमित्तमण्णे वियारंति ।।
णाणाजीवुप्पत्ती सुवण्णमणिरयणधाउसंजोयं ।।
जाणंति जणियजोणी जोणीणं पाहुडं अण्णे ।।
ललियवयणत्थसारं सव्वालंकारणिव्वडियसोहं ।
अमयप्पवाहमहुरं अण्णे कव्वं विइंतंति ।।
बहुतंतमंतविज्जावियाणया सिद्धजोयजोइसिया ।
अच्छंति अणुगुणेंता अवरे सिद्धंतसाराइं ।।

कुवलयमालागत इस विवरण में एक तो यह बात ध्यान देने योग्य है कि अंग के बाद अंगबाह्यों का उल्लेख है। उनमें अंगों के अलावा जिन आगमों के नाम हैं वे मात्र प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के हैं। इसके बाद गणधर, सामान्यकेवली, प्रत्येकबुद्ध और स्वयंसंबुद्ध के द्वारा भाषित या विरचित ग्रन्थों का सामान्य तौर पर उल्लेख है। वे कौन थे इसका नामपूर्वक उल्लेख नहीं है। दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि इसमें दशपूर्वीकृत ग्रन्थों का उल्लेख नहो है। गणधर का उल्लेख होने से श्रुतकेवली का उल्लेख सूचित होता है। दूसरी ओर कर्म, मन्त्र, तन्त्र, निमित्त आदि विद्याओं के विषय में उल्लेख है और योनिपाहुड का नामपूर्वक उल्लेख है। काव्यों का चिंतन भी मुनि करते थे यह भी बताया है। निमित्त को केवलीसूत्रनिबद्ध कहा गया है। कुवलयमाला के दूसरे उल्लेख से यह फलित होता है कि लेखक के मन में केवल आगम ग्रन्थों का ही उल्लेख करना अभीष्ट नहीं है। प्रज्ञापना आदि तीन अंगबाह्य ग्रन्थों का जो नामोल्लेख है वह अंगबाह्यों में उनकी विशेष प्रतिष्ठा का द्योतक है। धवला[1] जो ई. १०. ८१६ ई० को समाप्त हुई उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस काल तक आगम के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ऐसे दो विभाग थे।

किन्तु सांप्रतकाल में श्वेताम्बरों में आगमों का जो वर्गीकरण प्रसिद्ध है वह कब शुरू हुआ, या किसने शुरू किया—यह जानने का निश्चित साधन उपस्थित नहीं है।

---

१. धवला, पुस्तक १, पृ० ६६.

श्रीचन्द्र आचार्य (लेखनकाल ई० ११११२ से प्रारंभ) ने 'सुखबोधा सामाचारी' की रचना की है। उसमें उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का जो वर्णन किया है उससे पता चलता है कि उनके कालतक अंग और उपांग की व्यवस्था अर्थात् अमुक अंग का अमुक उपांग ऐसी व्यवस्था बन चुकी थी। पठनक्रम में सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र, तदनंतर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन के बाद आचार आदि अंग पढ़े जाते थे। सभी अंग एक ही साथ क्रम से पढ़े जाते थे ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रथम चार आचारांग से समवायांग तक पढ़ने के बाद निसीह, जीयकप्प, पंचकप्प, कप्प, ववहार और दसा[1] पढ़े जाते थे। निसीह आदि की यहाँ छेदसंज्ञा का उल्लेख नहीं है किन्तु इन सबको एक साथ रखा है यह उनके एक वर्ग की सूचना तो देता ही है। इन छेदग्रन्थों के अध्ययन के बाद नायधम्मकहा (छठा अंग), उवासगदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाइयदसा, पण्हावागरण और विपाक—इन अंगों की वाचना होती थी। विवाग के बाद एक पंक्ति में भगवई का उल्लेख है किन्तु यह प्रक्षिप्त हो—ऐसा लगता है क्योंकि वहाँ कुछ भी विवरण नहीं है (पृ० ३१)। इसका विशेष वर्णन आगे चलकर "गणिजोगेसु य पंचसंगं विवाहपन्नत्ति" (पृ० ३१) इन शब्दो से शुरू होता है। विपाक के बाद उवांग की वाचना का उल्लेख है। वह इस प्रकार है—उववाई, रायपसेणइय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरपन्नत्ति, जंबूदीवपन्नति, चन्दपन्नति। तीन पन्नत्तियों के विषय में उल्लेख है कि 'तओ पन्नतिओ कालिआओ संघट्टं च कीरइ'—(पृ. ३२)। तात्पर्य यह जान पड़ता है कि इन तीनों की तत्-तत् अंग की वाचना के साथ भी वाचना दी जा सकती है। शेष पाँच अंगों के लिए लिखा है कि "सेसाण पंचण्हमंगाणं मयंतरेण निरयावलिया सुयक्खंधो उवंगं।" (पृ. ३२)। इस निरयावलिया के पाँच वर्ग हैं—निरयावलिया, कप्पवडिंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हीदसा। इसके बाद 'इयाणि पइन्नगा' (पृ० ३२) इस उल्लेख के साथ नंदी, अनुयोगद्वार, देविन्दत्थअ, तंदुलवेयालिय, चंदावेज्झय, आउरपच्चक्खाण और गणिविज्जा का उल्लेख करके 'एवमाइया' लिखा है। इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रकीर्णक में उल्लिखित के अलावा अन्य भी थे। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि नन्दी और अनुयोगद्वार को सांप्रतकाल में प्रकीर्णक से पृथक् गिना जाता है किन्तु यहाँ उनका समावेश प्रकीर्णक में है। इस प्रकरण के

---

१. सुखबोधा सामाचारी में "निसीहं सम्मत्तं" ऐसा उल्लेख है और तदनन्तर जीयकप्प आदि से संबंधित पाठ के अंत में "कप्पववहारदसासुयक्खंधो सम्मत्तो"—ऐसा उल्लेख है। अतएव जीयकप्प और पंचकप्प की स्थिति संदिग्ध बनती है—पृ० ३०.

अंत में 'बाहिरजोगविहिसमत्तो' ऐसा लिखा है उससे यह भी पता चलता है कि उपांग और प्रकीर्णक दोनों की सामान्य संज्ञा या वर्ग अंगबाह्य था। इसके बाद भगवती की वाचना का प्रसंग उठाया है। यह भगवती का महत्त्व सूचित करता है। भगवती के बाद महानिसीह का उल्लेख है और उसका उल्लेख अन्य निसीहादि छेद के साथ नहीं है—इससे सूचित होता है कि वह बाद की रचना है। मतान्तर देने के बाद अंत में एक गाथा दी है जिससे सूचना मिलती है कि किस अंग का कौन उपांग है—

"उ० रा० जी० पन्नवणा सू० जं० चं० नि० क० क० पु० पु० वह्निदसनामा।
आयाराइउवंगा नायव्वा आणुपुव्वीए ॥"
—सुखबोधा सामाचारी, पृ० ३४.

श्रीचन्द्र के इस विवरण से इतना तो फलित होता है कि उनके समय तक अंग उपांग, प्रकीर्णक इतने नाम तो निश्चित हो चुके थे। उपांगों में कौन ग्रन्थ समाविष्ट हैं यह भी निश्चित हो चुका था जो सांप्रतकाल में भी वैसा ही है। प्रकीर्णक वर्ग में नंदी-अनुयोगद्वार शामिल था जो बाद में जाकर पृथक् हो गया। मूलसंज्ञा किसी को भी नहीं मिलती जो आगे जाकर आवश्यकादि को मिली है।

जिनप्रभ ने अपने 'सिद्धान्तागमस्तव' में आगमों का नामपूर्वक स्तवन किया है किन्तु वर्गीकरण नहीं किया। उनका स्तवनक्रम इस प्रकार है—आवश्यक, विशेषावश्यक, दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, नन्दी, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, आचारांग आदि ग्यारह अंग (इनमें कुछ को अंग संज्ञा दी गई है), औपपातिक आदि १२ (इनमें किसी को भी उपांग नहीं कहा है), मरणसमाधि आदि १३ (इनमें किसी को भी प्रकीर्णक नहीं कहा है), निशीथ, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, पंचकल्प, जीतकल्प, महानिशीथ—इतने नामों के बाद निर्युक्ति आदि टीकाओं का स्तवन है। तदनंतर दृष्टिवाद और अन्य कालिक, उत्कालिक ग्रन्थों की स्तुति की गई है। तदनंतर अंगविद्या, विशेषणवती, संमति, नयचक्रवाल, तत्त्वार्थ, ज्योतिष्करंड, सिद्धप्राभृत, वसुदेवहिंडी, कर्मप्रकृति आदि प्रकरण ग्रन्थों का उल्लेख है। इस सूची से एक बात तो सिद्ध होती है कि भले ही जिनप्रभ ने वर्गों के नाम नहीं दिये किन्तु उस समय तक कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम तो बन गया होगा। इसीलिए हम मूलसूत्रों और चूलिकासूत्रों के नाम एक साथ ही पाते हैं। यही बात अंग, उपांग, छेद और प्रकीर्णक में भी लागू होती है।

आचार्य उमास्वाति भाष्य में अंग के साथ उपांग[1] शब्द का निर्देश करते हैं और अंगबाह्य ग्रन्थ उपांगशब्द से उन्हें अभिप्रेत है। आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य की जो सूची दी है वह भी जिनप्रभकी सूची का पूर्वरूप है। उसमें प्रथम सामायिकादि छः आवश्यकों का उल्लेख है, तदनंतर "दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारौ, निशीथं, ऋषिभाषितान्येवमादि"—इस प्रकार उल्लेख है। इसमें जो आवश्यकादि मूलसूत्रों का तथा दशा आदि छेदग्रंथों का एक साथ निर्देश है वह उनके वर्गीकरण की पूर्वसूचना देता ही है। धवला में १४ अंग-बाह्यों की जो गणना की गई है उनमें भी प्रथम छः आवश्यकों का निर्देश है, तदनंतर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का और तदनंतर कप्पववहार, कप्पा-कप्पिय, महाकप्पिय, पुंडरीय, महापुंडरीय और निसीह का निर्देश है। इसमें केवल पुंडरीय, महापुंडरीय का उल्लेख ऐसा है जो निसीह को अन्य छेद से पृथक् कर रहा है। अन्यथा यह भी मूल और छेद के वर्गीकरण की सूचना दे ही रहा है।

आचार्य जिनप्रभ ने ई. १३०६ में विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ की समाप्ति की है। उसमें भी (पृ० ४८ से) उन्होंने आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है। क्रम से निम्न ५१ ग्रन्थों का उसमें उल्लेख है—१ आवश्यक[2], २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचारांग, ५ सूयगडंग, ६ ठाणंग, ७ समवायांग, ८ निसीह, ९-११ दसा-कप्प-ववहार[3], १२ पंचकप्प, १३ जीयकप्प, १४ विवाहपन्नत्ति, १५ नायाधम्मकहा, १६ उवासगदसा, १७ अंतगडदसा, १८ अनुत्तरोववाइयदसा, १९ पण्हावागरण, २० विवागसुय (दिट्ठिवाओ दुवाल-समंगं तं च वोच्छिन्नं) (पृ० ५६)। इसके बाद यह पाठ प्रासंगिक है—"इत्थ य दिक्खापरियाएण तिवासो आयारपकप्पं वहिज्जा वाइज्जा य। एवं चउवासो सूयगडं। पंचवासो दसा-कप्प-ववहारे। अट्ठवासो ठाण-समवाए। दसवासो भगवई। इक्कारसवासो खुड्डियाविमाणाइपंचज्झयणे। बारसवासो अरुणोववायाइपंचज्झयणे। तेरसवासो उट्ठाणसुयाइचउरज्झयणे। चउदसाइअट्ठारसंतवासो कमेण कमेण

---

१. "अन्यथा हि अनिबद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्"—तत्त्वार्थ-भाष्य, १. २०.

२. "ओहनिज्जुत्ती आवस्सयं चेव अणुपविट्ठा"—विधिमार्गप्रपा, पृ० ४९.

३. दसा-कप्प-ववहार का एक श्रुतस्कंध है यह सामान्य मान्यता है। किन्तु किसी के मत से कप्प-ववहार का एक स्कंध है—वही पृ० ५२.

आसीविसभावणा-दिट्ठिविसभावणा-चारणभावणा-महासुमिणभावणा-तेयनिसग्गे । एगूणवीसवासो दिट्ठीवायं संपुन्नवीसवासो सव्वसुत्तजोगो त्ति" ।। (पृ० ५६) ।

इसके बाद "इयाणिं उवंगा" ऐसा लिखकर जिस अंग का जो उपांग है उसका निर्देश इस प्रकार किया है—

	अंग		उपांग
१	आचार	२१	ओवाइय
२	सूयगड	२२	रायपसेणइय
३	ठाग	२३	जीवाभिगम
४	समवाय	२४	पण्णवणा
५	भगवई	२५	सूरपण्णत्ति
६	नाया(धम्म)	२६	जंबुद्दीवपण्णत्ति
७	उवासगदसा	२७	चंदपण्णत्ति
८-१२	अंतगडदसादि	२८-३२	निरयावलिया सुयक्खंध (२८ 'कप्पियां' २९ कप्पवडिंसिया, ३० पुप्फिया, ३१ पुप्फचूलिया, ३२ वण्हिदसा)

आ० जिनप्रभ ने मतान्तर का भी उल्लेख किया है कि "अण्णे पुण चंदपण्णत्ति, सूरपण्णत्ति च भगवईउवंगे भणंति। तेसिं मएण उवासगदसाईण पंचण्हमंगाणं उवगं निरयावलियासुयक्खंधो"—पृ० ५७.

इस मत का उत्थान इस कारण से हुआ होगा कि जब ११ अंग उपलब्ध हैं और बारहवां अंग उपलब्ध ही नहीं तो उसके उपांग की अनावश्यकता है। अतएव भगवती के दो उपांग मान कर ग्यारह अंग और बारह उपांग की संगति बैठाने का यह प्रयत्न है। अंत में श्रीचन्द्र की सुखबोधा सामाचारी में प्राप्त गाथा उद्धृत करके 'उवंगविही' की समाप्ति की है।

---

१. श्रीचंद्र की सुखबोधा सामाचारी में इसके स्थान में निरयावलिया का निर्देश है।

तदनन्तर 'संपयं पइण्णगा'—इस उल्लेख के साथ ३३ नंदी, ३४ अनुयोगदाराई, ३५ देविंदत्थय, ३६ तंदुलवेयालिय, ३७ मरणसमाहि, ३८ महापच्चक्खाण, ३९ आउरपच्चक्खाण, ४० संथारय, ४१ चन्दाविज्झय, ४२ भत्तपरिण्णा, ४३ चउसरण, ४४ वीरत्थय, ४५ गणिविज्जा, ४६ दीवसागरपण्णत्ति, ४७ संगहणी, ४८ गच्छायार, ४९ दीवसागरपण्णत्ति, ५० इसिभासियाइं—इनका उल्लेख करके 'पइण्णगविही' की समाप्ति की है। इससे सूचित होता है कि इनके मत में १८ प्रकीर्णक थे। अन्त में महानिसीह का उल्लेख होने से कुल ५१ ग्रंथों का जिनप्रभ ने उल्लेख किया है।[1]

जिनप्रभ ने संग्रहरूप जोगविहाण नामक गाथाबद्ध प्रकरण का भी उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिया है—पृ० ६०। इस प्रकरण में भी संख्यांक देकर अंगों के नाम दिये गये हैं। योगविधिक्रम में आवस्सय और दसयालिय का सर्वप्रथम उल्लेख किया है और ओघ और पिण्डनिर्युक्ति का समावेश इन्हीं में होता है—ऐसी सूचना भी दी है (गाथा ७, पृ० ५८)। तदनंतर नन्दी और अनुयोग का उल्लेख करके उत्तराध्ययन का निर्देश किया है। इसमें भी समवाय अंग के बाद दसा-कप्प-ववहार-निसीह का उल्लेख करके इन्हीं को 'छेदसूत्र' ऐसी संज्ञा भी दी है—गाथा—२२, पृ० ५९। तदनंतर जीयकप्प और पंचकप्प (पणकप्प) का उल्लेख होने से प्रकरणकार के समय तक संभव है ये छेदसूत्र के वर्ग में संमिलित न किये गए हो। पंचकप्प के बाद ओवाइय आदि चार उपांगों की बात कह कर विवाहपण्णत्ति से लेकर विवाग अंगों का उल्लेख है। तदनन्तर चार प्रज्ञप्ति—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि निर्दिष्ट हैं। तदनन्तर निरयावलिया का उल्लेख करके उपांगदर्शक पूर्वोक्त गाथा (नं ६०) निर्दिष्ट है। तदनन्तर देविंदत्थय आदि प्रकीर्णक की तपस्या का निर्देश कर के इसिभासिय का उल्लेख है। यह भी मत उल्लिखित है जिसके अनुसार इसिभासिय का समावेश उत्त-राध्ययन में हो जाता है (गाथा ६२, पृ० ६२)। अन्त में सामाचारीविषयक परम्परा भेद को देखकर शंका नहीं करनी चाहिए यह भी उपदेश है—गाथा ६६.

जिनप्रभ के समय तक सांप्रतकाल में प्रसिद्ध वर्गीकरण स्थिर हो गया था इसका पता 'वायणाविही' के उत्थानमें उन्होंने जो वाक्य दिया उससे लगता है—"एवं **कप्पतिप्पाइविहिपुरस्सरं साहू समाणियसयलजोगविही मूलग्गन्थ-नन्दि-अणुओगदार-उत्तरज्झयण-इसिभासिय-अंग-उवंग-पइन्नय-छेयग्गन्थआगमे**

१. गच्छायार के बाद—'इच्चाइ पइण्णगाणि' ऐसा उल्लेख होने से कुछ अन्य भी प्रकीर्णक होंगे जिनका उल्लेख नामपूर्वक नहीं किया गया—पृ० ५८.

वाइज्जा"—पृ० ६४। इससे यह भी पता लगता है कि 'मूल' में आवश्यक और दशवैकालिक ये दो ही शामिल थे। इस सूची में 'मूलग्रन्थ' ऐसा उल्लेख है किन्तु पृथक् रूपसे आवश्यक और दशवैकालिक का उल्लेख नहीं है—इसीसे इसकी सूचना मिलती है।

जिनप्रभ ने अपने सिद्धान्तागमस्तव में वर्गों के नामकी सूचना नहीं दी किन्तु विधिमार्गप्रपा में दी है—इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनको ही यह सूझ हो, जब उन्होंने विधिमार्गप्रपा लिखी। जिनप्रभ का लेखनकाल सुदीर्घ था यह उनके विविधतीर्थकल्प की रचना से पता लगता है। इसकी रचना उन्होंने ई० १२७० में शुरू की और ई० १३३२ में इसे पूर्ण किया[1] इसी बीच उन्होंने १३०६ ई० में विधिमार्गप्रपा लिखी है। स्तवन संभवतः इससे प्राचीन होगा।

उपलब्ध आगमों और उनकी टीकाओं का परिमाण:

समवाय और नन्दीसूत्र में अंगों की जो पदसंख्या दी है उसमें पद से क्या अभिप्रेत है यह ठीक रूप से ज्ञात नहीं होता। और उपलब्ध आगमों से पदसंख्या का मेल भी नहीं है। दिगंबर षट्खंडागम में गणित के आधार पर स्पष्टीकरण करने का जो प्रयत्न है[2] वह भी काल्पनिक ही है, तथ्य के साथ उसका कोई संबंध नहीं दीखता।

अतएव उपलब्ध आगमों का क्या परिमाण है इसकी चर्चा की जाती है। ये संख्याएं हस्तप्रतियों में ग्रन्थाग्ररूप से निर्दिष्ट हुई हैं। उसका तात्पर्य होता है—३२ अक्षरों के श्लोकों से। लिपिकार अपना लेखन-पारिश्रमिक लेने के लिए गिनकर प्रायः अन्त में यह संख्या देते हैं। कभी स्वयं ग्रन्थकार भी इस संख्या का निर्देश करते हैं।[3] यहां दी जानेवाली संख्याएं, भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के वोल्युम १७ के १-३ भागों में आगमों और उनकी टीकाओं की हस्तप्रतियों की जो सूची छपी है उसके आधार से हैं—इससे दो कार्य सिद्ध होंगे—श्लोकसंख्या के बोध के अलावा किस आगम की कितनी टीकाएं लिखी गईं इसका भी पता लगेगा।

---

१. जै० सा० सं० इ०, पृ० ४१६.

२. जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० ६२१ ; षट्खंडागम, पु० १३, पृ० २४७–२५४.

३. कभी-कभी धूर्त लिपिकार संख्या गलत भी लिख देते है।

१. अंग (१) आचारांग २६४४, २६५४
,, निर्युक्ति ४५०
,, चूर्णि ८७५०
,, वृत्ति १२३००
,, दीपिका (१) ६०००, १००००, १५०००
,, ,, (२) ६०००
,, अवचूरि
,, पर्याय

(२) सूत्रकृतांग २१०० (प्रथम श्रुतस्कन्ध की १०००)
,, निर्युक्ति २०८ गाथा
,, निर्युक्ति मूल के साथ २५८०
,, निर्युक्ति } १२८५०, १३०००, १३३२५,
,, वृत्ति } १४०००
,, हर्षकुलकृत दीपिका (१) ६६००, ८६००, ७१००, ७००० (यह संख्या मूल के साथ की है)
,, साधुरंगकृत दीपिका १३४१६
पार्श्वचन्द्रकृत वार्तिक (टबा) ८०००
चूर्णि
पर्याय

(३) स्थानांग ३७७०, ३७५०
,, टीका (अभयदेव) १४२५०, १४५००
,, सटीक १८०००
,, दीपिका (नागर्षिगणि) सह १८०००
,, बालावबोध
,, स्तबक १६०००
,, पर्याय
,, बोल

(४) समवाय १६६७, १७६७
,, वृत्ति ३५७५, ३७००
,, पर्याय

(५) भगवती १६०००, १५८००
,, वृत्ति १८६१६, १९७७६
,, अवचूर्णि ३११४
,, पर्याय

(६) ज्ञाताधर्म ५५००, ६०००, ५२५०, ५६२७,
५७५०, ६०००
,, वृत्ति ३७००, ३८१५, ४७००
,, सवृत्ति ९७५५
बालावबोधसह १८२००

(७) उपासकदशा ९१२, ८७२, ८१२
,, वृत्ति ९४४

(८) अन्तकृत ९००
,, वृत्ति (उपा० अन्त० अनुत्त०) १३००
,, स्तबक

(९) अनुत्तरौपपातिक १९२
,, वृत्ति ४३७

(१०) प्रश्नव्याकरण १२५०
,, वृत्ति ४६३०, ५६३०, ४८००, ५०१६
,, स्तबक
,, पर्याय

(११) विपाक १२५०
,, वृत्ति १०००, ९०९, ११६७
,, स्तबक

२. उपांग (१) औपपातिक ११६७, १५००
,, वृत्ति ३४५५, ३१३५, ३१२५

(२) राजप्रश्नीय २५०९, २०७९, २१२०
,, वृत्ति ३६५०, ३७००, ३७९८

(३) जीवाभिगम ४७००, ५२००
„ वृत्ति १४०००
„ स्तबक
„ पर्याय
(४) प्रज्ञापना ७६८६, ८१००, ७७८७
„ टीका १४०००, १५०००
„ प्रदेशव्याख्या
„ संग्रहणी
„ पर्याय
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
„ टीका
(६) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ४४५८, ४१४६
„ टीका (हीर०) १४२५२
„ „ (शान्ति०)
टबासह १५०००
चूर्णि (करण) २०२३, १८२३, १८६०
„ विवृति (ब्रह्म)
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति २०५८
„ विवरण ६५००
(८-१२) निरयावलिका (५) ११०६
„ टीका ६०५, ६५०, ७३७, ६३७
„ टबा ११००
„ पर्याय
„ बालावबोध
३. प्रकीर्णक (१) चतुःशरण गाथा ६३
„ अवचूरि
„ टबा
„ विषमपद
(२) आतुरप्रत्याख्यान गाथा ८४
„ विवरण ८५०
„ टबा

(३) भक्तपरिज्ञा गा० १७३,
ग्रन्थाग्र १७१
,, अवचूरि

(४) संस्तारक गाथा १२१
,, विवरण
,, अवचूरि
,, बालावबोध

(५) तंदुलवैचारिक ४००
,, बालावबोध

(६) चन्द्रावेध्यक गाथा १७४,
गा० १७५

(७) देवेन्द्रस्तव गा० ३०७, गा० २९२

(८) गणिविद्या गा० ८६, गा० ८५

(९) महाप्रत्याख्यान गा० १४३, गा० १४२

(१०) वीरस्तव गा० ४३, गा० ४२

(११) अंगचूलिका

(१२) अंगविद्या ९८००

(१३) अजीवकल्प गाथा ४४

(१४) आराधनापताका ९९०
(रचना सं. १०७८)

(१५) कवचद्वार गा० १२९

(१६) गच्छाचार १६७
विवृति ५८५० (विजयविमल)
,, वानरर्षि
,, अवचूरि

(१७) जंबूस्वामिस्वाध्याय
,, टबा
,, ,, (पद्मसुंदर)

(१८) ज्योतिष्करंडक
,, टीका ५५००

(१९) तीर्थोद्गालिक   गा० १२५१, गा० १२३३
    ग्रन्थाग्र १५६५

(२०) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति

(२१) पर्यन्ताराधना   ७४

,, बालावबोध २४५

,, ३००

(२२) पिंडविशुद्धि

,, टीका ४४००

,, सुबोधा २८००

,, दीपिका ७०३

,, बालावबोध

,, अवचूर्णि

(२३) मरणविधि

(२४) योनिप्राभृत

(२५) वंकचूलिका

(२६) सारावली

(२७) सिद्धप्राभृत   गाथा १२१

४. छेदसूत्र (१) निशीथ   ८१२

,, निर्युक्ति-भाष्य   गा० ६४३९
    ग्रन्थाग्र ८४००

,, टिप्पणक   ७७०५ (?)

,, चूर्णि (प्रथम उ०) ५३९५

,, विशोद्देशकव्या०

,, पर्याय

(२) महानिशीथ   ४५४४

,, टबा

(३) व्यवहार

,, निर्युक्ति-भाष्य ५२००,
    गा० ४६२९

„ टीका प्रथम खण्ड (उ० १-३) १६८५६
„ पीठिका २३५५
„ पीठिका और उ० १ १०८७८
„ उ० ३ २५६५
„ उ० १० ४१३३
„ उ० १—१० ३७६२५
„ द्वितीय खण्ड १०३६६
„ चूर्णि १०३६०
„ पीठिका २०००
„ पर्याय

(४) दशाश्रुत १३८०
„ निर्युक्ति गा० १५४
„ चूर्णि २२२५, ४३२१, २१६१, २३२५ (?)
„ टीका (ब्रह्म) ५१५२
„ टिप्पणक
„ पर्याय

कल्पसूत्र (दशाश्रुत का अंश) १२१६
„ संदेहविषौषधि (जिनप्रभ) २२६८
„ अवचूर्णि
„ किरणावली (धर्मदास) ८०१४ (?)
„ प्रदीपिका (संघविजय) ३२००
„ दीपिका (जयविजय) ३४३२
„ कल्पद्रुमकलिका (लक्ष्मीवल्लभ)
„ अवचूरि
„ टिप्पणक
„ यावनिकाम्नाय
„ टबा
„ निर्युक्ति—संदेहविषौषधिसह ३०४१
„ वृत्ति (उदयसागर)
„ टिप्पण (पृथ्वीचन्द्र)
„ दुर्गपदनिरुक्ति ४१८

,, कल्पान्तर्वाच्य (कल्पसमर्थन) २७००
,, पर्युषणाष्टाह्निकाव्याख्यान
,, पर्युषणपर्वविचार
,, मंजरी (रत्नसागर) ५६६५ (?)
,, लता (समयसुंदर) ८०००
,, सुबोधिका (विनयविजय) ५४००
,, कौमुदी (शांतिसागर) ३७०७, ६५३८ (?)
,, ज्ञानदीपिका (ज्ञानविजय)

(५) बृहत्कल्प ४००, ४७३
,, लघुभाष्य सटीक (पीठिका) ५६००
,, उ० १-२ ६५००
,, ,, २-४ १२५४०
,, लघुभाष्य ६६००
,, टबा
,, चूर्णि १४०००, १६०००
,, विशेषचूर्णि ११०००
,, बृहद्भाष्य ८६००
,, पर्याय

(६) पंचकल्प
,, चूर्णि ३१३५
,, बृहद्भाष्य ३१८५ (गा० २५७४)
,, पर्याय

(७) जीतकल्प गा० १०३, गा० १०५
,, विवरणलव (श्रीतिलक)
,, टीका ६७७३
,, चूर्णि (सिद्धसेन)
,, पर्याय

(८) यतिजीतकल्प
,, विवृत्ति ५७००

५—चूलिका सूत्र (१) नन्दी ७००
,, वृत्तिसह ८५३५
,, चूर्णि १४००

,, विवरण (हारि०) २३३६
,, ,, (मलय०) ७७३२, ७८३२
,, दुर्गपदव्याख्या (श्रीचन्द्र)
,, पर्याय

स्थविरावलि (नंदीगता)
,, अवचूरि
,, टबा
,, बालावबोध

(२) अनुयोगद्वार १३६६, १६०४, १८००, २००५
,, वृत्ति (हेम) ५७००, ६०००
,, वार्तिक

६—मूलसूत्र (१) उत्तराध्ययन २०००, २३००, २१००
,, सुखबोधा (देवेन्द्र = नेमिचन्द्र) १४६१६, १४२००, १२०००, १४४२७, १४४५२, १४०००
,, अवचूरि
,, वृत्ति (कीर्तिवल्लभ) ८२६०
,, अक्षरार्थं
,, ,, लवलेश ६५६८
,, वृत्ति (भावविजय) १४२५५
,, दीपिका (लक्ष्मीवल्लभ)
,, दीपिका ८६७०
,, बालावबोध ६२५०
,, टबा ७००० (पार्श्वचंद्र)
,, कथा ५००० (पद्मसागर), ४५००
,, निर्युक्ति ६०४
,, बृहद्वृत्ति (शांतिसूरि) १८०००
,, बृहद्वृत्तिपर्याय
,, अवचूर्णि (ज्ञानसागर) ५२५०

(२) दशवैकालिक ७००
,, निर्युक्ति ५५०
,, वृत्ति (हारि०)

,, वृत्ति अवचूरि

,, ,, पर्याय

,, टीका (सुमति) २६५०

,, टीका ३०००

,, टीका २८००

,, अवचूरि २१४३

,, टबा (कनकसुंदर) १५००

(३) आवश्यक

,, चैत्यवन्दन-ललितविस्तरा १२७०

,, पंजिका

,, टबा (देवकुशल) ३२५०

,, वृत्ति (तरुणप्रभ)

,, अवचूरि (कुलमंडन)

,, बालावबोध

,, टबा

,, निर्युक्ति २५७२, ३५५०, ३१००, ३३७५, ३१५०

,, ,, पीठिका-बालावबोध

,, शिष्यहिता (हरि०) १२३४३

,, विवृति (मलय०)

,, लघुवृत्ति (तिलकाचार्य)

,, निर्युक्ति-अवचूरि (ज्ञानसागर) ६००५

,, ,, बालावबोध

,, ,, दीपिका

,, ,, लघुवृत्ति १३०००

,, ,, प्रदेशव्याख्या (हेमचन्द्र) ४६०० (?)

,, ,, विशेषावश्यकभाष्य गा० ४३१४,
गा० ३६७२, ग्रन्थाग्र ५०००,
गा० ४३३६

,, ,, वृत्ति स्वोपज्ञ

,, ,, वृत्ति (कोट्याचार्य) १३७००

,, ,, वृत्ति (हेमचन्द्र) २८०००, २८९७६

(४) पिण्डनिर्युक्ति ७६६१

,, शिष्यहिता (वीरगणि = समुद्रघोष)

,, वृत्ति (माणिक्यशेखर)

,, अवचूरि (क्षमारत्न)

(५) ओघनिर्युक्ति १४६०, गा० ११६२, गा० ११५४, गा० ११६५, गा० ११६४

,, टीका (द्रोण०) सह ७३८५, ८३८५

,, टीका (द्रोण०) ६५४५

,, अवचूर्णि (ज्ञानसागर) ३४००

(६) पाक्षिकसूत्र

,, वृत्ति (यशोदेव) २७००

,, अवचूरि ६२१, १०००

आगम और उनकी टीकाओं के परिमाण के उक्त निर्देश से यह पता चलता है कि आगमसाहित्य कितना विस्तृत है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्पसूत्र तथा आवश्यकसूत्र—इनकी टीकाओं की सूची भी काफी लम्बी है। सबसे अधिक टीकाएं लिखी गई हैं कल्पसूत्र और आवश्यकसूत्र पर। इससे इन सूत्रों का विशेष पठन-पाठन सूचित होता है। जब से पर्युषण में संघसमक्ष कल्पसूत्र के वाचन की प्रतिष्ठा हुई है, इस सूत्र का अत्यधिक प्रचार हुआ है। आवश्यक तो नित्य-क्रिया का ग्रन्थ होने से उसपर अधिक टीकाएं लिखी जायं यह स्वाभाविक है।

आगमों का काल :

आधुनिक विदेशी विद्वानों ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्धि ने पुस्तक-लेखन करके आगमों के सुरक्षा-कार्य को आगे बढ़ाया किन्तु वे, जैसा कि कुछ आचार्य भी मानते हैं, उनके कर्ता नहीं है। आगम तो प्राचीन ही हैं। उन्होंने उन्हें यत्र-तत्र व्यवस्थित किया।[1] आगमो मे कुछ अंश प्रक्षिप्त हो सकता है किन्तु उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्धि का काल नहीं हो जाता। उनमें कई अंश ऐसे हैं जो मौलिक हैं। अतएव पूरे आगम का एक काल नहीं किन्तु तत्तत् आगम का परीक्षण करके कालनिर्णय करना जरूरी है। सामान्य तौर पर विद्वानों ने अंग आगमो का काल प्रक्षेपो को बाद किया जाय तो पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना भगवान् महावीर के

१. देखें—सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२ की प्रस्तावना, पृ० ३९ में जैकोबी का कथन।

बाद छठे आचार्य के काल में भद्रबाहु के समय में हुई और उसका काल है ई. पू. ४थी शताब्दी का दूसरा दशक।[1] डा. जेकोबी ने छन्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके यह निश्चय किया था कि किसी भी हालत में आगम के प्राचीन अंश ई० पू० चौथी के अंत से लेकर ई० पू० तीसरी के प्रारम्भ से प्राचीन नहीं ठहरते।[2] हर हालत में हम इतना तो मान ही सकते हैं कि आगमों का प्राचीन अंश ई० पूर्व का है। उन्हें देवर्धि के काल तक नहीं लाया जा सकता।

वलभी में आगमों का लेखनकाल ई० ४५३ (मतान्तर से ई० ४६६) माना जाता है। उस समय कितने आगम लेखबद्ध किये गये इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। किन्तु इतनी तो कल्पना की जा सकती है कि अंग आगमों का प्रक्षेपों के साथ यह लेखन अंतिम था। अतएव अंगों के प्रक्षेपों की यही अंतिम मर्यादा हो सकती है। प्रश्नव्याकरण जैसे सर्वथा नूतन अंग की वलभी लेखन के समय क्या स्थिति थी यह एक समस्या बनी ही रहेगी। इसका हल अभी तो कोई दीखता नहीं है।

कई विद्वान् इस लेखन के काल का और अंग आगमो के रचनाकाल का संमिश्रण कर देते हैं और इसी लेखनसमय को रचनाकाल भी मान लेते हैं। यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे कोई किसी हस्तप्रति के लेखनकाल को देख कर उसे ही रचनाकाल भी मान ले। ऐसा मानने पर तो समग्र वैदिक साहित्य के काल का निर्णय जिन नियमों के आधार पर किया जाता है वह नहीं होगा और हस्तप्रतियों के आधार पर ही करना होगा। सच बात तो यह है कि जैसे वैदिक वाङ्मय श्रुत है वैसे ही जैन आगमो का अंग विभाग भी श्रुत है। अतएव उसके कालनिर्णय के लिए उन्हीं नियमो का उपयोग आवश्यक है जिन नियमों का उपयोग वैदिक वाङ्मय के कालनिर्णय में किया जाता है। अंग आगम भ० महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अंगों की रचना की है। अतः रचना का प्रारंभ तो भ० महावीर के काल से ही माना जा सकता है। उसमें जो प्रक्षेप हों उन्हें अलग कर उनका समयनिर्णय अन्य आधारों से करना चाहिए।

आगमों में अंगबाह्य ग्रन्थ भी शामिल हुए हैं और वे तो गणधरों की रचना नहीं है अतः उनका समयनिर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित

---

१. Doctrine of the Jainas, p. 73.

२. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२, प्रस्तावना, पृ० ३१ से ; डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ७३, ८१.

किया जाता है वैसे ही होना चाहिए। अंगबाह्यों का संबंध विविध वाचनाओं से भी नहीं है और संकलन से भी नहीं है। उनमें जिन ग्रन्थों के कर्ता का निश्चित रूप से पता है उनका समय कर्ता के समय के निश्चय से ही होना चाहिए। वाचना और संकलना और लेखन जिन आगमों के हुए उनके साथ जोड़ कर इन अंगबाह्य ग्रन्थों के समय को भी अनिश्चित कोटि में डाल देना अन्याय है और इसमें सचाई भी नहीं है।

अंगबाह्यों में प्रज्ञापना के कर्ता आर्यश्याम हैं अतएव आर्यश्याम का जो समय है वही उसका रचनासमय है। आर्यश्याम को वीरनिर्वाण संवत् ३३५ में युगप्रधान पद मिला और वे ३७६ तक युगप्रधान रहे। अतएव प्रज्ञापना इसी काल की रचना है, इसमें संदेह को स्थान नहीं है। प्रज्ञापना आदि से अंत तक एक व्यवस्थित रचना है जैसे कि षट्खंडागम आदि ग्रन्थ हैं। तो क्या कारण है कि उसका रचनाकाल वही न माना जाय जो उसके कर्ता का काल है और उसके काल को वलभी के लेखनकाल तक खींचा जाय? अतएव प्रज्ञापना का रचनाकाल ई० पू० १९२ से ई० पू० १५१ के बीच का निश्चित मानना चाहिए।

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति[१] और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति – ये तीन प्रज्ञप्तियां प्राचीन हैं इसमें भी संदेह को स्थान नहीं है। दिगंबर परंपरा ने दृष्टिवाद के परिकर्म में इन तीनों प्रज्ञप्तियों का समावेश किया है और दृष्टिवाद के अंश का अविच्छेद भी माना है। तो यही अधिक संभव है कि ये तीनों प्रज्ञप्तियां विच्छिन्न न हुई हों। इनका उल्लेख श्वेताम्बरों के नन्दी आदि में भी मिलता है। अतएव यह तो माना ही जा सकता है कि इन तीनों की रचना श्वेताम्बर-दिगम्बर के मतभेद के पूर्व हो चुकी थी। इस दृष्टि से इनका रचनासमय विक्रम के प्रारंभ से इधर नहीं आ सकता। दूसरी बात यह है कि सूर्य-चन्द्रप्रज्ञप्ति में जो ज्योतिष की चर्चा है वह भारतीय प्राचीन वेदांग के समान है। बाद का जो ज्योतिष का विकास है वह उसमें नहीं है। ऐसी परिस्थिति में इनका समय विक्रम पूर्व ही हो सकता है, बाद में नहीं।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना भद्रबाहु ने की थी। इनके ऊपर प्राचीन निर्युक्ति-भाष्य आदि प्राकृत टीकाएँ भी लिखी गई हैं। अतएव इनके विच्छेद की कोई कल्पना करना उचित नहीं है। धवला में कल्प-व्यवहार को अंगबाह्य गिना गया है और उसके विच्छेद की वहाँ कोई चर्चा नहीं है। भद्रबाहु का समय ई० पू० ३५७ के आसपास निश्चित है। अतः उनके द्वारा रचित दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार का समय भी वही होना

१. सांप्रतकाल में उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दीखता।

चाहिए। निशीथ आचारांग की चूला है और किसी काल में उसे आचारांग से पृथक् किया गया है। उस पर भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत टीकाएँ हैं। धवला (पृ० ९६) में अंगबाह्य रूप से इसका उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा उसमें नहीं है अतएव उसके विच्छेद की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। डा० जेकोबी और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रों का समय ई० पू० चौथी का अन्त और तीसरी का प्रारंभ माना गया है वह उचित ही है।[1] जीतकल्प आचार्य जिनभद्र की कृति होने से उसका भी समय निश्चित ही है। यह स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं किन्तु पूर्वोक्त छेद ग्रन्थों का साररूप है। आचार्य जिनभद्र के समय के निर्धारण के लिए विशेषावश्यक की जैसलमेर की एक प्रति के अन्त में जो गाथा दी गई है वह उपयुक्त साधन है। उसमें शक संवत् ५३१ का उल्लेख है। तदनुसार ई० ६०९ बनता है। उससे इतना सिद्ध होता है कि जिनभद्र का काल इससे बाद तो किसी भी हालत में नहीं ठहरता। गाथा में जो शक संवत् का उल्लेख है वह संभवतः उस प्रति के किसी स्थान पर रखे जाने का है। इससे स्पष्ट है कि वह उससे पहले रचा गया था। अतएव इसी के आस-पास का काल जीतकल्प की रचना के लिए भी लिया जा सकता है।

महानिशीथ का जो संस्करण उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा उद्धार किया हुआ है। अतएव उसका भी वही समय होगा जो आचार्य हरिभद्र का है। आचार्य हरिभद्र का समयनिर्धारण अनेक प्रमाणों से आचार्य जिनविजयजी ने किया है और वह है ई० ७०० से ८०० के बीच का।

मूलसूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यंभव ने की है और यह तो साधुओं को नित्य स्वाध्याय के काम में आता है अतएव उसका विच्छेद होना संभव नहीं था। अपराजित सूरि ने सातवीं-आठवीं शती में उसकी टीका भी लिखी थी। उससे पूर्व निर्युक्ति, चूर्णि आदि टीकाएँ भी उस पर लिखी गई हैं। पांचवीं-छठी शती में होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने (सर्वार्थसिद्धि, १. २०) भी दशवैकालिक का उल्लेख किया है और उसे प्रमाण मानना चाहिए ऐसा भी कहा है। उसके विच्छेद की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है। धवला (पृ० ९६) में भी अंगबाह्य रूप से दशवैकालिक का उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा नहीं है। दशवैकालिक में चूलाएँ बाद में जोड़ी गई हैं यह निश्चित है किन्तु उसके जो दस अध्ययन हैं जिनके आधार पर उसका नाम निष्पन्न है वे तो मौलिक ही हैं। ऐसी परिस्थिति में उन दस अध्ययनों के कर्ता तो शय्यंभव हैं ही और

---

१. डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ८१.

जो समय शय्यंभव का है वही उसका भी है। शय्यंभव वीर नि. ७५ से ६० तक युगप्रधान पद पर रहे हैं अतएव उनका समय ई० पू. ४५२ से ४२६ है। इसी समय के बीच दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यंभव ने की होगी।

उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नहीं है किन्तु संकलन है। उत्तराध्ययन का उल्लेख अंगबाह्य रूप से धवला (पृ० ६६) और सर्वार्थसिद्धि में (१. २०) है। उसपर निर्युक्ति-चूर्णि टीकाएं प्राकृत में लिखी गई हैं। इसी कारण उसकी सुरक्षा भी हुई है। उसका समय जो विद्वानों ने माना है वह है ई० पू० तीसरी-चौथी शती।[1]

आवश्यक सूत्र तो अंगागम जितना ही प्राचीन है। जैन निर्ग्रन्थों के लिए प्रतिदिन करने की आवश्यक क्रियासंबंधी पाठ इसमें हैं। अंगों में जहाँ स्वाध्याय का उल्लेख आता है वहाँ प्रायः यह लिखा रहता है कि 'सामाइयाइणि एकादसंगाणि' (भगवती सूत्र ६३, ज्ञाता ५६, ६४ ; विपाक ३३); 'सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं' (भगवती सूत्र ६१७, ४३२ ; ज्ञाता० ५४, ५५, १३०)। इससे सिद्ध होता है कि अंग से भी पहले आवश्यक सूत्र का अध्ययन किया जाता था। आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन सामायिक है। इस दृष्टि से आवश्यक सूत्र के मौलिक पाठ जिन पर निर्युक्ति, भाष्य, विशेषावश्यक-भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत टीकाएं लिखी गई हैं वे अंग जितने पुराने होंगे। अंगबाह्य आगम के भेद आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त—इस प्रकार किये गये हैं। इससे भी इसका महत्त्व सिद्ध होता है। आवश्यक के छहों अध्ययनों के नाम धवला में अंगबाह्य में गिनाए हैं। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक सूत्र की प्राचीनता सिद्ध होती ही है। आवश्यक चूंकि नित्यप्रति करने की क्रिया है अतएव ज्ञानवृद्धि और ध्यानवृद्धि के लिए उसमें पर समय-समय उपयोगी पाठ बढ़ते गये हैं। आधुनिक भाषा के पाठ भी उसमें जोड़े गये हैं किन्तु मूल पाठ कौन से थे इसका तो पृथक्करण प्राचीन प्राकृत टीकाओं के आधार पर करना सहज है। और वैसा श्री पं० सुखलालजी ने अपने 'प्रतिक्रमण' ग्रन्थ में किया भी है। अतएव उन पाठों के ही समय का विचार यहाँ प्रस्तुत है। उन पाठों का समय भ० महावीर के जीवनकाल के आसपास नहीं तो उनके निर्वाण के निकट या बाद की प्रथम शती में तो रखा जा सकता है।

पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक की टीका है और वह आ० भद्रबाहु की कृति है।

---

१. डॉक्ट्रिन ऑफ दी जैनस, पृ० ८१.

कोई चर्चा दिगम्बर आम्नाय में थी ही नहीं। आचार्य पूज्यपाद ने श्रुतविवरण में सर्वार्थसिद्धि में अंगबाह्य और अंगों की चर्चा की है किन्तु उन्होंने आगमविच्छेद की कोई चर्चा नहीं की। आचार्य अकलंक जो धवला से पूर्व हुए हैं उन्होंने भी अंग या अंगबाह्य आगमविच्छेद की कोई चर्चा नहीं की है। अतएव धवला की चर्चा से हम इतना ही कह सकते हैं कि धवलाकार के समय तक दिगंबर आम्नाय में अंगविच्छेद की बात तो थी किन्तु आवश्यक आदि अंगबाह्य के विच्छेद की कोई मान्यता नहीं थी। अतएव यह संशोधन का विषय है कि अंगबाह्य के विच्छेद की मान्यता दिगम्बर परंपरा में कब से चली? खेद इस बात का है कि पं० कैलाशचन्द्रजी ने आगमविच्छेद की बहुत बड़ी चर्चा अपनी पीठिका में की है किन्तु इस मूल प्रश्न की छानबीन किये बिना ही दिगंबरों की सांप्रतकालीन मान्यता का उल्लेख कर दिया है और उसका समर्थन भी किया है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आगम की सुरक्षा का प्रश्न जब आचार्यों के समक्ष था तब द्वादशांगरूप गणिपिटक की सुरक्षा का ही प्रश्न था क्योंकि वे ही मौलिक आगम थे। अन्य आगम ग्रन्थ तो समय और शक्ति के अनुसार बनते रहते हैं और लुप्त होते रहते हैं। अतएव आगमवाचना का प्रश्न मुख्यरूप से अंगों के विषय में ही है। इन्हीं की सुरक्षा के लिए कई वाचनाएं की गई हैं। इन वाचनाओं के विषय में पं० कैलाशचन्द्र ने जो चित्र उपस्थित किया है (पीठिका पृ० ४९६ से) उस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है। वह यथासमय किया जायगा।

यहाँ तो हम विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर खींचना चाहते हैं कि आगम पुस्तकाकार रूप में लिखे जाते थे या नहीं, और इस पर भी कि श्रुतविच्छेद की जो बात है वह लिखित पुस्तक की है या स्मृत श्रुत की? आगम पुस्तक में लिखे जाते थे इसका प्रमाण अनुयोगद्वार सूत्र जितना तो प्राचीन है ही। उसमें आवश्यक सूत्र की व्याख्या के प्रसंग से स्थापना-आवश्यक की चर्चा में पोत्थकम्म को स्थापना-आवश्यक कहा है।[1] इसी प्रकार श्रुत के विषय में स्थापना-श्रुत में भी पोत्थकम्म को स्थापना-श्रुत कहा है (अनुयोगद्वार सू० ३१ पृ० ३२ अ)। द्रव्यश्रुत के भेद रूप से ज्ञायकशरीर और भव्यशरीर के अतिरिक्त जो द्रव्यश्रुत का भेद है उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि "पत्तयपोत्थय-

१. अनुयोग की टीका में लिखा है—"अथवा पोत्थं पुस्तकं तच्चेह संपुटकरूपं गृह्यते तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः। अथवा पोत्थं ताडपत्रादि तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकम्" पृ० १३ अ.

लिहियं" (सूत्र ३७)। उस पद की टीका में अनुयोगद्वार के टीकाकार ने लिखा है—"पत्रकाणि तलताड्यादिसंबन्धीनि, तत्संघातनिष्पन्नास्तु पुस्तकाः, ततश्च पत्रकाणि च पुस्तकाश्च, तेषु लिखितं पत्रकपुस्तकलिखितम्। अथवा 'पोत्थय'त्ति पोतं वस्त्रं पत्रकाणि च पोतं च, तेषु लिखितं पत्रकपोतलिखितं ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतम्। अत्र च पत्रकादिलिखितस्य श्रुतस्य भावश्रुत-कारणत्वात् द्रव्यश्रुतत्वमेव अवसेयम्।"—पृ० ३४।

इस श्रुतचर्चा में अनुयोगद्वार को भावश्रुतरूप से कौन सा श्रुत विवक्षित है यह भी आगे की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है। आगे लोकोत्तर नोआगम भावश्रुत के भेद में तीर्थंकरप्रणीत द्वादशांग गणिपिटक आचार आदि को भावश्रुत में गिना है।[1] इससे शंका को कोई स्थान नहीं रहना चाहिए और यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अनुयोगद्वार के समय में आचार आदि अंग पुस्तकरूप में लिखे जाते थे।

अंग आगम पुस्तक में लिखे जाते थे किन्तु पठन-पाठन प्रणाली में तो गुरुमुख से ही आगम की वाचना लेनी चाहिए यह नियम था। अन्यथा करना अच्छा नहीं समझा जाता था। अतएव प्रथम गुरुमुख से पढ़ कर ही पुस्तक में लेखन या उसका उपयोग किया जाता होगा ऐसा अनुमान होता है। विशेषावश्यकभाष्य में वाचना के शिक्षित आदि गुणों[2] के वर्णन में आचार्य जिनभद्र ने 'गुरुवायणो-वगयं'—गुरुवाचनोपगत का स्पष्टीकरण किया है कि "ण चोरितं पोत्थयातो-वा"—गा० ८५२। उसकी स्वकृत व्याख्या में लिखा है कि "गुरुनिर्वाचितम्, न चौर्यात् कर्णाघाटितं, स्वतंत्रेण वाऽधीतं पुस्तकात्"—विशेषा० स्वोपज्ञ व्याख्या गा० ८५२। तात्पर्य यह है कि गुरु किसी अन्य को पढ़ाते हों और उसे चोरी से सुनकर या पुस्तक से श्रुत का ज्ञान लेना यह उचित नहीं है। वह तो गुरुमुख से उनकी संमति से सुन कर ही करना चाहिए। इससे भी स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार के पहले ग्रन्थ लिखे जाते थे किन्तु उनका पठन सर्वप्रथम गुरुमुख से होना जरूरी था। यह परंपरा जिनभद्र तक तो मान्य थी ही ऐसा भी कहा जा सकता है। गुरु के मुख से सुनकर अपनी स्मृति का भार हलका करने के लिए कुछ नोंधरूप (टिप्पणरूप) आगम प्रारम्भ में लिखे जाते होंगे। यह भी कारण है कि उसका मूल्य उतना नहीं हो सकता जितना श्रुतधर की स्मृति में रहे हुए आगमों का।

---

१. अनुयोगद्वार—सूत्र ४२, पृ० ३७ अ

२. अनुयोगद्वार में शिक्षित, स्थित, जित आदि गुणों का निर्देश है उनकी व्याख्या जिनभद्र ने की है—अनु० सू० १३.

यह सब अनुमान ही है। किन्तु जब आगम पुस्तकों में लिखे गये थे फिर भी वाचनाओं का महत्त्व माना गया, तो उससे यही अनुमान हो सकता है जो सत्य के निकट है। गुरुमुख से वाचना में जो आगम मिले वही आगम परंपरागत कहा जाएगा। पुस्तक से पढ़ कर किया हुआ ज्ञान, या पुस्तक में लिखा हुआ आगम उतना प्रमाण नहीं माना जायगा जितना गुरुमुख से पढ़ा हुआ। यही गुरुपरंपरा की विशेषता है। अतएव पुस्तक में जो कुछ भी लिखा हो किन्तु महत्त्व तो उसका है जो वाचक की स्मृति में है। अतएव पुस्तकों में लिखित होने पर भी उसके प्रामाण्य को यदि महत्त्व नहीं मिला तो उसका मूल्य भी कम हुआ। इसी के कारण पुस्तक में लिखे रहने पर भी जब-जब संघ को मालूम हुआ हो कि श्रुतधरों का ह्रास हो रहा है, श्रुतसंकलन के प्रयत्न की आवश्यकता पड़ी होगी और विभिन्न वाचनाएँ हुई होंगी।

अब आगमविच्छेद के प्रश्न पर विचार किया जाय। आगमविच्छेद के विषय में भी दो मत हैं। एक के अनुसार सुत्त विनष्ट हुआ है, तब दूसरे के अनुसार सुत्त नहीं किन्तु सुत्तधर—प्रधान अनुयोगधर विनष्ट हुए हैं।[1] इन दोनों मान्यताओं का निर्देश नंदी-चूर्णि जितना तो पुराना है ही। आश्चर्य तो इस बात का है कि दिगंबर परंपरा के धवला (पृ० ६५) में तथा जयधवला (पृ० ८३) में दूसरे पक्ष को माना गया है अर्थात् श्रुतधरों के विच्छेद की चर्चा प्रधानरूप से की गई है और श्रुतधरों के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित माना गया है। किन्तु आज का दिगंबर समाज श्रुत का ही विच्छेद मानता है। इससे भी सिद्ध है कि पुस्तक में लिखित आगमों का उतना महत्त्व नहीं है जितना श्रुतधरों की स्मृति में रहे हुए आगमों का।

जिस प्रकार धवला में क्रमशः श्रुतधरों के विच्छेद की बात कही है उसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। वह इस प्रकार है—

प्रथम भ० महावीर से भद्रबाहु तक की परंपरा दी गई है और स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास चौदहपूर्व की वाचना लेने गये इस बात का निर्देश है। यह निर्दिष्ट है कि दशपूर्वधरों में अंतिम सर्वमित्र थे। उसके बाद निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद पूर्वों का विच्छेद हुआ। यहाँ पर यह ध्यान देना जरूरी है कि यही उल्लेख भगवती सूत्र में (२. ८) भी है। तित्थोगाली में उसके बाद निम्न प्रकार से क्रमशः श्रुतविच्छेद की चर्चा की गई है—

---

१. देखिए—नंदीचूर्णि, पृ० ८.

ई० ७२३ = वीर-निर्वाण १२५० में विवाहप्रज्ञप्ति और छः अंगों का विच्छेद
ई० ७७३ = „ १३०० में समवायांग का विच्छेद
ई० ८२३ = „ १३५० में ठाणांग का „
ई० ८७३ = „ १४०० में कल्प-व्यवहार का „
ई० ९७३ = „ १५०० में दशाश्रुत का „
ई० १३७३ = „ १९०० में सूत्रकृतांग का „
ई० १४७३ = „ २००० में विशाख मुनि के समय में निशीथ का „
ई० १७७३ = „ २३०० में आचारांग का „

दुसमा के अंत में दुप्पसह मुनि के होने के उल्लेख के बाद यह कहा गया है कि वे ही अंतिम आचारधर होंगे। उसके बाद अनाचार का साम्राज्य होगा। इसके बाद निर्दिष्ट है कि—

ई० १९९७३ = वीरनि० २०५०० में उत्तराध्ययन का विच्छेद
ई० २०३७३ = „ २०९०० में दशवैं० सूत्र का विच्छेद
ई० २०४७३ = „ २१००० में दशवैं० के अर्थ का विच्छेद दुप्पसह मुनि की मृत्यु के बाद।
ई० २०४७३ = „ २१००० पर्यन्त आवश्यक, अनुयोगद्वार और नंदी सूत्र अव्यवच्छिन्न रहेंगे।

—तित्थोगाली गा० ६९७–८६६.

तित्थोगालीय प्रकरण श्वेताम्बरों के अनुकूल ग्रन्थ है ऐसा उसके अध्ययन से प्रतीत होता है। उसमें तीर्थंकरों की माताओं के १४ स्वप्नों का उल्लेख है गा० १००, १०२४; स्त्री-मुक्ति का समर्थन भी इसमें किया गया है गा० ५५६; आवश्यक-निर्युक्ति की कई गाथाएं इसमें आती हैं गा० ७० से, ३८३ से इत्यादि; अनुयोग-द्वार और नन्दी का उल्लेख और उनके तीर्थपर्यन्त टिके रहने की बात; दशाश्चर्य की चर्चा गा० ८८७ से; नन्दीसूत्रगत संघस्तुतिका अवतरण गा० ८४८से है।

आगमों के क्रमिक विच्छेद की चर्चा जिस प्रकार जैनों में है उसी प्रकार बौद्धों के अनागतवंश में भी त्रिपिटक के विच्छेद की चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणों की यह एक सामान्य धारणा है कि श्रुत का विच्छेद क्रमशः होता है। तित्थोगाली में अंगविच्छेद की चर्चा है इस बात को व्यवहारभाष्य के कर्ता ने भी माना है—

"तित्थोगाली एत्थं वत्तव्वा होइ आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अंगस्स वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठो"
—व्य० भा० १०.७०४

इससे जाना जा सकता है कि अंगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगंबर-श्वेताम्बर दोनो संप्रदायों में चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्बरों ने अंगों के अंश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अंश आज हमें उपलब्ध है—यह माना जाय तो इसमें क्या अनुचित है?

एक बात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्बरों में भी धवला के अनुसार सर्व अंगों का संपूर्ण रूप से विच्छेद माना नहीं गया है किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अंग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परंपरा चली है। उस परंपरा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है किन्तु वह परंपरा विच्छिन्न हो गई ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला में भी नहीं है। वहाँ स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद भारतवर्ष में जितने भी आचार्य हुए हैं वे सभी "सव्वेसिमंगपुव्वाणमेकदेसधारया जादा" अर्थात् सर्व अंग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं—जयधवला भा० १, पृ० ८७; धवला पृ० ६७।

तिलोयपण्णत्ति में भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारांगधारी तक का समय वीरनि० ६८३ बताया गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भी अंग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अंग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व में संदेह नहीं है। उसके अनुसार भी अंगबाह्य के विच्छेद का कोई प्रश्न उठाया नहीं गया है। वस्तुतः तिलोयपण्णत्ति के अनुसार श्रुततीर्थ का विच्छेद वीरनि० २०३१७ में होगा अर्थात् तब तक श्रुत का एकदेश विद्यमान रहेगा ही (देखिए, ४. गा० १४७५—१४९३)।

तिलोयपन्नत्ति में प्रक्षेप की मात्रा अधिक है फिर भी उसका समय डा० उपाध्ये ने जो निश्चित किया है वह माना जाय तो वह ई० ४७३ और ६०९ के बीच है। तदनुसार भी उस समय तक सर्वथा श्रुतविच्छेद की चर्चा नहीं थी। तिलोयपण्णत्ति का ही अनुसरण धवला में माना जा सकता है।

ऐसी ही बात यदि श्वेतांबर परंपरा में भी हुई हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसमें भी संपूर्ण नहीं होने से अंग आगमों का एकदेश सुरक्षित रहा हो और उसे ही संकलित कर सुरक्षित रखा गया हो तो इसमें क्या असंगति है? दोनों परंपराओं में अंग आगमों का

जो परिमाण बताया गया है उसे देखते हुए श्वेताम्बरों के अंग आगम एकदेश ही सिद्ध होते हैं। ये आगम आधुनिक दिगम्बरों को मान्य हों या न हों यह एक दूसरा प्रश्न है। किन्तु श्वेतांबरों ने जिन अंगों को संकलित कर सुरक्षित रखा है उसमें अंगों का एक अंश—बड़ा अंश विद्यमान है—इतनी बात में तो शंका का कोई स्थान होना नहीं चाहिए। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उन अंगों में यत्र-तत्र प्रक्षेप भी हैं और प्रश्नव्याकरण तो नया ही बनाया गया है।

इस चर्चा के प्रकाश में यदि हम निम्न वाक्य जो पं० कैलाशचन्द्र ने अपनी पीठिका में लिखा है उसे निराधार कहें तो अनुचित नहीं माना जायगा। उन्होंने लिखा है—"और अन्त में महावीरनिर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अंगों का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।" पीठिका पृ० ५१८। उनका यह मत स्वयं धवला और जयधवला के अभिमतों से विरुद्ध है और अपनी ही कल्पना के आधार पर खड़ा किया गया है।

श्रुतावतार :

श्रुतावतार की परंपरा श्वेतांबर-दिगंबरों में एक सी ही है किन्तु पं० कैलाशचन्द्रजी ने उसमें भी भेद बताने का प्रयत्न किया है अतएव यहाँ प्रथम दोनों संप्रदायों में इसी विषय में किस प्रकार ऐक्य है, सर्वप्रथम इसकी चर्चा करके बाद में पंडितजी के कुछ प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। भ० महावीर शासन के नेता थे और उनके अनेक गणधर थे इस विषय में दोनों संप्रदायों में कोई मतभेद नहीं। भगवान् महावीर या अन्य कोई तीर्थंकर अर्थ का ही उपदेश देते हैं, सूत्र की रचना नहीं करते इसमें भी दोनों संप्रदायों का ऐकमत्य है।

श्रुतावतार का क्रम बताते हुए अनुयोगद्वार में कहा गया है—

"अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे। तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे, गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परंपरागमे। तेण परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणंतरागमे, परंपरागमे।"—अनुयोगद्वार सू० १४४, पृ० २१९। इसी का पुनरावर्तन निशीथचूर्णि (पृ० ४) आदि में भी किया गया है।

पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इस विषय में जो लिखा है वह इस प्रकार है—"तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः ।....तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्—अङ्गपूर्वलक्षणम् ।"—सर्वार्थसिद्धि १.२० ।

स्पष्ट है कि पूज्यपाद के समय तक ग्रन्थरचना के विषय में श्वेताम्बर-दिगंबर में कोई मतभेद नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि केवल एक ही गणधर सूत्र रचना नहीं करते किन्तु अनेक गणधर सूत्ररचना करते हैं। पूज्यपाद को तो यही परंपरा मान्य है जो श्वेताम्बरों के संमत अनुयोग में दी गई है यह स्पष्ट है। इसी परंपरा का समर्थन आचार्य अकलंक और विद्यानन्द ने भी किया है—

"बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः अनुस्मृतग्रन्थरचनम्—आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमुच्यते ।"—राजवार्तिक १. २०. १२, पृ० ७२ । "तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेः, 'अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितम्' इति वचनात् ।" तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६; "द्रव्यश्रुतं हि द्वादशाङ्गं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतम्, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशयाच्च उत्पद्यमानं कथमाप्तायत्तं न भवेत् ?" वही पृ० १ ।

इस तरह आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंक और आचार्य विद्यानन्द ये सभी दिगंबर आचार्य स्पष्ट रूप से मानते हैं कि सभी गणधर सूत्र-रचना करते हैं।

ऐसी परिस्थिति में इन आचार्यों के मत के अनुसार यही फलित होता है कि गौतम गणधर ने और अन्य सुधर्मा आदि ने भी ग्रन्थरचना की थी। केवल गौतम ने ही ग्रन्थरचना की हो और सुधर्मा आदि ने न की हो यह फलित नहीं होता। यह परिस्थिति विद्यानन्द तक तो मान्य थी ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा ही मत श्वेताम्बरों का भी है।

पं० कैलाशचन्द्र ने यह लिखा है कि "हमने इस बात को खोजना चाहा कि जैसे दिगंबर परंपरा के अनुसार प्रधान गणधर गौतम ने महावीर की देशना को अंगों में गूंथा वैसे श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार महावीर की वाणी को सुनकर उसे अंगों में किसने निबद्ध किया ? किन्तु खोजने पर भी हमें किसी खास गणधर का निर्देश इस संबंध में नहीं मिला ।"—पीठिका पृ० ५३० ।

इस विषय में प्रथम यह बता देना जरूरी है कि यहाँ पं० कैलाशचन्द्रजी यह बात 'केवल गौतम ने ही अंगरचना की थी'—इस मन्तव्य को मानकर ही

कह रहे हैं। और यह मन्तव्य धवला से उन्हें मिला है जहाँ यह कहा गया है कि गौतम ने अंगज्ञान सुधर्मा को दिया। अतएव यह फलित किया गया कि सुधर्मा ने अंगग्रथन नहीं किया था, केवल गौतम ने किया था।

हमने ऊपर जो पूज्यपाद आदि धवला से प्राचीन आचार्यों के अवतरण दिये हैं उससे तो यही फलित होता है कि धवलाकार ने अपना यह नया मन्तव्य प्रचलित किया है यदि—जैसा कि पंडित कैलाशचन्द्र ने माना है—यही सच हो। अतएव धवलाकार के वाक्य की संगति बैठाना हो तो इस विषय में दूसरा ही मार्ग लेना होगा या यह मानना होगा कि धवलाकार प्राचीन आचार्यों से पृथक् मतान्तर को उपस्थित कर रहे हैं, जिसका कोई प्राचीन आधार नहीं है। यह केवल उन्हीं का चलाया हुआ मत है। हमारा मत तो यही है कि धवलाकार के वाक्य की संगति बैठाने का दूसरा ही मार्ग लेना चाहिए, न कि पूर्वाचार्यों के मत के साथ उनकी विसंगति का।

अब यह देखा जाय कि क्या श्वेताम्बरों ने किसी गणधर व्यक्ति का नाम सूत्र के रचयिता के रूप में दिया है कि नहीं जिसकी खोज तो पं० कैलाशचन्द्र ने की किन्तु वे विफल रहे।

आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा है—

"एक्कारस वि गणधरे पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणधरवंसं वायगवंसं पवयणं च ॥ ८० ॥

—विशेषा० १०६२

इसकी टीका में आचार्य मलधारी ने स्पष्टरूप से लिखा है—

"गौतमादीन् वन्दे। कथं भूतान् प्रकर्षेण प्रधानाः आदौ वा वाचकाः प्रवाचकाः प्रवचनस्य आगमस्य।"—पृ० ४९०।[1]

इसी निर्युक्तिगाथा की भाष्यगाथाओं की स्वोपज्ञ टीका में जिनभद्र ने भी लिखा है—

"यथा अर्हन्नर्थस्य वक्तेति पूज्यस्तथा गणधराः गौतमादयः सूत्रस्य वक्तार इति पूज्यन्ते मङ्गलत्वाच्च।"

प्रस्तुत में गौतमादिका स्पष्ट उल्लेख होने से 'श्वेताम्बरों में साधारण रूप से गणधरों का उल्लेख है किन्तु खास नाम नहीं मिलता'—यह पंडितजी का कथन निर्मूल सिद्ध होता है।

---

१. यह पुस्तक पंडितजी ने देखी है अतएव इसका अवतरण यहाँ दिया है।

यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि पंडितजी ने अपनी पीठिका में जिन "तवनियमनाण" इत्यादि निर्युक्ति की दो गाथाओं को विशेषावश्यक से उद्धृत किया है (पीठिका पृ० ५३० की टिप्पणी) उनकी टीका तो पंडितजी ने अवश्य ही देखी होगी—उसमें आचार्य हेमचन्द्र स्पष्टरूप से लिखते हैं—

"तेन विमलबुद्धिमयेन पटेन गणधरा गौतमादयो"—विशेषा० टीका० गा० १०६५, पृ० ५०२। ऐसा होते हुए भी पंडितजी को श्वेताम्बरों में सूत्र के रचयिता के रूप में खास गणधर के नाम का उल्लेख नहीं मिला—यह एक आश्चर्यजनक घटना ही है। और यदि पंडितजी का मतलब यह हो कि किसी खास = एक ही व्यक्ति का नाम नहीं मिलता तो यह बता देना जरूरी है कि श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों के मत से जब सभी गणधर प्रवचन की रचना करते हैं तो किसी एक ही का नाम तो मिल ही नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में इसके आधार पर पंडितजी ने श्रुतावतार की परंपरा में दोनों संप्रदायों के भेद को मान कर जो कल्पनाजाल खड़ा किया है वह निरर्थक है।

पं० कैलाशचन्द्रजी मानते हैं कि श्वेताम्बर-वाचनागत अंगज्ञान सार्वजनिक है "किन्तु दिगंबर-परंपरा में अंगज्ञान का उत्तराधिकार गुरु-शिष्य परंपरा के रूप में ही प्रवाहित होता हुआ माना गया है। उसके अनुसार अंगज्ञान ने कभी भी सार्वजनिक रूप नहीं लिया।"—पीठिका पृ० ५४३। यहाँ पंडितजी का तात्पर्य ठीक समझ में नहीं आता। गुरु अपने एक ही शिष्य को पढ़ाता था और वह फिर गुरु बन कर अपने शिष्य को—इस प्रकार की परंपरा दिगंबरों में चली है—क्या पंडितजी का यह अभिप्राय है? यदि गुरु अनेक शिष्यों को पढ़ाता होगा तब तो अंगज्ञान श्वेताम्बरों की तरह सार्वजनिक हो जायगा। और यदि यह अभिप्राय है कि एक ही शिष्य को, तब शास्त्रविरोध पंडितजी के ध्यान के बाहर गया है—यह कहना पड़ता है। षट्खंडागम की धवला में परिपाटी और अपरिपाटी से सकल श्रुत के पारगामी का उल्लेख है। उसमें अपरिपाटी से—'अपरिवाडिए पुण सयलसुदपारगा संखेज्जसहस्सा" (धवला पृ० ६५) का उल्लेख है—इसका स्पष्टीकरण पंडितजी क्या करेंगे? हमें तो यह समझ में आता है कि युगप्रधान या वंशपरंपरा में जो क्रमशः आचार्य-गणधर हुए अर्थात् गण के मुखिया हुए उनका उल्लेख परिपाटीक्रम में समझना चाहिए और गण के मुख्य आचार्य के अलावा जो श्रुतधर थे वे परिपाटीक्रम से संबद्ध न होने से अपरिपाटी में गिने गये। वैसे अपरिपाटी में सहस्रों की संख्या में सकल श्रुतधर थे। तो यह अंगश्रुत श्वेतांबरों की तरह दिगंबरों में भी सार्वजनिक था ही यह मानना

पड़ता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जयधवला में यह स्पष्ट लिखा है कि सुधर्मा ने केवल एक जंबू को ही नहीं किन्तु अंगों की वाचना अपने अनेक शिष्यों को दी थी—"तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जंबूसामियादीणमणेयाणमाइरियाणं वक्खाणिददुवालसंगो घाइचउक्कक्खयेण केवली जादो।"—जयधवला पृ० ८४।

यहाँ स्पष्टरूप से जंबू ने अपने शिष्य ऐसे एक नहीं किन्तु अनेक आचार्यों को द्वादशांग पढ़ाया है—ऐसा उल्लेख है। इस पर से क्या हम कल्पना नहीं कर सकते कि संघ में श्रुतधरों की संख्या बहुत बड़ी होती थी? ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर-दिगंबरों में जिस विषय में कभी भेद रहा नहीं उस विषय में भेद की कल्पना करना उचित नहीं है। प्राचीन परंपरा के अनुसार श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों में यही मान्यता फलित होती है कि सभी गणधर सूत्ररचना करते थे और अपने अनेक शिष्यों को उसकी वाचना देते थे। एक बात और यह भी है कि अंगज्ञान सार्वजनिक हो गया श्वेताम्बरों में और दिगंबरों में नहीं हुआ—इससे पंडितजी का विशेष तात्पर्य क्या यह है कि केवल दिगंबर परंपरा में ही गुरु-शिष्य परंपरा से ही अंगज्ञान प्रवाहित हुआ और श्वेताम्बरों में नहीं? यदि ऐसा ही उनका मन्तव्य है जैसा कि उनके आगे उद्धृत अवतरण से स्पष्ट है तो यह भी उनका कहना उचित नहीं जंचता। हमने आचार्य जिनभद्र के अवतरणों से यह स्पष्ट किया ही है कि उनके समय तक यही परंपरा थी कि शिष्य को गुरुमुख से ही और वह भी उनकी अनुमति से ही, चोरी से नहीं, श्रुत का पाठ लेना जरूरी था और यही परंपरा विशेषावश्यक के टीकाकार हेमचन्द्र ने भी मानी है। इतना ही नहीं आज भी यह परंपरा श्वेताम्बरों में प्रचलित है कि योगपूर्वक, तपस्यापूर्वक गुरुमुख से ही श्रुतपाठ शिष्य को लेना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह उसका पाठी कहा जायगा। ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर-परंपरा में वह सार्वजनिक हो गया और दिगंबर-परंपरा में गुरुशिष्य परंपरा तक सीमित रहा—पंडितजी का यह कहना कहाँ तक संगत है?

सार्वजनिक' से तात्पर्य यह हो कि कई साधुओं ने मिल कर अंग की वाचना निश्चित की अतएव श्वेताम्बरों में वह व्यक्तिगत न रहा और सार्वजनिक हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक हो जाने से ही दिगंबरों ने अंगशास्त्र को मान्यता न दी हो यह बात हमारी समझ से तो परे है। कोई एक व्यक्ति कहे वही सत्य और अनेक मिलकर उसकी सचाई की मोहर दें तो वह सत्य नहीं—ऐसा मानने वाला उस काल का दिगंबर संप्रदाय होगा—ऐसा मानने को हमारा मन तो तैयार

नहीं। इसके समर्थन में कोई उल्लेख भी नहीं है। आज का दिगंबर समाज जिस किसी कारण से श्वेताम्बरसम्मत आगमों को न मानता हो उसकी खोज करना जरूरी है किन्तु उसका कारण यह तो नहीं हो सकता कि चूंकि अंग सार्वजनिक हो गये थे अतएव वे दिगंबर समाज में मान्य नहीं रहे। अतएव पंडितजी का यह लिखना कि "उसने इस विषय में जन-जन की स्मृति को प्रमाण नहीं माना" निराधार है, कोरी कल्पना है। आखिर जिनके लिए पंडितजी ने 'जन-जन' शब्द का प्रयोग किया है वे कौन थे? क्या उन्होंने अपने गुरुओं से अंगज्ञान लिया ही नहीं था? अपनी कल्पना से ही अंगों का संकलन कर दिया था? हमारा तो विश्वास है कि जिनको पंडितजी ने 'जन-जन' कहा है वे किसी आचार्य के शिष्य ही थे और उन्होंने अपने आचार्य से सीखा हुआ श्रुत ही वहां उपस्थित किया था। इसीलिए तो कहा गया है कि जिसको जितना याद था उसने उतना वहां उपस्थित किया।

प्रस्तुत पुस्तक में

अं

ग

आ

ग

म

प्रकरण १

जैन श्रुत

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन

अचेलक परम्परा व श्रुतसाहित्य

श्रुतज्ञान

अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत

सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत

सादिक, अनादिक, सपर्यवसित व अपर्यवसित श्रुत

गमिक-अगमिक, अंगप्रविष्ट-अनंगप्रविष्ट व कालिक-उत्कालिक श्रुत

प्रथम प्रकरण

जैन श्रुत

महान् लिपिशास्त्री श्री ओझाजी का निश्चित मत है कि ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज, स्याही, लेखनी आदि का परिचय हमारे पूर्वजों को प्राचीन समय से ही था। ऐसा होते हुए भी किसी भारतीय अथवा एशियाई धर्म-परम्परा के मूलभूत धर्मशास्त्र अधिकांशतया रचना के समय ही ताड़पत्र अथवा कागज पर लिपिबद्ध हुए हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

आज से पचीस सौ वर्ष अथवा इससे दुगुने समय पहले के जिज्ञासु अपने-अपने धर्मशास्त्रों को आदर व विनयपूर्वक अपने-अपने गुरुओं द्वारा प्राप्त कर सकते थे। वे इस प्रकार से प्राप्त होनेवाले शास्त्रों को कंठाग्र करते तथा कंठाग्र पाठों को बार-बार स्मरण कर याद रखते। धर्मवाणी के शुद्ध उच्चारण सुरक्षित रहें, इसका वे पूरा ध्यान रखते। कहीं काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि निरर्थकरूप से प्रविष्ट न हो जायँ अथवा निकल न जायँ, इसकी भी वे पूरी सावधानी रखते।

अवेस्ता एवं वेदों के विशुद्ध उच्चारणों की सुरक्षा का आवेस्तिक पंडितों एवं वैदिक पुरोहितों ने पूरा ध्यान रखा है। इसका समर्थन वर्तमान में प्रचलित अवेस्ता-गाथाओं एवं वेद-पाठों की उच्चारण-प्रक्रिया से होता है।

जैन परम्परा में भी आवश्यक क्रियाकाण्ड के सूत्रों की अक्षरसंख्या, पदसंख्या, लघु एवं गुरु अक्षरसंख्या आदि का खास विधान है। सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना, उच्चारण करते समय किन-किन दोषों से दूर रहना—इत्यादि का अनुयोगद्वार आदि में स्पष्ट विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा में भी उच्चारण विषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी। वर्तमान में भी विधिज्ञ इसी प्रकार परम्परा के अनुसार सूत्रोच्चारण करते हैं एवं यति आदि का पालन करते हैं।

इस प्रकार विशुद्ध रीति से संचित श्रुतसम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यों को सौंपते तथा शिष्य पुनः अपनी परम्परा के प्रशिष्यों को सौंपते। इस तरह श्रुत की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरन्तर प्रवाह के रूप में चलती रही।

महावीर-निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात् विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी में जब वलभी में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया तब से कंठाग्र-प्रथा धीरे-धीरे कम होने लगी और अब तो यह बिलकुल मंद हो गई है।

जिस समय कंठाग्रपूर्वक शास्त्रों को स्मरण रखने की प्रथा चालू थी उस समय इस कार्य को सुव्यवस्थित एवं अविसंवादी रूप से सम्पन्न करने के लिए एक विशिष्ट एवं आदरणीय वर्ग विद्यमान था जो उपाध्याय के रूप में पहचाना जाता था। जैन परम्परा में अरिहंत आदि पांच परमेष्ठी माने जाते हैं। उनमें इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है। इस प्रकार संघ में इस वर्ग की विशेष प्रतिष्ठा है।

धर्मशास्त्र प्रारंभ में लिखे गये न थे अपितु कंठाग्र थे एवं स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए शास्त्रों के लिए वर्तमान में प्रयुक्त श्रुति, स्मृति एवं श्रुत शब्द पर्याप्त हैं।

विद्वज्जगत् जानता है कि ब्राह्मण परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रों का नाम श्रुति है एवं तदनुवर्ती बाद के शास्त्रों का नाम स्मृति है। श्रुति एवं स्मृति—ये दोनों शब्द रूढ़ नहीं अपितु यौगिक हैं तथा सर्वथा अन्वर्थक हैं। जैन परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रों का नाम श्रुत है। श्रुति एवं स्मृति की ही भांति श्रुत शब्द भी यौगिक है। अतः इन नामों वाले शास्त्र सुन-सुन कर सुरक्षित रखे गये हैं, ऐसा स्पष्टतया फलित होता है। आचारांग आदि सूत्र 'सुयं मे' आदि वाक्यों से शुरू होते हैं। इसका अर्थ यही है कि शास्त्र सुने हुए हैं एवं सुनते-सुनते चलते आये हैं।

प्राचीन जैन आचार्यों ने जो श्रुतज्ञान का स्वरूप बताया है एवं उसके विभाग किये हैं उसके मूल में भी यह 'सुयं' शब्द रहा हुआ है, ऐसा मानने में कोई हर्ज नहीं है।

वैदिक परम्परा में वेदों के सिवाय अन्य किसी भी ग्रंथ के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जबकि जैन परम्परा में समस्त शास्त्रों के लिए, फिर चाहे वे प्राचीन हों अथवा अर्वाचीन, श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार श्रुत शब्द मूलतः यौगिक होते हुए भी अब वह रूढ हो गया है।

जैसा कि पहले कहा गया है, हजारों वर्ष पूर्व भी धर्मोपदेशकों को लिपियों तथा लेखन-साधनों का ज्ञान था। वे लेखन-कला में निपुण भी थे। ऐसा होते हुए भी जो जैन धर्मशास्त्रों को सुव्यवस्थित रखने की व्यवस्था करने वाले थे अर्थात् जैन शास्त्रों में काना-मात्रा जितना भी परिवर्तन न हो, इसका सतत ध्यान रखने वाले महानुभाव थे उन्होंने इन शास्त्रों को सुन-सुन कर स्मरण रखने का महान् मानसिक भार क्यों कर उठाया होगा ?

अति प्राचीन काल से चली आने वाली जैन श्रमणों की चर्या, साधना एवं परिस्थिति का विचार करने पर इस प्रश्न का समाधान स्वतः हो जाता है।

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन :

जैन मुनियों की मन, वचन व काया से हिंसा न करने, न करवाने एवं करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन जैन मुनि इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिसे प्राप्त करने में हिंसा की तनिक भी संभावना रहती ऐसी वस्तुओं को वे स्वीकार न करते थे। आचारांग आदि उपलब्ध सूत्रों को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम होती है। बौद्ध ग्रंथ भी उनके लिए 'दीघतपस्सी' (दीर्घतपस्वी) शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचार-परिस्थिति के कारण ये श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर भी अपनी चर्या में अपवाद की आकांक्षा रखने वाले न थे। यही कारण है कि उन्होंने हिंसा एवं परिग्रह की संभावना वाली लेखन-प्रवृत्ति को नहीं अपनाया।

यद्यपि धर्म-प्रचार उन्हें इष्ट था किन्तु वह केवल आचरण एवं उपदेश द्वारा ही। हिंसा एवं परिग्रह की संभावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन निःस्पृह मुमुक्षुओं ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनकी इस

अहिंसा-परायणता का प्रतिबिम्ब बृहत्कल्प नामक छेद सूत्र में स्पष्टतया प्रतिबिम्बित है। उसमें स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखनेवाला श्रमण प्रायश्चित्त का भागी होता है (बृहत्कल्प, गा. ३८२१-३८३१, पृ. १०५४-१०५७)।

इस उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि कुछ साधु पुस्तकें रखते भी होंगे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् महावीर के बाद हजार वर्ष तक कोई भी आगमग्रन्थ पुस्तकरूप में लिखा हीं न गया हो। हां, यह कहा जा सकता है कि पुस्तक-लेखन की प्रवृत्ति विधानरूप से स्वीकृत न थी। अहिंसा के आचार को दृढ़रूप से पालने वाले पुस्तकें नहीं लिखते किन्तु जिन्हें ज्ञान से विशेष प्रेम था वे पुस्तकें अवश्य रखते होंगे। ऐसा मानने पर ही अंग के अतिरिक्त समग्र विशाल साहित्य की रचना संभव हो सकती है।

बृहत्कल्प में यह भी बताया गया है कि पुस्तक पास में रखने वाले श्रमण में प्रमाद-दोष उत्पन्न होता है। पुस्तक पास में रहने से धर्म-वचनों के स्वाध्याय का आवश्यक कार्य टल जाता है। धर्म-वचनों को कंठस्थ रख कर उनका बार-बार स्मरण करना स्वाध्यायरूप आन्तरिक तप है। पुस्तकें पास रहने से यह तप मन्द होने लगता है तथा गुरुमुख से प्राप्त सूत्रपाठों को उदात्त-अनुदात्त आदि मूल उच्चारणों में सुरक्षित रखने का श्रम भाररूप प्रतीत होने लगता है। परिणामतः सूत्रपाठों के मूल उच्चारणों में परिवर्तन होना प्रारंभ हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सूत्रों के मूल उच्चारण यथावत् नहीं रह पाते। उपर्युक्त तथ्यों को देखने से बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है कि पहले से ही अर्थात् भगवान् महावीर के समय से ही धर्मपुस्तकों के लेखन की प्रवृत्ति विशेष रूप में क्यों नहीं रही तथा महावीर के हजार वर्ष बाद आगमों को पुस्तकारूढ़ करने का व्यवस्थित प्रयत्न क्यों करना पड़ा ?

महावीर के निर्वाण के बाद श्रमणसंघ के आचार में शिथिलता आने लगी। उसके विभिन्न सम्प्रदाय होने लगे। अचेलक एवं सचेलक परम्परा प्रारम्भ हुई। वनवास कम होने लगा। लोकसम्पर्क बढ़ने लगा। श्रमण चैत्यवासी भी होने लगे। चैत्यवास के साथ उनमें परिग्रह भी प्रविष्ट हुआ। ऐसा होते हुए भी धर्मशास्त्र के पठन-पाठन की परम्परा पूर्ववत् चालू थी। बीच में दुष्काल पड़े। इससे धर्मशास्त्र कंठाग्र रखना विशेष दुष्कर होने लगा। कुछ धर्मश्रुत नष्ट हुआ अथवा उसके ज्ञाता न रहे। जो धर्मश्रुत को सुरक्षित रखने की भक्तिरूप वृत्तिवाले थे उन्होंने उसे पुस्तकबद्ध कर संचित रखने की प्रवृत्ति आवश्यक

समझी। इस समय श्रमणों ने जीवनचर्या में अनेक अपवाद स्वीकार किये अतः उन्हें इस लिखने-लिखाने की प्रवृत्ति का अपवाद भी आवश्यक प्रतीत हुआ। भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण-प्रमुख स्थविरों ने श्रुत को जब पुस्तकबद्ध कर व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया तब वह अंशतः लुप्त हो चुका था[1]।

अचेलक परम्परा व श्रुतसाहित्य :

सम्पूर्ण अपरिग्रह-व्रत को स्वीकार करते हुए भी केवल लज्जा-निवारणार्थ जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को आपवादिक रूप से स्वीकार करने वाली सचेलक परम्परा के अग्रगण्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने क्षीण होते हुए श्रुतसाहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रकार पुस्तकारूढ़ करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार सर्वथा अचेलक अर्थात् शरीर एवं पींछी व कमंडल के अतिरिक्त अन्य समस्त बाह्य परिग्रह को चारित्र की विराधना समझने वाले मुनियों ने भी षट्खण्डागम आदि साहित्य को सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्न प्रारंभ किया। कहा जाता है कि आचार्य धरसेन[2] सोरठ (सौराष्ट्र) प्रदेश में स्थित गिरनार की चन्द्रगुफा में रहते थे। वे अष्टांगमहा-निमित्त शास्त्र में पारंगत थे। उन्हें ऐसा मालूम हो गया कि अब श्रुतसाहित्य का विच्छेद हो जाएगा ऐसा भयंकर समय आ गया है। यह जानकर भयभीत हुए प्रवचनप्रेमी धरसेन ने दक्षिण प्रदेश में विचरने वाले महिमा नगरी में एकत्रित आचार्यों पर एक पत्र लिख भेजा। पत्र पढ़कर आचार्यों ने आंध्र प्रदेश के वेन्नातट नगर के विशेष बुद्धिसम्पन्न दो शिष्यों को आचार्य धरसेन के पास भेज दिया। आये हुए शिष्यों की परीक्षा करने के बाद उन्हें धरसेन ने अपनी विद्या अर्थात् श्रुतसाहित्य पढ़ाना प्रारम्भ किया। पढ़ते-पढ़ते आषाढ़ शुक्ला एकादशी का दिवस आ पहुँचा। इस दिन ठीक दोपहर में उनका अध्ययन पूर्ण हुआ। आचार्य दोनों शिष्यों पर बहुत प्रसन्न हुए एवं उनमें से एक का नाम भूतबली व दूसरे का नाम पुष्पदन्त रखा। इसके बाद दोनों शिष्यों को वापस भेजा। उन्होंने सोरठ से वापस जाते हुए अंकुलेसर (अंकुलेश्वर या अंकलेश्वर) नामक ग्राम में चातुर्मास किया। तदनन्तर आचार्य पुष्पदन्त वनवास के लिए गये एवं आचार्य भूतबली

---

[1] वेदसाहित्य विशेष प्राचीन है।, तद्विषयक लिखने-लिखाने की प्रवृत्ति का भी पुरोहितों ने पूरा ध्यान रखा है। ऐसा होते हुए भी वेदों की श्लोकसंख्या जितनी प्राचीनकाल में थी उतनी वर्तमान में नहीं है।

[2] बृहट्टिप्पनिका में **'योनिप्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम्'** इस प्रकार का उल्लेख है। ये दोनों धरसेन एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न, एतद्विषयक कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

द्रमिल (द्रविड़) में गये। आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित नामक शिष्य को दीक्षा दी। फिर बीस सूत्रों की रचना की एवं जिनपालित को पढ़ाकर उसे द्रविड़ देश में आचार्य भूतबली के पास भेजा। भूतबली ने यह जानकर कि आचार्य पुष्पदन्त अल्प आयु वाले हैं तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत सम्बन्धी जो कुछ श्रुतसाहित्य है वह उनकी मृत्यु के बाद नहीं रह सकेगा, द्रव्यप्रमाणानुयोग को प्रारंभ में रखकर षट्खण्डागम की रचना की। इस प्रकार इस खंडसिद्धान्त-श्रुत के कर्ता के रूप में आचार्य भूतबली तथा पुष्पदन्त दोनों माने जाते हैं।[1] इस कथानक में सोरठ प्रदेश का उल्लेख आता है। श्री देवर्धिगणि की ग्रंथलेखन-प्रवृत्ति का सम्बन्ध भी सोरठ प्रदेश की ही वलभी नगरी के साथ है।

जब विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आचार्य अभयदेव ने अंगग्रंथों पर वृत्तियाँ लिखीं तब कुछ श्रमण उनके इस कार्य से असहमत थे, यह अभयदेव के प्रबन्ध में स्पष्टतया उल्लिखित है।

इसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रंथलेखन की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई तब तत्कालीन समस्त जैन परम्परा की इस कार्य में सहमति रही होगी। फिर भी जिन्होंने अपवाद-मार्ग का अवलम्बन लेकर भी ग्रंथलेखन द्वारा धर्मवचनों को सुरक्षित रखने का पवित्रतम कार्य किया है उनका हमपर—विशेषकर संशोधकों पर महान् उपकार है।

श्रुतज्ञान :

जैन परम्परा में प्रचलित 'श्रुत' शब्द केवल जैन शास्त्रों के लिए ही रूढ़ नहीं है। शास्त्रों के अतिरिक्त 'श्रुत' शब्द में लिपियाँ भी समाविष्ट हैं। 'श्रुत' के जितने भी कारण अर्थात् निमित्तकारण हैं वे सब 'श्रुत' में समाविष्ट होते हैं। ज्ञानरूप कोई भी विचार भावश्रुत कहलाता है। यह केवल आत्मगुण होने के कारण सदा अमूर्त होता है। विचार को प्रकाशित करने का निमित्त कारण शब्द है अतः वह भी निमित्त-नैमित्तिक के कथंचित् अभेद की अपेक्षा से 'श्रुत' कहलाता है। शब्द मूर्त होता है। उसे जैन परिभाषा में 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं। शब्द की ही भांति भावश्रुत को सुरक्षित एवं स्थायी रखने के जो भी निमित्त अर्थात् कारण हैं वे सभी 'द्रव्यश्रुत' कहलाते हैं। इनमें समस्त लिपियों का समावेश होता है। इनके अतिरिक्त कागज, स्याही, लेखनी आदि भी परम्परा

[1] षट्खण्डागम, प्रथम भाग, पृ० ६७-७१.

की अपेक्षा से 'श्रुत' कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि ज्ञानपंचमी अथवा श्रुतपंचमी के दिन सब जैन सामूहिक रूप से एकत्र होकर इन साधनों का तथा समस्त प्रकार की जैन पुस्तकों का विशाल प्रदर्शन करते हैं एवं उत्सव मनाते हैं। देव-प्रतिमा के समान इनके पास घृत-दीपक जलाते हैं एवं वंदन, नमन, पूजन आदि करते हैं। प्रत्येक शब्द, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो—व्यक्त हो अथवा अव्यक्त—'द्रव्यश्रुत' में समाविष्ट होता है। प्रत्येक भावसूचक संकेत—जैसे छींक, खंखार आदि—का भी व्यक्त शब्द के ही समान द्रव्यश्रुत में समावेश होता है। द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत के विषय में आचार्य देववाचक ने स्वरचित नन्दिसूत्र में विस्तृत एवं स्पष्ट चर्चा की है।

नन्दिसूत्रकार ने ज्ञान के पांच प्रकार बताये हैं: मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान व केवलज्ञान। जैन परम्परा में 'प्रत्यक्ष' शब्द के दो अर्थ स्वीकृत हैं। पहला अक्ष अर्थात् आत्मा। जो ज्ञान सीधा आत्मा द्वारा ही हो, जिसमें इन्द्रियों अथवा मन की सहायता की आवश्यकता न हो वह ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। दूसरा अक्ष अर्थात् इन्द्रियां एवं मन। जो ज्ञान इन्द्रियों एवं मन की सहायता से उत्पन्न हो वह व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त पांच ज्ञानों में अवधि, मनःपर्याय व केवल—ये तीन पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं एवं मति व्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

श्री भद्रबाहुविरचित आवश्यक-निर्युक्ति, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणरचित विशेषावश्यकभाष्य, श्री हरिभद्रविरचित आवश्यक-वृत्ति आदि अनेक ग्रंथों में पंचज्ञान-विषयक विस्तृत चर्चा की गई है। इसे देखते हुए ज्ञान अथवा प्रमाण के स्वरूप, प्रकार आदि की चर्चा प्रारंभ में कितनी संक्षिप्त थी तथा धीरे-धीरे कितनी विस्तृत होती गई, इसका स्पष्ट पता लग जाता है। ज्यों-ज्यों तर्कदृष्टि का विकास होता गया त्यों-त्यों इस चर्चा का भी विस्तार होता गया।

यहां इस लंबी चर्चा के लिए अवकाश नहीं है। केवल श्रुतज्ञान का परिचय देने के लिए तत्सम्बद्ध प्रासंगिक विषयों का स्पर्श करते हुए आगे बढ़ा जाएगा।

इन्द्रियों तथा मन द्वारा होने वाले बोध को मतिज्ञान कहते हैं। इसे अन्य दार्शनिक 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। जबकि जैन परम्परा में इसे 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है। इन्द्रिय-मन निरपेक्ष सीधा आत्मा द्वारा न होने के कारण मतिज्ञान वस्तुतः परोक्ष ही है।

दूसरा श्रुतज्ञान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद हैं : द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। भावश्रुत आत्मोपयोगरूप अर्थात् चेतनारूप होता है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत की उत्पत्ति में निमित्तरूप व जनकरूप होता है एवं भावश्रुत से जन्य भी होता है। यह भाषारूप एवं लिपिरूप है। कागज, स्याही, लेखनी, दावात, पुस्तक इत्यादि समस्त श्रुतसाधन द्रव्यश्रुत के ही अन्तर्गत हैं।

श्रुतज्ञान के परस्पर विरोधी सात युग्म कहे गये हैं अर्थात् देववाचक ने श्रुतज्ञान के सब मिलाकर चौदह भेद बताए हैं। इन चौदह भेदों में सब प्रकार का श्रुतज्ञान समाविष्ट हो जाता है। यहाँ निम्नोक्त छः युग्मों की चर्चा विवक्षित है :—

१. अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत, २. सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत, ३. सादिकश्रुत व अनादिकश्रुत, ४. सपर्यवसित अर्थात् सान्तश्रुत व अपर्यवसित अर्थात् अनन्तश्रुत, ५. गमिकश्रुत व अगमिकश्रुत, ६. अंगप्रविष्टश्रुत व अनंगप्रविष्ट अर्थात् अंगबाह्यश्रुत।

अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत :

इस युग्म में प्रयुक्त 'अक्षर' शब्द भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध कराता है। अक्षरश्रुत भावरूप है अर्थात् आत्मगुणरूप है। उसे प्रकट करने में तथा उसकी वृद्धि एवं विकास करने में जो अक्षर अर्थात् ध्वनियाँ, स्वर अथवा व्यञ्जन निमित्तरूप होते हैं उनके लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग होता है। ध्वनियों के संकेत भी 'अक्षर' कहलाते हैं। संक्षेप में अक्षर का अर्थ है अक्षरात्मक ध्वनियाँ तथा उनके समस्त संकेत। ध्वनियों में समस्त स्वर-व्यञ्जन समाविष्ट होते हैं। संकेतों में समस्त अक्षररूप लिपियों का समावेश होता है।

आज के इस विज्ञानयुग में भी अमुक देश अथवा अमुक लोग अपनी अभीष्ट अमुक प्रकार की लिपियों अथवा अमुक प्रकार के संकेतों को ही विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं तथा अमुक प्रकार की लिपियों व संकेतों को कोई महत्त्व नहीं देते, जब कि आज से हजारों वर्ष पहले जैनाचार्यों ने श्रुत के एक भेद अक्षरश्रुत में समस्त प्रकार की लिपियों एवं अक्षर-संकेतों को समाविष्ट किया था। प्राचीन जैन परम्परा में भाषा, लिपि अथवा संकेतों को केवल विचार-प्रकाशन के वाहन के रूप में ही स्वीकार किया गया है। उन्हें ईश्वरीय समझ कर किसी प्रकार की विशेष पूजा-प्रतिष्ठा नहीं दी गई है। इतना ही नहीं, जैन आगम तो यहाँ तक

कहते हैं कि चित्र-विचित्र भाषाएँ, लिपियाँ अथवा संकेत मनुष्य को वासना के गर्त में गिरने से नहीं बचा सकते। वासना के गर्त में गिरने से बचाने के असाधारण साधन विवेकयुक्त सदाचरण, संयम, शील, तप इत्यादि हैं। जैन परम्परा एवं जैन शास्त्रों में प्रारम्भ से ही यह घोषणा चली आती है कि किसी भी भाषा, लिपि अथवा संकेत द्वारा चित्त में जड़ जमाये हुए राग-द्वेषादिक की परिणति को कम करनेवाली विवेकयुक्त विचारधारा ही प्रतिष्ठायोग्य है। इस प्रकार की मान्यता में ही अहिंसा की स्थापना व आचरण निहित है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इसी में मानवजाति का कल्याण है। इसके अभाव में विषमता, वर्गविग्रह व क्लेशवर्धन की ही संभावना रहती है।

जिस प्रकार अक्षरश्रुत में विविध भाषाएँ, विविध लिपियाँ एवं विविध संकेत समाविष्ट हैं उसी प्रकार अनक्षरश्रुत में श्रूयमाण अव्यक्त ध्वनियों तथा दृश्यमान शारीरिक चेष्टाओं का समावेश किया गया है। इस प्रकार की ध्वनियाँ एवं चेष्टाएँ भी अमुक प्रकार के बोध का निमित्त बनती हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बोध के समस्त निमित्त, श्रुत में समाविष्ट हैं। इस प्रकार कराह, चीत्कार, निःश्वास, खंखार, खांसी, छींक आदि बोध-निमित्त संकेत अनक्षरश्रुत में समाविष्ट हैं। रोगी की कराह उसकी व्यथा की ज्ञापक होती है। चीत्कार व्यथा अथवा वियोग की ज्ञापक हो सकती है। निःश्वास दुःख एवं विरह का सूचक है। छींक किसी विशिष्ट संकेत की सूचक हो सकती है। थूकने की चेष्टा निन्दा अथवा तिरस्कार की भावना प्रकट कर सकती है अथवा किसी अन्य तथ्य का संकेत कर सकती है। इसी प्रकार आँख के इशारे भी विभिन्न चेष्टाओं को प्रकट करते हैं।

एक पुरुष अपनी परिचित एक स्त्री के घर में घुसा। घर में स्त्री की सास थी। उसे देख कर स्त्री ने गाली देते हुए जोर से उसकी पीठ पर एक थप्पा लगाया। कपड़े पर भरे हुए मैले हाथ की पांचों उंगलियाँ उठ आईं। इस संकेत का पुरुष ने यह अर्थ निकाला कि कृष्णपक्ष की पंचमी के दिन फिर आना। पुरुष का निकाला हुआ यह अर्थ ठीक था। उस स्त्री ने इसी अर्थ के संकेत के लिए थप्पा लगाया था।

इस प्रकार अव्यक्त ध्वनियाँ एवं विशिष्ट प्रकार की चेष्टाएँ भी अमुक प्रकार के बोध का निमित्त बनती हैं। जो लोग इन ध्वनियों एवं चेष्टाओं का रहस्य समझते हैं उन्हें इनसे अमुक प्रकार का निश्चित बोध होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के सर्वसम्मत सार्वत्रिक साहचर्य को ध्यान में रखते हुए यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि सांकेतिक भाषा के अतिरिक्त सांकेतिक चेष्टाएँ भी श्रुतज्ञान में समाविष्ट हैं। ऐसा होते हुए भी इस विषय में भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकवृत्ति में तथा आचार्य मलयगिरि ने नन्दिवृत्ति में जो मत व्यक्त किया है उसका यहाँ निर्देश करना आवश्यक है।

उक्त तीनों आचार्य लिखते हैं कि अश्रूयमाण शारीरिक चेष्टाओं को अनक्षरश्रुत में समाविष्ट न करने की रूढ़ परम्परा है। तदनुसार जो सुनने योग्य है वही श्रुत है, अन्य नहीं। जो चेष्टाएँ सुनाई न देती हों उन्हें श्रुतरूप नहीं समझना चाहिए।[1] यहाँ 'श्रुत' शब्द को रूढ़ न मानते हुए यौगिक माना गया है।

अचेलक परम्परा के तत्त्वार्थ-राजवार्तिक नामक ग्रंथ में बताया गया है कि 'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्दः……इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति' अर्थात् 'श्रुत' शब्द रूढ़ है। श्रुतज्ञान में किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है।[2] इस व्याख्या के अनुसार श्रूयमाण एवं दृश्यमान दोनों प्रकार के संकेतों द्वारा होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान की कोटि में आता है।

मेरी दृष्टि से 'श्रुत' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए श्रूयमाण व दृश्यमान दोनों प्रकार के संकेतों व चेष्टाओं को श्रुतज्ञान में समाविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत इन दो अवान्तर भेदों के साथ श्रुतज्ञान का व्यापक विचार जैन परम्परा में अति प्राचीन समय से होता आया है। इसका उल्लेख ज्ञान के स्वरूप का विचार करने वाले समस्त जैन ग्रंथों में आज भी उपलब्ध है।

सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत :

ऊपर बताया गया है कि भाषासापेक्ष, अव्यक्तध्वनिसापेक्ष तथा संकेतसापेक्ष समस्तज्ञान श्रुत की कोटि में आता है। इसमें झूठा ज्ञान, चोरों को सिखाने वाला

[1] विशेषावश्यकभाष्य, गा. ५०३, पृ. २७५; हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति, पृ. २५, गा. २०; मलयगिरिनन्दिवृत्ति, पृ. १८९, सू. ३९.
[2] अ. १, सू. २०, पृ. १.

ज्ञान, अनाचार का पोषक ज्ञान इत्यादि मुक्तिविरोधी एवं आत्मविकासबाधक ज्ञान भी समाविष्ट हैं। सांसारिक व्यवहार की अपेक्षा से भले ही ये समस्त ज्ञान 'श्रुत' कहे जाएँ किन्तु जहाँ आध्यात्मिक दृष्टि की मुख्यता हो एवं इसी एक लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए समस्त प्रकार के प्रयत्न करने की बार-बार प्रेरणा दी गई हो वहाँ केवल तद्मार्गोपयोगी अक्षरश्रुत एवं अनक्षरश्रुत ही श्रुतज्ञान की कोटि में समाविष्ट हो सकता है।

इस प्रकार के मार्ग के लिए तो जिस वक्ता अथवा श्रोता की दृष्टि शमसम्पन्न हो, संवेगसम्पन्न हो, निर्वेदयुक्त हो, अनुकम्पा अर्थात् करुणावृत्ति से परिपूर्ण हो एवं देहभिन्न आत्मा में श्रद्धाशील हो उसी का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए नन्दिसूत्रकार ने बतलाया है कि शमादियुक्त वक्ता अथवा श्रोता का अक्षर-अनक्षररूपश्रुत ही सम्यक्श्रुत होता है। शमादिरहित वक्ता अथवा श्रोता का वही श्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है। इस प्रकार उक्त श्रुत के पुनः दो विभाग किये गये हैं। प्रस्तुत श्रुत-विचारणा में आत्मविकासोपयोगी श्रुत को ही सम्यक्श्रुत कहा गया है। यह विचारणा सम्प्रदायनिरपेक्ष है। इसी का परिणाम है कि तथाकथित जैन सम्प्रदाय के न होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के विषय में अर्हत्त्व अथवा सिद्धत्व का निर्देश जैन आगमों में मिलता है।

जैन शास्त्रों के द्वितीय अंग सूयगड—सूत्रकृतांग के तृतीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक की प्रथम चार गाथाओं में वैदिक परम्परा के कुछ प्रसिद्ध पुरुषों के नाम दिये गये हैं एवं उन्हें महापुरुष कहा गया है। इतना ही नहीं, उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, यह भी बताया गया है। इन गाथाओं में यह भी बताया गया है कि वे शीत जल का उपयोग करते अर्थात् ठंडा पानी पीते, स्नान करते, ठंडे पानी में खड़े रह कर साधना भी करते तथा भोजन में बीज एवं हरित अर्थात् हरी-कच्ची वनस्पति भी लेते। इन महापुरुषों के विषय में मूल गाथा में आने वाले 'तप्त-तपोधन' शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि वे तपोधन थे अर्थात् पंचाग्नि तप तपते थे तथा कंद, मूल, फल, बीज एवं हरित अर्थात् हरी-कच्ची वनस्पति का भोजनादि में उपयोग करते थे। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूल गाथाओं में निर्दिष्ट उपर्युक्त महापुरुष जैन सम्प्रदाय के क्रियाकाण्ड के अनुसार जीवन व्यतीत नहीं करते थे। फिर भी वे सिद्धि को प्राप्त हुए थे। यह बात आर्हत प्रवचन में स्वीकार की गई है। यह तथ्य जैन प्रवचन की

विशालता एवं सम्यक्श्रुत की उदारतापूर्ण व्याख्या को स्वीकार करने के लिए पर्याप्त है। जिनकी दृष्टि सम्यक् है अर्थात् शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य से परिप्लावित है उनका श्रुत भी सम्यक्श्रुत है अर्थात् उनका सम्यग्ज्ञानी होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में वे सिद्धि प्राप्त करें, इसमें आश्चर्य क्या है ? जैन प्रवचन में जिन्हें अन्यलिंगसिद्ध कहा गया है वे इस प्रकार के महापुरुष हो सकते हैं। जो जैन सम्प्रदाय के वेष में न हों अर्थात् जिनका बाह्य क्रियाकाण्ड जैन सम्प्रदाय का न हो फिर भी जो आन्तरिक शुद्धि के प्रभाव से सिद्धि—मुक्ति को प्राप्त हुए हों वे अन्यलिंगसिद्ध कहलाते हैं। उपर्युक्त गाथाओं में अन्यलिंग से सिद्धि प्राप्त करने वालों के जो नाम बताये हैं वे ये हैं : असित, देवल, द्वैपायन, पाराशर, नमीविदेही, रामगुप्त, बाहुक तथा नारायण। ये सब महापुरुष वैदिक परम्परा के महाभारत आदि ग्रंथों में सुप्रसिद्ध हैं। इन गाथाओं में 'एते पुव्विं महापुरिसा आहिता इह संमता' इस प्रकार के निर्देश द्वारा मूलसूत्रकार ने यह बताया है कि ये सब प्राचीन समय के प्रसिद्ध महापुरुष हैं तथा इन्हें 'इह' अर्थात् आर्हत प्रवचन में सिद्धरूप से स्वीकार किया गया है। यहां 'इह' का सामान्य अर्थ आर्हत प्रवचन तो है ही किन्तु वृत्तिकार ने 'ऋषिभाषितादौ' अर्थात् 'ऋषिभाषित आदि ग्रंथों में' इस प्रकार का विशेष अर्थ भी बताया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित ग्रंथ इतना अधिक प्रमाणप्रतिष्ठित है कि इसका निर्देश वृत्तिकार के कथनानुसार स्वयं मूलसूत्रकार ने भी किया है।

सूत्रकृतांग में 'ऋषिभाषित' नाम का परोक्ष रूप से उल्लेख है किन्तु स्थानांग व समवायांग में तो इसका स्पष्ट निर्देश है। इनमें उसकी अध्ययन-संख्या भी बताई गई है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनों के नाम बताते हुए 'ऋषिभाषित' नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[1] 'ऋषिभाषित के चौवालीस अध्ययन देवलोक में से मनुष्यलोक में आये हुए जीवों द्वारा कहे गये हैं' इस प्रकार 'ऋषिभाषित' नाम का तथा उसके चौवालीस अध्ययनों का निर्देश समवायांग के चौवालीसवें समवाय में है।[2] इससे मालूम होता है कि यह ग्रंथ प्रामाण्य की दृष्टि से विशेष प्रतिष्ठित होने के साथ ही विशेष प्राचीन भी है। इस ग्रंथ पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी जिससे इसकी प्रतिष्ठा व प्रामाणिकता में विशेष वृद्धि होती है।

---

[1] स्थान. १०, सूत्र ७५५,

सद्भाग्य से ऋषिभाषित ग्रंथ इस समय उपलब्ध है। यह आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें जैन सम्प्रदाय के न होने पर भी जैन परम्परा द्वारा मान्य अनेक महापुरुषों के नामों का उनके वचनों के साथ निर्देश किया गया है। जिस प्रकार इस ग्रंथ में भगवान् वर्धमान-महावीर एवं भगवान् पार्श्व के नाम का उल्लेख 'अर्हत् ऋषि' विशेषण के साथ किया गया है उसी प्रकार इसमें याज्ञवल्क्य, बुद्ध, मंखलिपुत्त आदि के नामों के साथ भी 'अर्हत् ऋषि' विशेषण लगाया गया है।[1] यही कारण है कि सूत्रकृतांग की पूर्वोक्त गाथाओं में बताया गया है कि ये महापुरुष सिद्धिप्राप्त हैं।

ऋषिभाषित में जिन अर्हद्रूप ऋषियों का उल्लेख है उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) असित देवल, (२) अंगरिसि—अंगिरस—भारद्वाज, (३) महाकश्यप, (४) मंखलिपुत्त, (५) जण्णवक्क—याज्ञवल्क्य, (६) बाहुक, (७) मधुरायण—माथुरायण, (८) सोरियायण, (९) वरिसव कण्ह, (१०) आरियायण, (११) गाथापतिपुत्र तरुण, (१२) रामपुत्र, (१३) हरिगिरि, (१४) मातंग, (१५) वायु, (१६) पिंग माहणपरिव्वायअ—ब्राह्मणपरिव्राजक, (१७) अरुण महासाल, (१८) तारायण, (१९) सातिपुत्र—शाक्यपुत्र बुद्ध, (२०) दीवायण—द्वैपायन, (२१) सोम, (२२) यम, (२३) वरुण, (२४) वैश्रमण।

इनमें से असित, मंखलिपुत्त, जण्णवक्क, बाहुक, मातंग, वायु, सातिपुत्र बुद्ध, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण व दीवायण—इन नामों के विषय में थोड़ा-बहुत वर्णन उपलब्ध होता है। असित, बाहुक, द्वैपायन, मातंग व वायु के नाम महाभारत आदि वैदिक ग्रंथों में मिलते हैं तथा उनमें इनका कुछ वृत्तान्त भी आता है। मंखलिपुत्त श्रमणपरम्परा के इतिहास में गोशालक के नाम से प्रसिद्ध है। इसे जैन आगमों व बौद्ध पिटकों में मंखलिपुत्त गोसाल कहा गया है। जण्णवक्क याज्ञवल्क्य ऋषि का नाम है जो विशेषतः बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रसिद्ध है। सातिपुत्त बुद्ध शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का नाम है।

प्राचीन व अर्वाचीन अनेक जैन ग्रंथों में मंखलिपुत्र गोशालक की खूब हँसी उड़ाई गई है। शाक्यमुनि बुद्ध का भी पर्याप्त परिहास किया गया है।

---

[1] अध्ययन २९ व ३१.

इनमें जैनश्रुत के अतिरिक्त अन्य समस्त शास्त्रों को मिथ्या कहा गया है। जिनदेव के अतिरिक्त अन्य समस्त देवों को कुदेव तथा जैनमुनि के अतिरिक्त अन्य समस्त मुनियों को कुगुरु कहा गया है। जबकि ऋषिभाषित का संकलन करनेवालों ने जैनसम्प्रदाय के लिंग तथा कर्मकाण्ड से रहित मंखलिपुत्र, बुद्ध, याज्ञवल्क्य आदि को 'अर्हत्' कहा है तथा उनके वचनों का संकलन किया है। यही नहीं, इस ग्रन्थ को आगमकोटि का माना है। तात्पर्य यह है कि जिनकी दृष्टि सम्यक् है उनके कैसे भी सादे वचन सम्यक्श्रुतरूप हैं तथा जिनकी दृष्टि शम-संवेगादि गुणों से रहित है उनके भाषा, काव्य, रस व गुण की दृष्टि से श्रेष्ठतम वचन भी मिथ्याश्रुतरूप हैं। वेद, महाभारत आदि ग्रन्थों को मिथ्याश्रुतरूप मानने वाले आचार्यों के गुरुरूप भगवान् महावीर ने जब इन्द्रभूति (गौतम) आदि के साथ आत्मा आदि के सम्बन्ध में चर्चा की तब वेद के पदों का अर्थ किस प्रकार करना चाहिए, यह उन्हें समझाया। वेद मिथ्या हैं ऐसा उन्होंने नहीं कहा। यह घटना विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद नामक प्रकरण में आज भी उपलब्ध है। भगवान् की इस प्रकार को समझाने की शैली सम्यग्दृष्टिसम्पन्न का श्रुत सम्यक्श्रुत है व सम्यग्दृष्टिहीन का श्रुत मिथ्याश्रुत है, इस तथ्य का समर्थन करती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने ग्रंथ योगदृष्टिसमुच्चय में लिखते हैं :—

> चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।
> यस्मात् एते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः॥
>
> —श्लो० १३२.

एतेषां सर्वज्ञानां कपिलसुगतादीनाम्, स्यात् भवेत्, विनेयानुगुण्यतः तथाविधशिष्यानुगुण्येन कालान्तरापापभीरुम् अधिकृत्य उपसर्जनीकृत-पर्याया द्रव्यप्रधाना नित्यदेशना, भोगावस्थावतस्तु अधिकृत्य उपसर्जनीकृतद्रव्या पर्यायप्रधाना अनित्यदेशना। न तु ते अन्वयव्यतिरेकवद्वस्तु-वेदिनो न भवन्ति सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। एवं देशना तु तथागुणदर्शनेन (तद्गुणदर्शनेन) अदुष्टैव इत्याह—यस्मात् एते महात्मानः सर्वज्ञाः। किम् ? इत्याह—भवव्याधिभिषग्वराः संसारव्याधिवैद्यप्रधानाः।

अर्थात् कपिल, सुगत आदि महापुरुष सम्यग्दृष्टिसम्पन्न सर्वज्ञपुरुष हैं। ये सब प्रपंच-रोगरूप संसार की विषम व्याधि के लिये श्रेष्ठ वैद्य के समान हैं।

इसी प्रकार उन्होंने एक जगह यह भी लिखा है :—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो वा तह य अन्नो वा।
समभावभाविअप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥

अर्थात् चाहे कोई श्वेताम्बर सम्प्रदाय का हो, चाहे दिगम्बर सम्प्रदाय का, चाहे कोई बौद्ध सम्प्रदाय का हो, चाहे किसी अन्य सम्प्रदाय का किन्तु जिसकी आत्मा समभावभावित है वह अवश्य मुक्त होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

उपाध्याय यशोविजयजी तथा महात्मा आनन्दघन जैसे साधक पुरुषों ने सम्यग्दृष्टि की उक्त व्याख्या का ही समर्थन किया है। आत्मशुद्धि की दृष्टि से सम्यक्श्रुत की यही व्याख्या विशेष रूप से आराधना की ओर ले जानेवाली है।

नंदिसूत्रकार ने यह बताया है कि तीर्थंकरोपदिष्ट आचारांगादि बारह अंग भी सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही सम्यक्श्रुतरूप हैं। जो सम्यग्दृष्टि-रहित हैं उनके लिए वे मिथ्याश्रुतरूप हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि सांगोपांग चार वेद, कपिल-दर्शन, महाभारत, रामायण, वैशेषिक-शास्त्र, बुद्ध-वचन, व्याकरण-शास्त्र, नाटक तथा समस्त कलाएँ अर्थात् बहत्तर कलाएँ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत एवं सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत हैं। अथवा सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति में निमित्तरूप होने के कारण ये सब मिथ्यादृष्टि के लिये भी सम्यक्श्रुत हैं।

नंदिसूत्रकार के इस कथन में ऐसा कहीं नहीं बताया गया है कि अमुक शास्त्र अपने आप ही सम्यक् हैं अथवा अमुक शास्त्र अपने आप ही मिथ्या हैं। सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही शास्त्रों को सम्यक् एवं मिथ्या कहा गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

आचार्य हरिभद्र के लगभग दो सौ वर्ष बाद होने वाले शीलांकाचार्य ने अपनी आचारांग-वृत्ति में जैनाभिमत क्रियाकाण्ड की समभावपूर्वक साधना करने की सूचना देते हुए लिखा है कि चाहे कोई मुनि दो वस्त्रधारी हो, तीन वस्त्रधारी हो, एक वस्त्रधारी हो अथवा एक भी वस्त्र न रखता हो अर्थात् अचेलक हो किन्तु जो एक-दूसरे की अवहेलना नहीं करते वे सब भगवान् की आज्ञा में विचरते हैं। संहनन, धृति आदि कारणों से जो भिन्न-भिन्न कल्प वाले हैं—भिन्न-भिन्न बाह्य आचार वाले हैं किन्तु एक-दूसरे का अपमान नहीं करते, न अपने को हीन ही मानते हैं वे सब आत्मार्थी जिन भगवान् की आज्ञानुसार राग-द्वेषादिक की परिणति का विनाश करने का यथाविधि प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार का विचार रखने व इसी

प्रकार परस्पर सविनय व्यवहार करने का नाम ही सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व का अभिज्ञान है।[1]

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी प्रणीत द्वादशांग गणिपिटक चतुर्दशपूर्वधर यावत् दशपूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुतरूप है। इसके नीचे के किसी भी अधिकारी के लिए वह सम्यक्श्रुत हो भी सकता है और नहीं भी। अधिकारी के सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होने पर उसके लिए वह सम्यक्श्रुत होता है व अधिकारी के मिथ्यादृष्टियुक्त होने पर उसके लिए वह मिथ्याश्रुत होता है।

नन्दिसूत्रकार के कथनानुसार अज्ञानियों अर्थात् मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रणीत वेद, महाभारत, रामायण, कपिलवचन, बुद्धवचन आदि शास्त्र मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुतरूप व सम्यक्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुतरूप हैं। इन शास्त्रों में भी कई प्रसंग ऐसे आते हैं जिन्हें सोचने-समझने से कभी-कभी मिथ्यादृष्टि भी अपना दुराग्रह छोड़ कर सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

---

[1] एतद्विषयक मूलपाठ व वृत्ति इस प्रकार है :—

मूलपाठः

"जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तं (समत्तं) एव समभिजाणिज्जा"

—आचारांग, अ० ६, उ० ३, सू० १८२.

वृत्तिः

"यथा—येन प्रकारेण 'इदम्' इति यदुक्तम्, वक्ष्यमाणं च—एतद् भगवता वीरवर्धमानस्वामिना प्रकर्षेण आदौ वा वेदितम्—प्रवेदितम्—इति।···उपकरणलाघवम् आहारलाघवं वा अभिसमेत्य—ज्ञात्वा···कथम्? सर्वतः इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतश्च।··· द्रव्यतः आहार-उपकरणादौ, क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतः अहनि रात्रौ वा दुर्भिक्षादौ वा सर्वात्मना···भावतः कृत्रिमकल्काद्यभावेन। तथा सम्यक्त्वम्—इति प्रशस्तम् शोभनम् एकम् संगतं वा तत्त्वम् सम्यक्त्वम्, तदेवंभूतं सम्यक्त्वमेव समत्वमेव वा समभिजानीयात्—सम्यग् आभिमुख्येन जानीयात्—परिच्छिन्द्यात्। तथाहि—अचेलः अपि एकचेलआदिकं नावमन्यते। यतः उक्तम्—

जो वि दुवत्थ-तिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं सव्वेऽवि य ते जिणाणाए॥
जे खलु विसरिसकप्पा संघयणधिइयादिकारणं पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नइ तेहिं॥
सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु सम्मं अभिजाणइ एवं॥"

—आचारांग-वृत्ति, पृ० २२२.

नन्दिसूत्रकार के सम्यक्श्रुतसम्बन्धी उपर्युक्त कथन में पढ़ने वाले, सुनने वाले अथवा समझने वाले की विवेकदृष्टि पर विशेष भार दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जो सम्यक्दृष्टिसम्पन्न होता है उसके लिए प्रत्येक शास्त्र सम्यक् होता है। इससे विपरीत दृष्टि वाले के लिए प्रत्येक शास्त्र मिथ्या होता है। दूध सांप भी पीता है व सज्जन भी, किन्तु अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उसका परिणाम विभिन्न होता है। साँप के शरीर में वह दूध विष बनता है जब कि सज्जन के शरीर में वही दूध अमृत बनता है। यही बात शास्त्रों के लिए भी है।

सम्यग्दृष्टि का अर्थ जैन एवं मिथ्यादृष्टि का अर्थ अजैन नहीं है। जिसके चित्त में शम, संवेग, निर्वेद, करुणा व आस्तिक्य—इन पांच वृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ हो व आचरण भी तदनुसार हो वह सम्यग्दृष्टि है। जिसके चित्त में इनमें से एक भी वृत्ति का प्रादुर्भाव न हुआ हो वह मिथ्यादृष्टि है। यह बात पारमार्थिक दृष्टि से जैनप्रवचन-सम्मत है।

सादिक, अनादिक, सपर्यवसित व अपर्यवसित श्रुत :

आचार्य देववाचक ने नन्दिसूत्र में बताया है कि श्रुत आदिसहित भी है व आदिरहित भी। इसी प्रकार श्रुत अन्तयुक्त भी है व अन्तरहित भी। सादिक अर्थात् आदियुक्त श्रुत वह है जिसका प्रारंभ अमुक समय में हुआ हो। अनादिक अर्थात् आदिरहित श्रुत वह है जिसका प्रारंभ करने वाला कोई न हो अर्थात् जो हमेशा से चला आता हो। सपर्यवसित अर्थात् सान्तश्रुत वह है जिसका अमुक समय अन्त अर्थात् विनाश हो जाता है। अपर्यवसित अर्थात् अनन्तश्रुत वह है जिसका कभी अन्त—विनाश न होता हो।

भारत में सबसे प्राचीन शास्त्र वेद और अवेस्ता हैं। वेदों के विषय में मीमांसकों का ऐसा मत है कि उन्हें किसी ने बनाया नहीं अपितु वे अनादि काल से इसी प्रकार चले आ रहे हैं। अतः वे स्वतः प्रमाणभूत हैं अर्थात् उनकी सचाई किसी व्यक्तिविशेष के गुणों पर अवलम्बित नहीं है। अमुक पुरुष ने वेद बनाये हैं तथा वह पुरुष वीतराग है, सर्वज्ञ है, अनन्तज्ञानी है अथवा गुणों का सागर है इसलिए वेद प्रमाणभूत हैं, यह बात नहीं है। वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुषविशेषद्वारा प्रणीत नहीं हैं। इसी प्रकार अमुक काल में उनकी उत्पत्ति हुई हो, यह बात भी नहीं है। इसीलिए वे अनादि हैं। अनादि होने के कारण ही वे प्रमाणभूत हैं। वेदों की रचना में अनेक प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार इनमें आर्य शब्द हैं उसी प्रकार अनार्य शब्द भी हैं।

जो इन दोनों प्रकार के शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक जानता व समझता है वही वेदों का अर्थ ठीक-ठीक समझ सकता है। वेद तो हमारे पास परम्परा से चले आते हैं किन्तु उनमें जो अनार्य शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनकी विशेष जानकारी हमें नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका समग्र अर्थ किस प्रकार समझा जा सकता है? यही कारण है कि आज तक कोई भारतीय संशोधक सर्वथा तटस्थ रहकर तत्कालीन समाज व भाषा को दृष्टि में रखते हुए वेदों का निष्पक्ष विवेचन न कर सका।

यद्यपि प्राचीन समय में उपलब्ध साधन, परम्परा, गंभीर अध्ययन आदि का अवलम्बन लेकर महर्षि यास्क ने वेदों के कई शब्दों का निर्वचन करने का उत्तम प्रयास किया है किन्तु उनका यह प्रयास वर्तमान में वेदों को तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से समझने में पूर्णरूप से सहायक होता दिखाई नहीं देता। उन्होंने निरुक्त बनाया है किन्तु वह वेदों के समस्त परिचित अथवा अपरिचित शब्दों तक नहीं पहुँच सका। यास्क के समय के वातावरण व पुरोहितों की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् यास्क की इस प्रवृत्ति का विरोध भी हुआ हो। पुरोहितवर्ग की यही मान्यता थी कि वेद अलौकिक हैं—अपौरुषेय हैं अतः उनमें प्रयुक्त शब्दों का अर्थ अथवा निर्वचन लौकिक रीति से लौकिक शब्दों द्वारा मनुष्य कैसे कर सकता है? इस प्रकार की वेद-रक्षकों की मनोवृत्ति होने के कारण भी संभवतः यास्क इस कार्य को सम्पूर्णतया न कर सके हों। इस निरुक्त के अतिरिक्त वेदों के शब्दों को तत्कालीन अर्थ-संदर्भ में समझने का कोई भी साधन न पहले था और न अभी है। सायण नामक विद्वान् ने वेदो पर जो भाष्य लिखा है वह वैदिक शब्दों को तत्कालीन वातावरण एवं संदर्भ की दृष्टि से समझाने में असमर्थ है। ये अर्वाचीन भाष्यकार हैं। इन्होंने अपनी अर्वाचीन परम्परा के अनुसार वेदों की ऋचाओं का मुख्यतः यज्ञपरक अर्थ किया है। यह अर्थ ऐतिहासिक तथा प्राचीन वेदकालीन समाज की दृष्टि से ठीक है या नहीं, इसका वर्तमान संशोधकों को विश्वास नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि आज तक वेदों का ठीक-ठीक अर्थ हमारे सामने न आ सका। स्वामी दयानन्द ने वेदों पर एक नया भाष्य लिखा है किन्तु वह भी वेदकालीन प्राचीन वातावरण व सामाजिक परिस्थिति को पूर्णतया समझाने में असमर्थ ही है।

वेदाभ्यासी स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपनी 'ओरायन' नामक पुस्तक में लिखा है कि अवेस्ता की कुछ कथाएं वेदो के समझने में सहायक होती हैं।

कुछ संशोधक विद्वान् वेदों को ठीक-ठीक समझने के लिए जंद, अवेस्ता-गाथा तथा वेदकालीन अन्य साहित्य के अभ्यासपूर्ण मनन, चिन्तन आदि पर भार देते हैं। दुर्भाग्यवश कुछ धर्मान्ध राजाओं ने जंद, अवेस्ता-गाथा आदि साहित्य को ही नष्ट कर डाला है। वर्तमान में जो कुछ भी थोड़ा-बहुत साहित्य उपलब्ध है उसे सही-सही अर्थ में समझने की परम्परा अवेस्तागाथा को प्रमाणरूप मानने वाले पारसी अध्वर्यु के पास भी नहीं है और न उस शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित ही विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में वेदों के अध्ययन में रत किसी भी संशोधक विद्वान् को निराशा होना स्वाभाविक ही है।

प्राचीन काल में शास्त्र के प्रामाण्य के लिए अपौरुषेयता एवं अलौकिकता आवश्यक मानी जाती। जो शास्त्र नया होता व किसी पुरुष ने उसे अमुक समय बनाया होता उसकी प्रतिष्ठा अलौकिक तथा अपौरुषेय शास्त्र की अपेक्षा कम होती। संभवतः इसीलिए वेदों को अलौकिक एवं अपौरुषेय मानने की प्रथा चालू हुई हो। जब चिन्तन बढ़ने लगा, तर्कशक्ति का प्रयोग अधिक होने लगा एवं हिंसा, मद्यपान आदि से जनता की बरबादी बढ़ने लगी तब वैदिक अनुष्ठानों एवं वेदों के प्रामाण्य पर भारी प्रहार होने लगे। यहां तक कि उपनिषद् के चिन्तकों एवं सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि ने इसका भारी विरोध किया एवं वेदोक्त हिंसक अनुष्ठानों का अग्राह्यत्व सिद्ध किया। उसे प्रकाश का मार्ग न कहते हुए धूम का मार्ग कहा। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य-विपश्चितः' से प्रारम्भ कर 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन!'[1] तक के वचनों में इसी का समर्थन किया। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय व तपोमय यज्ञ की महिमा बताई एवं समाज को आत्मशोधक यज्ञों की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया। अनासक्त कर्म करते रहने की अत्युत्तम प्रेरणा देकर भारतीय त्यागी वर्ग को अपूर्व शिक्षा दी। जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने तप, शम, दम इत्यादि की साधना कर हिंसा-विधायक वेदों के प्रामाण्य का ही विरोध किया एवं उनकी अपौरुषेयता तथा नित्यता का उन्मूलन कर उनके प्रामाण्य को सन्देहयुक्त बना दिया।

प्रामाण्य की विचारधारा में क्रान्ति के बीज बोने वाले जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने कहा कि शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान स्वतन्त्र नहीं है—स्वयंभू नहीं है अपितु वक्ता की वचनरूप अथवा विचारणारूप क्रिया के साथ सम्बद्ध है। लेखक अथवा

[1] अध्याय २, श्लोक ४२-४५.

वक्ता यदि निस्पृह है, करुणापूर्ण है, शम-दमयुक्त है, समस्त प्राणियों को आत्मवद् समझने वाला है, जितेन्द्रिय है, लोगों के आध्यात्मिक क्लेशों को दूर करने में समर्थ है, असाधारण प्रतिभासम्पन्न विचारधारा वाला है तो तत्प्रणीत शास्त्र अथवा वचन भी सर्वजनहितकर होता है। उसके उपर्युक्त गुणों से विपरीत गुणयुक्त होने पर तत्प्रणीत शास्त्र अथवा वचन सर्वजनहितकर नहीं होता। अतएव शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान का प्रामाण्य तदाधारभूत पुरुष पर अवलम्बित है। जो शास्त्र अथवा वचन अनादि माने जाते हैं, नित्य माने जाते हैं अथवा अपौरुषेय माने जाते हैं उनको भी उपर्युक्त ढंग से परीक्षा किए बिना उनके प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैनों ने यह भी स्वीकार किया कि शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान अनादि, नित्य अथवा अपौरुषेय अवश्य हो सकता है किन्तु वह प्रवाह—परम्परा की अपेक्षा से, न कि किसी विशेष शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान की अपेक्षा से। प्रवाह की अपेक्षा से ज्ञान, वचन अथवा शास्त्र भले ही अनादि, अपौरुषेय अथवा नित्य हो किन्तु उसका प्रामाण्य केवल अनादिता पर निर्भर नहीं है। जिस शास्त्रविशेष का जिस व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध हो उस व्यक्ति की परीक्षा पर ही उस शास्त्र का प्रामाण्य निर्भर है। जैनों ने अपने देश में अवश्य ही इस प्रकार का एक नया विचार शुरू किया है, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

गीतोपदेशक भगवान् कृष्ण ने व सांख्य दर्शन के प्रवर्तक क्रान्तिकारी कपिलमुनि ने वेदों के हिंसामय अनुष्ठानों को हानिकारक बताते हुए लोगों को वेद विमुख होने के लिये प्रेरित किया। जिस युग में वेदों की प्रतिष्ठा दृढमूल थी एवं समाज उनके प्रति इतना अधिक आसक्त था कि उनसे जरा भी अलग होना नहीं चाहता था उस युग में परमात्मा कृष्ण एवं परम आत्मार्थी कपिल-मुनि ने वेदों की प्रतिष्ठा पर सीधा आघात करने के बजाय अनासक्त कर्म करने की प्रेरणा देकर स्वर्गकामनामूलक यज्ञों पर कुठाराघात किया एवं धर्म के नाम पर चलने वाले हिंसामय व मद्यप्रधान यज्ञादिक कर्मकाण्डों के मार्ग को धूममार्ग कहा। इतना ही नहीं, उपनिषद्कारों ने तो यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों को डाकुओं एवं लुटेरों की उपमा दी व लोगों को उनका विश्वास न करने की सलाह दी। फिर भी इनमें से किसी ने वेदों के निरपेक्ष—सर्वथा अप्रामाण्य की घोषणा की हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

धीरे-धीरे जब वैदिक पुरोहितों का जोर कम पड़ने लगा, क्षत्रियों में भी क्रान्तिकारक पुरुष पैदा होने लगे, गुरुपद पर क्षत्रिय आने लगे एवं समाज की श्रद्धा वेदों से हटने लगी तब जैनों एवं बौद्धों ने भारी जोखिम उठा कर भी वेदों के अप्रामाण्य की घोषणा की।[1] वेदों के अप्रामाण्य की घोषणा करने के साथ ही जैनों ने प्रणेताओं की परिस्थिति, जीवनदृष्टि एवं अन्तर्वृत्ति को प्रामाण्य का हेतु मानने की अर्थात् वक्ता अथवा ज्ञाता के आन्तरिक गुण-दोषों के आधार पर उसके वचन अथवा ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निश्चय करने की नयी प्रणाली प्रारम्भ की। यह प्रणाली स्वतः प्रामाण्य मानने वालों की पुरानी चली आने वाली परम्परा के लिए सर्वथा नयी थी। यहां श्रुत के विषय में जो अनादित्व एवं नित्यत्व की कल्पना की गई है वह स्वतः प्रामाण्य मानने वालों की प्राचीन परम्परा को लक्ष्य में रख कर की गई है। साथ ही श्रुत का जो आदित्व, अनित्यत्व अथवा पौरुषेयत्व स्वीकार किया गया है वह लोगों की परीक्षणशक्ति, विवेकशक्ति तथा संशोधनशक्ति को जाग्रत् करने की दृष्टि से ही, जिससे कोई आत्मार्थी 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणः' यों कह कर पिता के कुएं में न गिरे अपितु सावधान होकर पैर आगे बढ़ाए।

अनेकान्तवाद, विभज्यवाद अथवा स्याद्वाद की समन्वय-दृष्टि के अनुसार जैन चल सकने योग्य प्राचीन विचारधारा को ठेस पहुँचाना नहीं चाहते। वे यह भी नहीं चाहते कि प्राचीन विचारसरणी के नाम पर वहम, अज्ञान अथवा जड़ता का पोषण हो। इसीलिए वे पहले से ही प्राचीन विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए क्रान्ति के नये विचार प्रस्तुत करने में लगे हुए हैं। यही कारण है कि उन्होंने श्रुत को अपेक्षाभेद से नित्य व अनित्य दोनों माना है।

श्रुत सादि अर्थात् आदियुक्त है, इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र में नित्य नई-नई शोधों का समावेश होता ही रहता है। श्रुत अनादि अर्थात् आदिरहित है, इसका तात्पर्य यह है कि नई-नई शोधों का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है। यह प्रवाह कब व कहां से शुरू हुआ, इसके विषय में कोई निश्चित कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए उसे अनादि अथवा नित्य कहना ही उचित है। इस नित्य का यह अर्थ नहीं कि अब इसमें कोई नई शोध हो ही नहीं सकती। इसीलिए शास्त्रकारों ने श्रुत को नित्य अथवा अनादि के साथ ही साथ अनित्य अथवा सादि भी कहा है। इस प्रकार गहराई से विचार करने पर मालूम होगा कि कोई

[1] देखिये—महावीर-वाणी की प्रस्तावना

भी शास्त्र किसी भी समय अक्षरशः वैसा का वैसा ही नहीं रहता। उसमें परिवर्तन होते ही रहते हैं। नये-नये संशोधन सामने आते ही रहते हैं। वह नित्य नया-नया होता रहता है।

यह कहा जा चुका है कि हमारे देश के प्राचीनतम शास्त्र वेद और अवेस्ता हैं। इसके बाद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् व जैनसूत्र तथा बौद्धपिटक हैं। इनके बाद हैं दर्शनशास्त्र। इनमें संशोधन का प्रवाह सतत चला आता है। अवेस्ता अथवा वेद तथा ब्राह्मणों के काल में जो अनुष्ठान-परम्परा स्वर्गप्राप्ति का साधन मानी जाती थी वह उपनिषद् आदि के समय में परिवर्तित होने लगी व धीरे-धीरे निन्दनीय मानी जाने लगी।

उपनिषदों के विचारक कहने लगे कि ये यज्ञ टूटी हुई नाव के समान हैं। जो लोग इन यज्ञों पर विश्वास रखते हैं वे बार-बार जन्म-मरण प्राप्त करते रहते हैं।[1] इन यज्ञों पर विश्वास रखाने वाले व रखने वाले लोगों की स्थिति अंधे के नेतृत्व में चलने वाले अंधों के समान होती है। वे अविद्या में निमग्न रहते हैं, अपने-आप को पंडित समझते हैं एवं जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं।[2]

ये विचारक इतना ही कहकर चुप न हुए। उन्होंने यहाँ तक कहा कि जिस प्रकार निषाद व लुटेरे धनिकों को जंगल में लेजाकर पकड़कर गड्ढे में फेंक देते हैं एवं उनका धन लूट लेते हैं उसी प्रकार ऋत्विज् व पुरोहित यजमानों को गड्ढे में फेंक कर (यज्ञादि द्वारा) उनका धन लूट लेते हैं।[3] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि शास्त्रों का विकास निरन्तर होता आया है। जो पद्धतियां पुरानी हो गईं एवं नये युग व नये संशोधनों के अनुकूल न रहीं वे मिटती गईं तथा उनके बजाय नवयुगानुकूल नवीन पद्धतियां व नये विचार आते गये।

जैन परम्परा में भी यह प्रसिद्ध है कि अर्हत् पार्श्व के समय में सवस्त्र श्रमणों की परम्परा थी एवं चातुर्याम धर्म था। भगवान् महावीर के समय में नया

---

[1] प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा⋯एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।

—मुंडकोपनि० १. २. ७.

[2] अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥

—कठोपनि० १. २. ५.

[3] यथाह वा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव ते ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमेवंविदो याजयन्ति।

—ऐतरेय ब्राह्मण, ८. ११.

संशोधन हुआ एवं अवस्त्र श्रमणों की परम्परा को भी स्थान मिला। साथ ही साथ चार के बजाय पांच याम—पंचयाम की प्रथा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार श्रुत अर्थात् शास्त्र परिवर्तन की अपेक्षा से सादि भी है तथा प्रवाह की अपेक्षा से अनादि भी है।

इस प्रकार जैसे अमुक दृष्टि से वेद नित्य हैं, अविनाशी हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, अपौरुषेय हैं वैसे ही जैनशास्त्र भी अमुक अपेक्षा से नित्य हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं एवं अपौरुषेय हैं।

बौद्धों ने तो अपने पिटकों की आदि-अनादि की कोई चर्चा ही नहीं की। भगवान् बुद्ध ने लोगों से स्पष्ट कहा कि यदि आपको ऐसा मालूम हो कि इन शास्त्रों से हमारा हित होता है तो इन्हें मानना अन्यथा इनका आग्रह मत रखना।

गमिक-अगमिक, अंगप्रविष्ट-अनंगप्रविष्ट व कालिक-उत्कालिक श्रुत :

श्रुत की शैली की दृष्टि से गमिक व अगमिक सूत्रों में विशेषता है। श्रुत के रचयिता के भेद से अंगप्रविष्ट व अनंगप्रविष्ट भेद प्रतिष्ठित हैं। श्रुत के स्वाध्याय के काल की अपेक्षा से कालिक व उत्कालिक सूत्रों में अन्तर है।

गमिकश्रुत का स्वरूप समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि दृष्टिवाद नामक शास्त्र गमिकश्रुतरूप है एवं समस्त कालिकश्रुत अगमिकश्रुतरूप हैं।

गमिक अर्थात् 'गम' युक्त। सूत्रकार ने 'गम' का स्वरूप नहीं बताया है। चूर्णिकार एवं वृत्तिकार 'गम' का स्वरूप बताते हुए कहते हैं :—"इह आदि-मध्य-अवसानेषु किञ्चित् विशेषतः भूयोभूयः तस्यैव सूत्रस्य उच्चारणं गमः। तत्र आदौ 'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं।' 'इह खलु' (बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया) इत्यादि। एवं मध्य-अवसानयोः अपि यथासंभवं द्रष्टव्यम्। गमा अस्य विद्यन्ते इति गमिकम्" (नंदिवृत्ति, पृ० २०३, सू० ४४)। गम का अर्थ है प्रारंभ में, मध्य में एवं अन्त में किंचित् परिवर्तन के साथ पुनः-पुनः उसी सूत्र का उच्चारण। जिस श्रुत में 'गम' हो अर्थात् इस प्रकार के सदृश—समान पाठ हों वह गमिकश्रुत है।

विशेषावश्यकभाष्य में 'गम' शब्द के दो अर्थ किये हैं :—

> भंग-गणियाइ गमियं जं सरिसगमं च कारणवसेण।
> गाहाइ अगमियं खलु कालियसुयं दिट्ठिवाए वा ॥५४९॥

इस गाथा की वृत्ति में बताया गया है कि विविध प्रकार के भंगों—विकल्पों का नाम 'गम' है। अथवा गणित—विशेष प्रकार की गणित की चर्चा का नाम 'गम' है। इस प्रकार के 'गम' जिस सूत्र में हों वह गमिकश्रुत कहलाता है। अथवा सदृश पाठों को 'गम' कहते हैं। जिस सूत्र में कारणवशात् सदृश पाठ आते हों वह गमिक कहलाता है।[1] समवायांग की वृत्ति में अर्थपरिच्छेदों को 'गम' कहा गया है। नन्दिसूत्र की वृत्ति में भी 'गम' का अर्थ अर्थपरिच्छेद ही बताया है। श्रुत अर्थात् सूत्र के प्रत्येक वाक्य में से मेधावी शिष्य जो विशिष्ट अर्थ प्राप्त करते हैं उसे अर्थपरिच्छेद कहते हैं। इस प्रकार जिस श्रुत में 'गम' आते हों उसका नाम गमिकश्रुत एवं जिसमें 'गम' न आते हों उसका नाम अगमिकश्रुत है।

उदाहरण के तौर पर वर्तमान आचारांग आदि एकादशांगरूप कालिक सूत्र[2] अगमिकश्रुतान्तर्गत हैं[3] जबकि बारहवां अंग दृष्टिवाद (लुप्त) गमिकश्रुत है।

सारा श्रुत एक समान है, समानविषयों की चर्चा वाला है एवं उसके प्रणेता आत्मार्थी त्यागी मुनि हैं। ऐसा होते हुए भी अमुक सूत्र अंगरूप हैं एवं अमुक अंगबाह्य, ऐसा क्यों? 'अंग' शब्द का अर्थ है मुख्य एवं 'अंगबाह्य' का अर्थ है गौण। जिस प्रकार वेदरूप पुरुष के छन्द, ज्योतिष आदि छः अंगों की कल्पना अति प्राचीन है उसी प्रकार श्रुत अर्थात् गणिपिटकरूप पुरुष के द्वादशांगों की कल्पना भी प्राचीन है। पुरुष के बारह अंग कौन-कौन-से हैं, इसका निर्देश करते हुए कहा गया है :—

पायदुगं जंघा उरू गायदुगद्धं तु दो य बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारसअंगो सुयविसिट्ठो॥

—नंदिवृत्ति, पृ० २०३.

इस गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं :—'इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च, एवं श्रुतरूपस्य अपि परमपुरुषस्य

---

[1] गमाः सदृशपाठाः ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद् गमिकम्।

[2] जो दिवस एवं रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहररूप काल में पढ़े जाते हैं वे कालिक कहलाते हैं।

[3] तच्च प्रायः आचारादि कालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात्।

—मलयगिरिकृत नंदिवृत्ति.

आचारादीनि द्वादशअङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि.....श्रुतपुरुषस्य अंगेषु प्रविष्टम्—अंगभावेन व्यवस्थितमित्यर्थः। यत् पुनरेतस्यैव द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थितम्—अंगबाह्यत्वेन व्यवस्थितं तद् अनङ्गप्रविष्टम्।'

इस प्रकार वृत्तिकार के कथनानुसार श्रुतरूप परमपुरुष के आचारादि बारह अंगों को निम्न क्रम से समझा जा सकता है :—

आचार व सूत्रकृत श्रुतपुरुष के दो पैर हैं, स्थान व समवाय दो जंघाएँ हैं, व्याख्याप्रज्ञप्ति व ज्ञाताधर्मकथा दो घुटने हैं, उपासक व अंतकृत दो गात्रार्ध हैं (शरीर का ऊपरी एवं नीचे का भाग अथवा अगला (पेट आदि) एवं पिछला (पीठ आदि) भाग गात्रार्ध कहलाता है), अनुत्तरौपपातिक व प्रश्नव्याकरण दो बाहुएँ हैं, विपाकसूत्र ग्रीवा—गरदन है तथा दृष्टिवाद मस्तक है।

तात्पर्य यह है कि आचारादि बारह अंग जैनश्रुत में प्रधान हैं, विशेष प्रतिष्ठित हैं एवं विशेष प्रामाण्ययुक्त हैं तथा मूल उपदेष्टा के आशय के अधिक निकट हैं जबकि अनंग अर्थात् अंगबाह्य सूत्र अंगों की अपेक्षा गौण हैं, कम प्रतिष्ठा वाले हैं एवं अल्प प्रामाण्ययुक्त हैं तथा मूल उपदेष्टा के प्रधान आशय के कम निकट हैं।

विशेषावश्यकभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अंग-अनंग की विशेषता बताते हुए कहते हैं :—

गणहर-थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुव-चलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं ॥ ५५० ॥

अंगश्रुत का सीधा सम्बन्ध गणधरों से है जबकि अनंग—अंगबाह्यश्रुत का सीधा सम्बन्ध स्थविरों से है। अथवा गणधरों के पूछने पर तीर्थंकर ने जो बताया वह अंगश्रुत है एवं बिना पूछे अपने-आप बताया हुआ श्रुत अंगबाह्य है। अथवा जो श्रुत सदा एकरूप है वह अंगश्रुत है तथा जो श्रुत परिवर्तित अर्थात् न्यूनाधिक होता रहता है वह अंगबाह्यश्रुत है। इस प्रकार स्वयं भाष्यकार ने भी अंगबाह्य की अपेक्षा अंगश्रुत की प्रतिष्ठा कुछ विशेष ही बताई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय श्रमणसंघ में किस शास्त्र को विशेष महत्त्व दिया जाय व किस शास्त्र को विशेष महत्त्व न दिया जाय, यह प्रश्न उठा तब उसके समाधान के लिए समन्वयप्रिय आगमिक भाष्यकार ने एक साथ उपर्युक्त तीन विशेषताएँ बताकर समस्त शास्त्रों को एवं उन शास्त्रों को मानने वालों को

प्रतिष्ठा सुरक्षित रखी। ऐसा होते हुए भी अंग एवं अंगबाह्य का भेद तो बना ही रहा एवं अंगबाह्य सूत्रों की अपेक्षा अंगों की प्रतिष्ठा भी विशेष ही रही।

वर्तमान में जो अंग एवं उपांगरूप भेद प्रचलित है वह अति प्राचीन नहीं है। यद्यपि 'उपांग' शब्द चूर्णियों एवं तत्त्वार्थभाष्य जितना प्राचीन है तथापि अमुक अंग का अमुक उपांग है, ऐसा भेद उतना प्राचीन प्रतीत नहीं होता। यदि अंगोपांगरूप भेद विशेष प्राचीन होता तो नंदीसूत्र में इसका उल्लेख अवश्य मिलता। इससे स्पष्ट है कि नन्दी के समय में श्रुत का अंग व उपांगरूप भेद करने की प्रथा न थी अपितु अंग व अनंग अर्थात् अंगप्रविष्ट व अंगबाह्यरूप भेद करने की परिपाटी थी। इतना ही नहीं, नंदीसूत्रकार ने तो वर्तमान में प्रचलित समस्त उपांगों को 'प्रकीर्णक' शब्द से भी सम्बोधित किया है।

उपांगों के वर्तमान क्रम में पहले औपपातिक आता है, बाद में राजप्रश्नीय आदि, जबकि तत्त्वार्थवृत्तिकार हरिभद्रसूरि तथा सिद्धसेनसूरि के उल्लेखानुसार (अ० १, सू० २०) पहले राजप्रसेनकीय (वर्तमान राजप्रश्नीय) व बाद में औपपातिक आदि आते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक उपांगों का वर्तमान क्रम निश्चित नहीं हुआ था।

नंदीसूत्र में निर्दिष्ट अंगबाह्य कालिक एवं उत्कालिक शास्त्रों में वर्तमान में प्रचलित उपांगरूप समस्त ग्रंथों का समावेश किया गया है। कुछ उपांग कालिक श्रुतान्तर्गत हैं व कुछ उत्कालिक श्रुतान्तर्गत।

उपांगों के क्रम के विषय में विचार करने पर मालूम होता है कि यह क्रम अंगों के क्रम से सम्बद्ध नहीं है। जो विषय अंग में हो उसीसे सम्बन्धित विषय उसके उपांग में भी हो तो उस अंग और उपांग का पारस्परिक सम्बन्ध बैठ सकता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। षष्ठ अंग ज्ञाताधर्मकथा का उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति कहा जाता है एवं सप्तम अंग उपासकदशा का उपांग चंद्रप्रज्ञप्ति कहा जाता है जबकि इनके विषयों में कोई समानता अथवा सामंजस्य नहीं है। यही बात अन्य अंगोपांगों के विषय में भी कही जा सकती है। इस प्रकार बारह अंगों का उनके उपांगों के साथ कोई विषयैक्य प्रतीत नहीं होता।

एक बात यह है कि उपांग व अंगबाह्य इन दोनों शब्दों के अर्थ में बड़ा अन्तर है। अंगबाह्य शब्द से ऐसा आभास होता है कि इन सूत्रों का सम्बन्ध अंगों के साथ नहीं है अथवा बहुत कम है जब कि उपांग शब्द अंगों के साथ सीधा सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंगबाह्यों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये

अथवा अंग के समकक्ष उनके प्रामाण्यस्थापन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए किसी गीतार्थ ने इन्हें उपांग नाम से संबोधित करना प्रारंभ किया होगा।

दूसरी बात यह है कि अंगों के साथ सम्बन्ध रखने वाले दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों को उपांगों में न रख कर औपपातिक से उपांगों की शुरुआत करने का कोई कारण भी नहीं दिया गया है। संभव है कि दशवैकालिक आदि विशेष प्राचीन होने के कारण अंगबाह्य होते हुए भी प्रामाण्ययुक्त रहे हों एवं औपपातिक आदि के विषय में एतद्विषयक कोई विवाद खड़ा हुआ हो और इसीलिए इन्हें उपांग के रूप में माना जाने लगा हो।

एक बात यह भी है कि ये औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना आदि ग्रंथ देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के सम्मुख थे ही और इसीलिए उन्होंने अंगसूत्रों में जहां-तहां 'जहा उववाइए, जहा पन्नवणाए, जहा जीवाभिगमे' इत्यादि पाठ दिये हैं। ऐसा होते हुए भी 'जहा उववाइअ-उवांगे, जहा पन्नवणाउवांगे' इस प्रकार 'उपांग' शब्दयुक्त कोई पाठ नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के बाद ही इन ग्रन्थों को उपांग कहने का प्रयत्न हुआ हो। श्रुत का यह सामान्य परिचय प्रस्तुत प्रयोजन के लिए पर्याप्त है।

प्रकरण २

अंगग्रंथों का बाह्य परिचय

द्वितीय प्रकरण

अंगग्रन्थों का बाह्य परिचय

सर्वप्रथम अंगग्रंथों के बाह्य तथा अंतरंग परिचय से क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्टीकरण आवश्यक है। अंगों के नामों का अर्थ, अंगों का पदपरिमाण अथवा श्लोकपरिमाण, अंगों का क्रम, अंगों की शैली तथा भाषा, प्रकरणों का विषयनिर्देश, विषयविवेचन की पद्धति, वाचनावैविध्य इत्यादि की समीक्षा बाह्य परिचय में रखी गई है। अंगों में चर्चित स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्तसम्बन्धी तथ्य, उनकी विशेष समीक्षा, उनका पृथक्करण, तन्निष्पन्न ऐतिहासिक अनुसंधान, तदन्तर्गत विशिष्ट शब्दों का विवेचन इत्यादि बातें अंतरंग परिचय में समाविष्ट हैं।

आगमों की ग्रन्थबद्धता :

जैनसंघ की मुख्य दो परम्पराएं हैं: अचेलक परम्परा व सचेलक परम्परा[1]। दोनों परम्पराएँ यह मानती हैं कि आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अखण्ड रूप में कायम न रही। दुष्काल आदि के कारण आगम अक्षरशः सुरक्षित न रखे जा सके। आगमों में वाचनाभेद—पाठभेद बराबर बढ़ते गये। सचेलक

---

[1] यहाँ अचेलक शब्द दिगम्बरपरंपरा के लिए और सचेलक शब्द श्वेताम्बरपरंपरा के लिए प्रयुक्त है। ये ही प्राचीन शब्द हैं जिनसे इन दोनों परंपराओं का प्राचीन काल में बोध होता था।

परम्परा द्वारा मान्य आगमों को जब पुस्तकारूढ किया गया तब श्रमणसंघ ने एकत्र होकर जो माथुरी वाचना मान्य रखी वह ग्रन्थबद्ध की गई, साथ ही उपर्युक्त वाचनाभेद अथवा पाठभेद भी लिखे गये। अचेलक परम्परा के आचार्य धरसेन, यतिवृषभ, कुंदकुंद, भट्ट अकलंक आदि ने इन पुस्तकारूढ आगमों अथवा इनसे पूर्व के उपलब्ध आगमों के आशय को ध्यान में रखते हुए नवीन साहित्य का सर्जन किया। आचार्य कुंदकुंदरचित साहित्य में आचारपाहुड, सुत्तपाहुड, स्थानपाहुड, समवायपाहुड आदि अनेक पाहुडान्त ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। इन पाहुडों के नाम सुनने से आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग आदि की स्मृति हो आती है। आचार्य कुंदकुंद ने उपर्युक्त पाहुडों की रचना इन अंगों के आधार से की प्रतीत होती है। इसी प्रकार षट्खण्डागम, जयधवला, महाधवला आदि ग्रन्थ भी उन-उन आचार्यों ने आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक के आगमों के आधार से बनाये हैं। इनमें स्थान-स्थान पर परिकर्म आदि का निर्देश किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों के निर्माताओं के सामने दृष्टिवाद के एक अंशरूप परिकर्म का कोई भाग अवश्य रहा होगा, चाहे वह स्मृतिरूप में ही क्यों न हो। जिस प्रकार विशेषावश्यकभाष्यकार अपने भाष्य में अनेक स्थानों पर दृष्टिवाद के एक अंशरूप 'पूर्वगत गाथा' का निर्देश करते हैं[1] उसी प्रकार ये ग्रन्थकार 'परिकर्म' का निर्देश करते हैं। जिन्होंने आगमों को ग्रन्थबद्ध किया है उन्होंने पहले से चली आने वाली कंठाग्र आगम-परम्परा को ध्यान में रखते हुए उनका ठीक-ठीक संकलन करके माथुरी वाचना पुस्तकारूढ की है। इसी प्रकार अचेलक परम्परा के ग्रंथकारो ने भी उनके सामने जो आगम विद्यमान थे उनका अवलम्बन लेकर नया साहित्य तैयार किया है। इस प्रकार दोनों परम्पाओं के ग्रंथ समानरूप से प्रामाण्यप्रतिष्ठित हैं।

अचेलक परम्परा में अंगविषयक उल्लेख :

अचेलक परम्परा में अंगविषयक जो सामग्री उपलब्ध है उसमें केवल अंगों के नामों का, अंगों के विषयों का व अंगों के पदपरिमाण का उल्लेख है। अकलंककृत राजवार्तिक में अंतकृद्दशा तथा अनुत्तरौपपातिकदशा नामक दो अंगों के अध्ययनों—प्रकरणों के नामों का भी उल्लेख मिलता है, यद्यपि इन नामों के अनुसार अध्ययन वर्तमान अन्तकृद्दशा तथा अनुत्तरौपपातिकदशा में उपलब्ध नहीं हैं। प्रतीत होता है, राजवार्तिककार के सामने ये दोनों सूत्र अन्य वाचना वाले मौजूद रहे होंगे।

[1] वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार, गा० १२८.

स्थानांग नामक तृतीय अंग में उक्त दोनों अंगों के अध्ययनों के जो नाम बताये गये हैं, उनसे राजवार्तिक-निर्दिष्ट नाम विशेषतः मिलते हुए हैं। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि राजवार्तिककार और स्थानांगसूत्रकार के समक्ष एक ही वाचना के ये सूत्र रहे होंगे अथवा राजवार्तिककार ने स्थानांग में गृहीत अन्य वाचना को प्रमाणभूत मान कर ये नाम दिये होंगे। राजवार्तिक के ही समान धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति आदि में भी वैसे ही नाम उपलब्ध हैं।

अचेलक परम्परा के प्रतिक्रमण सूत्र के मूल पाठ में किन्हीं-किन्हीं अंगों के अध्ययनों की संख्या बताई गई है। इस संख्या में और सचेलक परम्परा में प्रसिद्ध संख्या में विशेष अन्तर नहीं है। इस प्रतिक्रमण सूत्र की प्रभाचन्द्रीय वृत्ति में इन अध्ययनों के नाम तथा उनका सविस्तर परिचय आता है। ये नाम सचेलक परम्परा में उपलब्ध नामों के साथ हूबहू मिलते हैं। कहीं-कहीं अक्षरान्तर भले ही हो गया हो किन्तु भाव में कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त अपराजित-सूरिकृत दशवैकालिकवृत्ति का उल्लेख उनकी अपनी मूलाराधना की वृत्ति में आता है। यह दशवैकालिकवृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। संभव है, इन अपराजितसूरि ने अथवा उनकी भांति अचेलक परंपरा के अन्य किन्हीं महानुभावों ने अंग आदि सूत्रों पर वृत्तियां आदि लिखी हों जो उपलब्ध न हों। इस विषय में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है।

सचेलक परम्परा में अंगों की निर्युक्तियां, भाष्य, चूर्णियां, अवचूर्णियां, वृत्तियां, टबे आदि उपलब्ध हैं। इनसे अंगों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

अंगों का बाह्य रूप :

अंगों के बाह्य रूप का प्रथम पहलू है अंगों का श्लोकपरिमाण अथवा पद-परिमाण। ग्रंथों की प्रतिलिपि करने वाले लेखक अपना पारिश्रमिक श्लोकों की संख्या पर निर्धारित करते हैं। इसलिए वे अपने लिखे हुए ग्रंथ के अन्त में 'ग्रन्थाग्र' शब्द द्वारा श्लोक-संख्या का निर्देश अवश्य कर देते हैं। अथवा कुछ प्राचीन ग्रंथकार स्वयमेव अपने ग्रंथ के अन्त में उसके श्लोकपरिमाण का उल्लेख कर देते हैं। ग्रंथ पूर्णतया सुरक्षित रहा है अथवा नहीं, वह किसी कारण से खण्डित तो नहीं हो गया है अथवा उसमें किसी प्रकार की वृद्धि तो नहीं हुई है—इत्यादि बातें जानने में यह प्रथा अति उपयोगी है। इससे लिपि-लेखकों को

पारिश्रमिक देने में भी सरलता होती है। एक श्लोक बत्तीस अक्षरों का मान कर श्लोकसंख्या बताई जाती है, फिर चाहे रचना गद्य में ही क्यों न हो। वर्तमान में उपलब्ध अंगों के ग्रन्थ में स्वयं ग्रंथकारों ने कहीं भी श्लोकपरिमाण नहीं बताया है। अतः यह मानना चाहिए कि यह संख्या किन्हीं अन्य ग्रंथ-प्रेमियों अथवा उनकी नकल करने वालों ने लिखी होगी।

अपने ग्रंथ में कौन-कौन से विषय चर्चित हैं, इसका ज्ञान पाठक को प्रारंभ में ही हो जाय, इस दृष्टि से प्राचीन ग्रंथकार कुछ ग्रंथों अथवा ग्रन्थगत प्रकरणों के प्रारंभ में संग्रहणी गाथाएं देते हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि अंगगत वैसी गाथाएं खुद ग्रंथकारों ने बनाई हैं अथवा अन्य किन्हीं संग्राहकों ने।

कुछ अंगों की निर्युक्तियों में उनके कितने अध्ययन हैं एवं उन अध्ययनों के क्या नाम हैं, यह भी बताया गया है। इनमें ग्रंथ के विषय का निर्देश करने वाली कुछ संग्रहणी गाथाएं भी उपलब्ध होती हैं।

समवायांग व नन्दीसूत्र में जहां आचारांग आदि का परिचय दिया हुआ है वहां 'अंगों की संग्रहणियां अनेक हैं', ऐसा उल्लेख मिलता है। यह 'संग्रहणी' शब्द विषयनिर्देशक गाथाओं के अर्थ में विवक्षित हो तो यह मानना चाहिए कि जहां-जहां 'संग्रहणियां अनेक हैं' यह बताया गया है वहां-वहां उन-उन सूत्रों के विषय-निर्देश अनेक प्रकार के हैं, यही बताया गया है। अथवा इससे यह समझना चाहिए कि आचारांगादि का परिचय संक्षेप-विस्तार से अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विषय-निर्देश भले ही भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा अथवा भिन्न-भिन्न शैलियों द्वारा विविध ढंग से किया गया हो किन्तु उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

अचेलक व सचेलक दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में जहां अंगों का परिचय आता है वहां उनके विषय तथा पद-परिमाण का निर्देश करने वाले उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अंगों का ग्रन्थाग्र अर्थात् श्लोकपरिमाण कितना है, यह अब देखें। बृहट्टिप्पनिका नामक एक प्राचीन जैनग्रंथसूची उपलब्ध है। यह आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखी गई मालूम होती है। इसमें विविध विषय वाले अनेक ग्रन्थों की श्लोकसंख्या बताई गई है, साथ ही लेखनसमय व ग्रन्थलेखक का भी निर्देश किया गया है। ग्रंथ सवृत्तिक है अथवा नहीं, जैन है अथवा अजैन, ग्रन्थ पर अन्य कितनी वृत्तियां हैं, आदि बातें भी इसमें मिलती हैं। अंगविषयक

जो कुछ जानकारी इसमें दी गई है उसका कुछ उपयोगी सारांश नीचे दिया जाता है[1] :—

आचारांग—श्लोकसंख्या २५२५, सूत्रकृतांग—श्लोकसंख्या २१००, स्थानांग—श्लोकसंख्या ३६००, समवायांग—श्लोकसंख्या १६६७, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति)—श्लोकसंख्या १५७५२ (इकतालीस शतकयुक्त), ज्ञातधर्मकथा—श्लोकसंख्या ५४००, उपासकदशा—श्लोकसंख्या ८१२, अंतकृद्दशा—श्लोकसंख्या ८९९, अनुत्तरौपपातिकदशा—श्लोकसंख्या १९२, प्रश्नव्याकरण—श्लोकसंख्या १२५६, विपाकसूत्र—श्लोकसंख्या १२१६; समस्त अंगों की श्लोकसंख्या ३५३३९ ।

नाम-निर्देश :

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में केवल अंगों के नामों का उल्लेख है। इसमें पांचवें अंग का नाम 'भगवती' न देते हुए 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' दिया गया है। बारहवें अंग का भी नामोल्लेख किया गया है।

अचेलक परम्पराभिमत पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति में अंगों के जो नाम दिये हैं उनमें थोड़ा अन्तर है। इसमें ज्ञातधर्मकथा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा के बजाय उपासकाध्ययन, अंतकृद्दशा के बजाय अंतकृद्दशम् एवं अनुत्तरौपपातिकदशा के बजाय अनुत्तरोपपादिकदशम् नाम है। दृष्टिवाद के भेदरूप पांच नाम बताये हैं : परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत एवं चूलिका। इनमें से पूर्वगत के भेदरूप चौदह नाम इस प्रकार हैं : १. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीय, ३. वीर्यानुप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यान, १०. विद्यानुप्रवाद, ११. कल्याण, १२. प्राणावाय, १३. क्रियाविशाल, १४. लोकबिन्दुसार।

इसी प्रकार अकलंककृत तत्त्वार्थराजवार्तिक में फिर थोड़ा परिवर्तन है। इसमें अन्तकृद्दशम् एवं अनुत्तरोपपादिकदशम् के स्थान पर फिर अन्तकृद्दशा एवं अनुत्तरौपपादिकदशा का प्रयोग हुआ है।

श्रुतसागरकृत वृत्ति में ज्ञातृधर्मकथा के स्थान पर केवल ज्ञातृकथा का प्रयोग है। इसमें अन्तकृद्दशम् एवं अनुत्तरौपपादिकदशम् नाम मिलते हैं।

---

[1] जैन साहित्य संशोधक, प्रथम भाग, पृ. १०५.

गोम्मटसार नामक ग्रंथ में द्वितीय अंग का नाम सुद्दयड है, पंचम अंग का नाम विक्खापण्णत्ति है, षष्ठ अंग का नाम नाहस्स धम्मकहा है, अष्टम अंग का नाम अंतयडदसा है।

अंगपण्णत्ति नामक ग्रन्थ में द्वितीय अंग का नाम सूदयड, पंचम अंग का नाम विवायपण्णत्ति (संस्कृतरूप 'विपाकप्रज्ञप्ति' दिया हुआ है) एवं षष्ठ अंग का नाम नाहधम्मकहा है। दृष्टिवाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसमें ३६३ दृष्टियों का निराकरण किया गया है। साथ ही क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद एवं विनयवाद के अनुयायियों के मुख्य-मुख्य नाम भी दिये गये हैं। ये सब नाम प्राकृत में हैं। राजवार्तिक में भी इसी प्रकार के नाम बताये गये हैं। वहां ये सब संस्कृत में हैं। इन दोनों स्थानों के नामों में कुछ-कुछ अन्तर आ गया है।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में अंगों के जो नाम बताये गये हैं उनमें कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। सचेलक परम्परा के समवायांग, नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में अंगों के जो नाम आये हैं उनका उल्लेख करने के बाद दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में प्रसिद्ध इन सब नामों में जो कुछ परिवर्तन हुआ है उसकी चर्चा की जाएगी। समवायांग आदि में ये नाम इस प्रकार हैं:—

१. समवायांग (प्राकृत)	२. नन्दीसूत्र (प्राकृत)	३. पाक्षिकसूत्र (प्राकृत)	४. तत्त्वार्थभाष्य (संस्कृत)
१. आयारे	आयारो	आयारो	आचारः
२. सूयगडे	सूयगडो	सूयगडो	सूत्रकृतम्
३. ठाणे	ठाणं	ठाणं	स्थानम्
४. समवाए, समाए	समवाओ, समाए	समवाओ, समाए	समवायः
५. विवाहपन्नत्ती विवाहे	विवाहपन्नत्ती विवाहे	विवाहपन्नत्ती विवाहे	व्याख्याप्रज्ञप्ति
६. णायाधम्म-कहाओ	णायाधम्म-कहाओ	णायाधम्म-कहाओ	ज्ञातधर्मकथा
७. उवासगदसाओ	उवासगदसाओ	उवासगदसाओ	उपासकाध्ययनदशा
८. अंतगडदसाओ	अंतगडदसाओ	अंतगडदसाओ	अंतकृद्दशा
९. अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अनुत्तरोपपातिक-दशा
१०. पण्हावागरणाइं	पण्हावागरणाइं	पण्हावागरणाइं	प्रश्नव्याकरणम्

११. विवागसुओ	विवागसुर्यं	विवागसुअं	विपाकश्रुतम्
१२. दिट्ठिवाओ	दिट्ठिवाओ	दिट्ठिवाओ	दृष्टिपातः

इन नामों में कोई विशेष भेद नहीं है। जो थोड़ा भेद दिखाई देता है वह केवल विभक्ति के प्रत्यय अथवा एकवचन-बहुवचन का है।

पंचम अंग का संस्कृत नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। इसे देखते हुए उसका प्राकृत नाम वियाहपण्णत्ति होना चाहिए जबकि सर्वत्र प्रायः विवाहपण्णत्ति रूप ही देखने को मिलता है। प्रतिलिपि-लेखकों की असावधानी व अर्थ के अज्ञान के कारण ही ऐसा हुआ मालूम होता है। अति प्राचीन ग्रंथों में वियाहपण्णत्ति रूप मिलता भी है जो कि व्याख्याप्रज्ञप्ति का शुद्ध प्राकृत रूप है।

संस्कृत ज्ञातधर्मकथा व प्राकृत नायाधम्मकहा अथवा णायाधम्मकहा में कोई अन्तर नहीं है। 'ज्ञात' का प्राकृत में 'नाय' होता है एवं समास में 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' (८.१.४—हेमप्रा०व्या०) इस नियम द्वारा 'नाय' के ह्रस्व 'य' का दीर्घ 'या' होने पर 'नाया' हो जाता है। अचेलक परंपरा में नायाधम्मकहा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, ज्ञातृकथा, नाहस्स धम्मकहा, नाहधम्मकहा आदि नाम प्रचलित हैं। इन शब्दों में नाममात्र का अर्थभेद है। ज्ञातधर्मकथा अथवा ज्ञाताधर्मकथा का अर्थ है जिनमें ज्ञात अर्थात् उदाहरण प्रधान हों ऐसी धर्मकथाएँ। अथवा जिस ग्रंथ में ज्ञातों वाली अर्थात् उदाहरणों वाली एवं धर्मवाली कथाएँ हों वह ज्ञाताधर्मकथा है। ज्ञातृधर्मकथा का अर्थ है जिसमें ज्ञातृ अर्थात् ज्ञाता अथवा ज्ञातृवंश के भगवान् महावीर द्वारा कही हुई धर्मकथाएँ हों वह ग्रन्थ। यही अर्थ ज्ञातृकथा का भी है। नाहस्स धम्मकहा अथवा नाहधम्मकहा भी नायधम्मकहा का ही एकरूप मालूम होता है। उच्चारण की गड़बड़ी व लिपि-लेखक के प्रमाद के कारण 'नाय' शब्द 'नाह' के रूप में परिणत हो गया प्रतीत होता है। भगवान् महावीर के वंश का नाम नाय-नात-ज्ञात-ज्ञातृ है। ज्ञातृवंशोत्पन्न भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मकथाओं के आधार पर भी ज्ञातृधर्मकथा आदि नाम फलित किये जा सकते हैं।

द्वितीय अंग का संस्कृत नाम सूत्रकृत है। राजवार्तिक आदि में भी इसी नाम का निर्देश है। धवला एवं जयधवला में सूदयद, गोम्मटसार में सुद्दयड तथा अंगपण्णत्ति में सूदयड नाम मिलते हैं। सचेलक परंपरा में सुत्तगड अथवा सूयगड नाम का उल्लेख मिलता है। इन सब नामों में कोई अन्तर नहीं है।

केवल शौरसेनी भाषा के चिह्न के रूप में अचेलक परम्परा में 'त' अथवा 'त' के बजाय 'द' अथवा 'ह' का प्रयोग हुआ है।

पंचम अंग का नाम धवला व जयधवला में वियाहपण्णत्ति तथा गोम्मटसार में विवायपण्णत्ति है जो संस्कृतरूप व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही रूपान्तर है। अंगपण्णत्ति में विवायपण्णत्ति अथवा विवागपण्णत्ति नाम बताया गया है एवं छाया में विपाकप्रज्ञप्ति शब्द रखा गया है। इसमें मुद्रण की अशुद्धि प्रतीत होती है। मूल में विवाहपण्णत्ति होना चाहिए। ऐसा होने पर छाया में व्याख्याप्रज्ञप्ति रखना चाहिए। यहाँ भी आदि पद 'वियाह' के स्थान पर असावधानी के कारण 'विवाय' हो गया प्रतीत होता है। सचेलक परम्परा में संस्कृत में व्याख्याप्रज्ञप्ति एवं प्राकृत में वियाहपण्णत्ति सुप्रसिद्ध है। पंचम अंग का यही नाम ठीक है। ऐसा होते हुए भी वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने विवाहपण्णत्ति व विबाहपण्णत्ति नाम स्वीकार किए हैं एवं विवाहपण्णत्ति का अर्थ किया है विवाहप्रज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान के विविध प्रवाहों की प्रज्ञप्ति और विबाहपण्णत्ति का अर्थ किया है विबाधप्रज्ञप्ति अर्थात् बिना बाधा वाली—प्रमाणसिद्ध प्रज्ञप्ति। श्री अभयदेव को वियाहपण्णत्ति, विवाहपण्णत्ति एवं विबाहपण्णत्ति – ये तीन पाठ मिले मालूम होते हैं। इनमें से वियाहपण्णत्ति पाठ ठीक है। शेष दो प्रतिलिपि-लेखक की त्रुटि के परिणामरूप हैं।

आचारादि अंगों के नामों का अर्थ :

आयार—प्रथम अंग का आचार – आयार नाम तद्गत विषय के अनुरूप ही है। इसके प्रथम विभाग में आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकार के आचार की चर्चा है।

सुत्तगड—सूत्रकृत का एक अर्थ है सूत्रों द्वारा अर्थात् प्राचीन सूत्रों के आधार से बनाया हुआ अथवा संक्षिप्त सूत्रों—वाक्यों द्वारा बनाया हुआ। इसका दूसरा अर्थ है सूचना द्वारा अर्थात् प्राचीन सूचनाओं के आधार पर बनाया हुआ। इस नाम से ग्रन्थ के विषय का स्पष्ट पता नहीं लग सकता। इससे इसकी रचना-पद्धति का पता अवश्य लगता है।

ठाण – स्थान व समवाय नाम आचार की भांति स्फुटार्थक नहीं कि जिन्हें सुनते ही अर्थ की प्रतीति हो जाय। जैन साधुओं की संख्या के लिए 'ठाणा' शब्द जैन परम्परा में सुप्रचलित है। यहां कितने 'ठाणे' हैं? इस प्रकार के प्रश्न का अर्थ सब जैन समझते हैं। इस प्रश्न में प्रयुक्त 'ठाणा' के अर्थ की ही भांति तृतीय अंग 'ठाण' का भी अर्थ संख्या ही है। 'समवाय' नाम की भी यही स्थिति है। इस नाम से यह प्रकट होता है कि इसमें बड़ी संख्या का समवाय है। इस प्रकार

ठाण नामक तृतीय अंग जैन तत्त्व-संख्या का निरूपण करने वाला है एवं समवाय नामक चतुर्थ अंग जैन तत्त्व के समवाय का अर्थात् बड़ी संख्या वाले तत्त्व का निरूपण करने वाला है।

वियाहपण्णत्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। यह नाम ग्रन्थगत विषय के अनुरूप है।

णायाधम्मकहा—ज्ञातधर्मकथा नाम कथासूचक है, यह नाम से स्पष्ट है। इस कथाग्रन्थ के विषय में भी ऊपर कहा जा चुका है।

उवासगदसा – उपासकदशा नाम से यह प्रकट होता है कि यह अंग उपासकों से सम्बन्धित है। जैन परिभाषा में 'उपासक' शब्द जैनधर्मानुयायी श्रावकों—गृहस्थों के लिए रूढ़ है। उपासक के साथ जो 'दशा' शब्द जुड़ा हुआ है वह दश—दस संख्या का सूचक है अथवा दशा—अवस्था का द्योतक भी हो सकता है। यहां दोनों अर्थ समानरूप से संगत हैं। उपासकदशा नामक सप्तम अंग में दस उपासकों की दशा का वर्णन है।

अंतगडदसा—जिन्होंने आध्यात्मिक साधना द्वारा राग-द्वेष का अन्त किया है तथा मुक्ति प्राप्त की है वे अन्तकृत हैं। उनसे सम्बन्धित शास्त्र का नाम अंतगडदसा-अंतकृतदशा है। इस प्रकार अष्टम अंग का अंतकृतदशा नाम सार्थक है।

अणुत्तरोववाइयदसा – इसी प्रकार अनुत्तरौपपातिकदशा अथवा अनुत्तरौपपादिकदशा नाम भी सार्थक है। जैन मान्यता के अनुसार स्वर्ग में बहुत ऊंचा अनुत्तरविमान नामक एक देवलोक है। इस विमान में जन्म ग्रहण करने वाले तपस्वियों का वृत्तान्त इस अनुत्तरौपपातिकदशा नामक नवम अंग में उपलब्ध है। इसका 'दशा' शब्द भी संख्यावाचक व अवस्थावाचक दोनों प्रकार का है। ऊपर जो औपपातिक व औपपादिक ये दो शब्द आये हैं उन दोनों का अर्थ एक ही है। जैन व बौद्ध दोनों परम्पराओं में उपपात अथवा उपपाद का प्रयोग देवों व नारकों के जन्म के लिए हुआ है।

पण्हावागरणाइं—प्रश्नव्याकरण नाम के प्रारंभ का 'प्रश्न' शब्द सामान्य प्रश्न के अर्थ में नहीं अपितु ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र आदि से सम्बन्धित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के प्रश्नों का व्याकरण जिसमें किया गया हो उसका नाम प्रश्नव्याकरण है। उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के विषयों को देखते हुए यह नाम सार्थक प्रतीत नहीं होता। प्रश्न का सामान्य अर्थ चर्चा किया जाय अर्थात् हिंसा-अहिंसा,

सत्य-असत्य आदि से सम्बन्धित चर्चा के अर्थ में प्रश्न शब्द लिया जाय तो वर्तमान प्रश्नव्याकरण सार्थक नाम वाला कहा जा सकता है।

विवागसुय - ग्यारहवें अंग का नाम है विपाकश्रुत, विपाकसूत्र, विवायसुत्र, विवाकसुय अथवा विवागसुत्त। ये सब नाम एकार्थक एवं समान हैं। विपाक शब्द का प्रयोग पातंजल-योगदर्शन एवं चिकित्साशास्त्र में भी हुआ है। चिकित्साशास्त्र का विपाक शब्द खानपान इत्यादि के विपाक का सूचक है। यहां विपाक का यह अर्थ न लेते हुए आध्यात्मिक अर्थ लेना चाहिए अर्थात् सदसत् प्रवृत्ति द्वारा होने वाले आध्यात्मिक संस्कार के परिणाम का नाम ही विपाक है। पापप्रवृत्ति का परिणाम पापविपाक है एवं पुण्यप्रवृत्ति का परिणाम पुण्यविपाक है। प्रस्तुत अंग का विपाकश्रुत नाम सार्थक है क्योंकि इसमें इस प्रकार के विपाक को भोगने वाले लोगों की कथाओं का संग्रह है।

दिट्ठिवाय—बारहवां अंग दृष्टिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह अभी उपलब्ध नहीं है। अतः इसके विषयों का हमें ठीक-ठीक पता नहीं है। दृष्टि का अर्थ है दर्शन और वाद का अर्थ है चर्चा। इस प्रकार दृष्टिवाद का शब्दार्थ होता है दर्शनों की चर्चा। इस अंग में प्रधानतया दार्शनिक चर्चाएं रही होंगी, ऐसा ग्रन्थ के नाम से प्रतीत होता है। इसके पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं जिनके नाम पहले गिनाये जा चुके हैं। इन पूर्वों को लिखने में कितनी स्याही खर्च हुई होगी, इसका अंदाज लगाने के लिए सचेलक परम्परा में एक मजेदार कल्पना की गई है। कल्पसूत्र के अर्वाचीन वृत्तिकार कहते हैं कि प्रथम पूर्व को लिखने के लिए एक हाथी के वजन जितनी स्याही चाहिए, द्वितीय पूर्व को लिखने के लिए दो हाथियों के वजन जितनी, तृतीय के लिए चार हाथियों के वजन जितनी, चतुर्थ के लिए आठ हाथियों के वजन जितनी, इस प्रकार उत्तरोत्तर दुगुनी-दुगुनी करते-करते अंतिम पूर्व को लिखने के लिए आठ हजार एक सौ बानवे हाथियों के वजन जितनी स्याही चाहिए।

कुछ मुनियों ने ग्यारह अंगों तथा चौदह पूर्वों का अध्ययन केवल बारह वर्ष में किया है, ऐसा उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति में आता है। इतना विशाल साहित्य इतने अल्प समय में कैसे पढ़ा गया होगा? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसे ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त कल्पना को महिमावर्धक व अतिशयोक्तिपूर्ण कहना अनुचित न होगा। इतना अवश्य है कि पूर्वगत साहित्य का परिमाण काफी विशाल रहा है।

स्थानांगसूत्र में[1] बारहवें अंग के दस पर्यायवाची नाम बताये हैं: १. दृष्टिवाद, २. हेतुवाद, ३. भूतवाद, ४. तथ्यवाद, ५. सम्यग्वाद, ६. धर्मवाद ७. भाषाविचय अथवा भाषाविजय, ८. पूर्वगत, ९. अनुयोगगत और १०. सर्वजीवसुखावह। इनमें से आठवां व नवबां नाम दृष्टिवाद के प्रकरणविशेष के सूचक हैं। इन्हें औपचारिक रूप से दृष्टिवाद के नामों में गिनाया गया है।

अंगों का पद-परिमाण :

अंगसूत्रों का पद-परिमाण दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में उपलब्ध है। सचेलक परम्परा के ग्रन्थ समवायांग, नन्दो आदि में अंगों का पद-परिमाण बताया गया है। इसी प्रकार अचेलक परम्परा के धवला, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में अंगों का पद-परिमाण उपलब्ध है। इसे विभिन्न तालिकाओं द्वारा यहां स्पष्ट किया जाता है: —

---

[1] स्थानांग, १०.७४२.

तालिका—१

सचेलक परम्परा

ग्यारह अंग

१. अंग का नाम	२. समवायांगगत पदसंख्या	३. नन्दिगतपदसंख्या	४. समवायांग-वृत्ति	५. नन्दि-वृत्ति
१. आचारांग	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद आचारांग की निर्युक्ति तथा शीलांक-कृत वृत्ति में लिखा है कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के (नौ अध्ययनों के) अठारह हजार पद हैं एवं द्वितीय-श्रुतस्कन्ध के इससे भी अधिक हैं।	नन्दी के वृत्तिकार ने सब समवायांग की वृत्ति के अनुसार ही लिखा है। साथ में इसके समर्थन में नन्दी सूत्र की चूर्णि का पाठ दिया है।
२. सूत्रकृतांग	छत्तीस हजार पद	छत्तीस हजार पद	समवायांगके मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
३. स्थानांग	बहत्तर हजार पद	बहत्तर हजार पद	समवायांग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
४. समवायांग	एक लाख चौआलीस हजार पद	एक लाख चौआलीस हजार पद	समवायांग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	चौरासी हजार पद	दो लाख अठासी हजार पद	समवायांग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही

६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्येय हजार पद	संख्येय हजार पद	पांच लाख छिहत्तर हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप संख्येय हजार पद	समवायांग की वृत्ति के अनुसार ही सब समझना चाहिए। विशेषतया उपसर्गपद, निपातपद, नामिकपद, आख्यातपद एवं मिश्रपद की अपेक्षा से पांच लाख छिहत्तर हजार पद समझने चाहिए।
७. उपासकदशा	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप संख्येय हजार पद
८ अंतकृद्दशा	संख्येय हजार पद	संख्येय हजार पद	तेईस लाख चार हजार पद	संख्येय हजार पद अर्थात् तेईस लाख चार हजार पद
९. अनुत्तरौप-पातिकदशा	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद
१०. प्रश्नव्याकरण	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	बानवे लाख सोलह हजार पद	बानवे लाख सोलह हजार पद
११. विपाकसूत्र	संख्येय लाख पद	संख्येय हजार पद	एक करोड़ चौरासी लाख बत्तीस हजार पद	एक करोड़ चौरासी लाख बत्तीस हजार पद

तालिका—२

सचेलक परम्परा

बारहवें अंग दृष्टिवाद के चौदह पूर्व

१. पूर्व का नाम	२. समवायांग-गत पदसंख्या	३. नंदिगत पदसंख्या	४. समवायांग-वृत्ति	५. नंदि-वृत्ति
१. उत्पाद	×	×	एक करोड़ पद	एक करोड़ पद
२. अग्रायणीय	×	×	छियानबे लाख पद	छियानबे लाख पद
३. वीर्यप्रवाद	×	×	सत्तर लाख पद	सत्तर लाख पद
४. अस्ति-नास्ति-प्रवाद	×	×	साठ लाख पद	साठ लाख पद
५. ज्ञानप्रवाद	×	×	एक कम एक करोड़ पद	एक कम एक करोड़ पद
६. सत्यप्रवाद	×	×	एक करोड़ छः पद	एक करोड़ छः पद
७. आत्मप्रवाद	×	×	छब्बीस करोड़ पद	छब्बीस करोड़ पद
८. कर्मप्रवाद	×	×	एक करोड़ अस्सी हजार पद	एक करोड़ अस्सी हजार पद
९. प्रत्याख्यानपद	×	×	चौरासी लाख पद	चौरासी लाख पद
१०. विद्यानुवाद	×	×	एक करोड़ दस लाख पद	एक करोड़ दस लाख पद
११. अवंध्य	×	×	छब्बीस करोड़ पद	छब्बीस करोड़ पद
१२. प्राणायु	×	×	एक करोड़ छप्पन लाख पद	एक करोड़ छप्पन लाख पद
१३. क्रियाविशाल	×	×	नौ करोड़ पद	नौ करोड़ पद
१४. लोकबिन्दु-सार	×	×	साढ़े बारह करोड़ पद	साढ़े बारह करोड़ पद

तालिका—३

अचेलक परम्परा

ग्यारह अंग

१. अंग का नाम	२ पदपरिमाण	३. किस ग्रंथ में निर्देश
१. आचारांग	१८०००	धवला, जयधवला, गोम्मटसार एवं अंगपण्णत्ति
२. सूत्रकृतांग	३६०००	”
३. स्थानांग	४२०००	”
४. समवायांग	१६४०००	”
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	२२८०००	”
६. ज्ञाताधर्मकथा	५५६०००	”
७. उपासकदशा	११७००००	”
८. अन्तकृद्दशा	२३२८०००	”
९. अनुत्तरौपपातिकदशा	९२४४०००	”
१०. प्रश्नव्याकरण	९३१६०००	”
११. विपाकश्रुत	१८४०००००	”

तालिका—४

अचेलक परम्परा

चौदह पूर्व

१. पूर्व का नाम	२. पदसंख्या	३. किस ग्रंथ में निर्देश
१. उत्पाद	एक करोड़ पद	धवला, जयधवला, गोम्मटसार एवं अंगपण्णत्ति
२. अग्रायण-अग्रायणीय	छियानवे लाख पद	”
३. वीर्यप्रवाद-वीर्यानुप्रवाद	सत्तर लाख पद	”

१. पूर्व का नाम	२. पदसंख्या	३. किस ग्रंथ में निर्देश
४. अस्तिनास्तिप्रवाद	साठ लाख पद	धवला, जयधवला, गोम्मटसार एवं अंगपण्णत्ति
५. ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड़ पद	"
६. सत्यप्रवाद	एक करोड़ छः पद	"
७. आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड़ पद	"
८. कर्मप्रवाद	एक करोड़ अस्सी लाख पद	"
९. प्रत्याख्यान	चौरासी लाख पद	"
१०. विद्यानुवाद-विद्यानुप्रवाद	एक करोड़ दस लाख पद	"
११. कल्याण (अवन्ध्य)	छब्बीस करोड़ पद	"
१२. प्राणवाद-प्राणावाय (प्राणायु)	तेरह करोड़ पद	"
१३. क्रियाविशाल	नौ करोड़ पद	"
१४. लोकबिन्दुसार	बारह करोड़ पचास लाख पद	"

पूर्वों की पदसंख्या में दोनों परम्पराओं में अत्यधिक साम्य है। ग्यारह अंगों की पदसंख्या में विशेष भेद है। सचेलक परम्परा में यह संख्या प्रथम अंग से प्रारंभ होकर आगे क्रमशः दुगुनी-दुगुनी होती गई मालूम होती है। अचेलक परम्परा के उल्लेखों में ऐसा नहीं है। वर्तमान में उपलब्ध अंगसूत्रों की पदसंख्या उपर्युक्त दोनों प्रकार की पदसंख्या से भिन्न है।

प्रथम अंग में अठारह हजार पद बताये गये हैं। आचारांग (प्रथम अंग) के दो विभाग हैं : प्रथम श्रुतस्कन्ध व पांच चूलिकाओं सहित द्वितीय श्रुतस्कन्ध। इनमें से पांचवीं चूलिका निशीथ सूत्ररूप एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही है। अतः यह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। दूसरे शब्दों में यहाँ केवल चार चूलिकाओं सहित द्वितीय श्रुतस्कन्ध ही विवक्षित है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त अठारह हजार पद दोनों श्रुतस्कंधों के हैं अथवा केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ? इस विषय में आचारांग-निर्युक्तिकार, आचारांग-वृत्तिकार, समवायांग-वृत्तिकार एवं नन्दि-वृत्तिकार–ये चारों एकमत हैं कि अठारह हजार पद केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के हैं। द्वितीय

श्रुतस्कन्ध की पदसंख्या अलग ही है। समवायांग व नन्दी सूत्र के मूलपाठ में जहाँ पदसंख्या बताई गई है वहाँ इस प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। वहाँ केवल इतना ही बताया गया है कि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पचीस अध्ययन हैं, पचासी उद्देशक हैं, पचासी समुद्देशक हैं, अठारह हजार पद हैं, संख्येय अक्षर हैं। इस पाठ को देखते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अठारह हजार पद पूरे आचारांग के अर्थात् आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों के हैं, किसी एक श्रुतस्कन्ध के नहीं। जिस प्रकार पचीस अध्ययन, पचासी उद्देशक आदि दोनों श्रुतस्कन्धों के मिलाकर हैं उसी प्रकार अठारह हजार पद भी दोनों श्रुतस्कन्धों के मिलाकर ही हैं।

पद का अर्थ :

पद क्या है? पद का स्वरूप बताते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार[1] कहते हैं कि पद अर्थ का वाचक एवं द्योतक होता है। बैठना, बोलना, अश्व, वृक्ष इत्यादि पद वाचक हैं। प्र, परि, च, वा इत्यादि पद द्योतक हैं। अथवा पद के पांच प्रकार हैं : नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक व मिश्र। अश्व, वृक्ष आदि नामिक हैं। खलु, हि इत्यादि नैपातिक हैं। परि, अप, अनु आदि औपसर्गिक हैं। दौड़ता है, जाता है, आता है इत्यादि आख्यातिक हैं। संयत, प्रवर्धमान, निवर्तमान आदि पद मिश्र हैं। इसी प्रकार अनुयोगद्वारवृत्ति[2], अगस्त्यसिंहविरचित दशवैकालिकचूर्णि,[3] हरिभद्रकृत दशवैकालिकवृत्ति,[4] शीलांककृत आचारांगवृत्ति[5] आदि में पद का सोदाहरण स्वरूप बताया गया है। प्रथम कर्मग्रन्थ की सातवीं गाथा के अन्तर्गत पद की व्याख्या करते हुए देवेन्द्रसूरि कहते हैं :—"पदं तु अर्थसमाप्तिः इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित् पदेन अष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात् श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्। तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते।" अर्थात् अर्थसमाप्ति का नाम पद है किन्तु प्रस्तुत में जिस किसी पद से आचारांग आदि ग्रंथों के अठारह

---

[1] विशेषावश्यकभाष्य, गा. १००३, पृ. ४६७.

[2] पृ० २४३-४.

[3] पृ० ६.

[4] प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा.

[5] प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम सूत्र.

हजार एवं यथाक्रम अधिक पद समझने चाहिए। ऐसे ही पद का इस श्रुतज्ञानरूप द्वादशांग के परिमाण में अधिकार है। इस प्रकार के पद के परिमाण के सम्बन्ध में हमारे पास कोई परम्परा नहीं है कि जिससे पद का निश्चित स्वरूप जाना जा सके।

नंदी आदि में उल्लिखित पदसंख्या और सचेलक परंपरा के आचारांगादि विद्यमान ग्रन्थों की उपलब्ध श्लोकसंख्या के समन्वय का किसी भी टीकाकार ने प्रयत्न नहीं किया है।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि एवं श्लोकवार्तिक में एतद्विषयक कोई उल्लेख नहीं है। जयधवला में पद के तीन प्रकार बताये गये हैं: प्रमाणपद, अर्थपद व मध्यमपद। आठ अक्षरों के परिमाण वाला प्रमाणपद है। ऐसे चार प्रमाणपदों का एक श्लोक होता है। जितने अक्षरों द्वारा अर्थ का बोध हो उतने अक्षरों वाला अर्थपद होता है। १६३४८३०७८८८ अक्षरों वाला मध्यमपद कहलाता है। धवला, गोम्मटसार एवं अंगपण्णत्ति में भी यही व्याख्या की गई है। आचारांग आदि में पदों की जो संख्या बताई गई है उनमें प्रत्येक पद में इतने अक्षर समझने चाहिए। इस प्रकार आचारांग के १८००० पदों के अक्षरों की संख्या २९४२६९५४११८४००० होती है। अंगपण्णत्ति आदि में ऐसी संख्या का उल्लेख किया गया है। साथ ही आचारांग के अठारह हजार पदों के श्लोकों की संख्या ९१९५९२३११८७००० बताई गई है। इसी प्रकार अन्य अंगों के श्लोकों एवं अक्षरों की संख्या भी बताई गई है। वर्तमान में उपलब्ध अंगों से न तो सचेलकसंमत पदसंख्या का और न अचेलकसंमत पदसंख्या का मेल है।

बौद्ध ग्रंथों में उनके पिटकों के परिमाण के विषय में उल्लेख उपलब्ध हैं। मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, संयुत्तनिकाय आदि की जो सूत्रसंख्या बताई गई है उसमें भी वर्तमान में उपलब्ध सूत्रों की संख्या से पूरा मेल नहीं है।

वैदिक परम्परा में 'शतशाखः सहस्रशाखः' इस प्रकार की उक्ति द्वारा वेदों की सैकड़ों-हजारों शाखाएं मानी जाती हैं। ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा महाभारत के लाखों श्लोक होने की मान्यता प्रचलित है। पुराणों के भी इतने ही श्लोक होने की कथा प्रचलित है।

अंगों का क्रम :

ग्यारह अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचारांग है। आचारांग को क्रम में सर्वप्रथम स्थान देना सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि संघव्यवस्था में सबसे पहले आचार

की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचारांग की प्राथमिकता के विषय में दो भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं।[1] कोई कहता है कि पहले पूर्वों की रचना हुई बाद में आचारांग आदि बने। कोई कहता है कि सर्वप्रथम आचारांग बना व बाद में अन्य रचनाएं हुई। चूर्णिकारों एवं वृत्तिकारों ने इन दो परस्पर विरोधी उल्लेखों की संगति बिठाने का आपेक्षिक प्रयास किया है। फिर भी यह मानना विशेष उपयुक्त एवं बुद्धिग्राह्य है कि सर्वप्रथम आचारांग की रचना हुई। 'पूर्व' शब्द के अर्थ का आधार लेकर यह कल्पना की जाती है कि पूर्वों की रचना पहले हुई, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इनमें भी आचारांग आदि शास्त्र समाविष्ट ही हैं। अतः पूर्वों में भी सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था न की गई हो, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? 'पूर्व' शब्द से केवल इतना ही ध्वनित होता है कि उस संघप्रवर्तक के सामने कोई पूर्व परम्परा अथवा पूर्व परम्परा का साहित्य विद्यमान था जिसका आधार लेकर उसने समयानुसार अथवा परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन के साथ नई आचार-योजना इस प्रकार तैयार की कि जिसके द्वारा नवनिर्मित संघ का आध्यात्मिक विकास हो सके।

भारतीय साहित्य में भाषा आदि की दृष्टि से वेद सबसे प्राचीन हैं, ऐसा विद्वानों का निश्चित मत है। पुराण आदि भाषा वगैरह की दृष्टि से बाद की रचना मानी गई है। ऐसा होते हुए भी 'पुराण' शब्द द्वारा जो प्राचीनता का भास होता है उसके आधार पर वायुपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पहले पुराणों का स्मरण किया। उसके बाद उसके मुख से वेद निकले।[2] जैन परम्परा में भी संभवतः इसी प्रकार की कल्पना के आधार पर पूर्वों को प्रथम स्थान दिया गया हो। चूंकि पूर्व हमारे सामने नहीं हैं अतः उनकी रचना आदि के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम एवं प्रमुख हेतु है उसका विषय। दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आये हैं वहाँ-वहाँ मूल में अथवा वृत्ति में सबसे पहले आचारांग का ही नाम आया है। तीसरा हेतु यह है कि

---

[1] आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ८-९ ; आचारांगवृत्ति, पृ० ५.

[2] प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥

—वायुपुराण (पत्राकार), पत्र २.

इसके नाम के प्रथम उल्लेख के विषय में किसी ने कोई विसंवाद अथवा विरोध खड़ा नहीं किया।

आचारांग के बाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आये हैं उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के लिए हमारे पास कोई उल्लेखनीय साधन नहीं हैं। इतना अवश्य है कि सचेलक व अचेलक दोनों परम्पराओं में अंगों का एकही क्रम है। इसमें आचारांग का नाम सर्वप्रथम आता है व बाद में सूत्रकृतांग आदि का।

अंगों की शैली व भाषा :

शैली की दृष्टि से प्रथम अंग में गद्यात्मक व पद्यात्मक दोनों प्रकार की शैली है। द्वितीय अंग में भी इसी प्रकार की शैली है। तीसरे से लेकर ग्यारहवें अंग तक गद्यात्मक शैली का ही अवलम्बन लिया गया है। इनमें कहीं भी एक भी पद्य नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु प्रधानतः ये सब गद्य में ही हैं। इनमें भी ज्ञाताधर्मकथा आदि में तो वसुदेवहिंडी अथवा कादम्बरी की गद्यशैली के समकक्ष कही जा सके ऐसी गद्यशैली का उपयोग हुआ है। यह शैली उनके रचना-समय पर प्रकाश डालने में भी समर्थ है। हमारे साहित्य में पद्यशैली अति प्राचीन है तथा काव्यात्मक गद्यशैली इसकी अपेक्षा अर्वाचीन है। गद्य को याद रखना बहुत कठिन होता है इसलिए गद्यात्मक ग्रंथों में यत्रतत्र संग्रह-गाथाएँ दे दी जाती हैं जिनसे विषय को याद रखने में सहायता मिलती है। जैन ग्रंथों पर भी यही बात लागू होती है।

इस प्रसंग पर यह बताना आवश्यक है कि आचारांग सूत्र में पद्यसंख्या अल्प नहीं है। किन्तु अति प्राचीन समय से चली आने वाली हमारे पूर्वजों की एतद्विषयक अनभिज्ञता के कारण वर्तमान में आचारांग का अनेक बार मुद्रण होते हुए भी उसमें गद्य-पद्यविभाग का पूर्णतया पृथक्करण नहीं किया जा सका। ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिकार शीलांक को भी एतद्विषयक पूर्ण परिचय न था। इनसे पूर्व विद्यमान चूर्णिकारों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वर्तमान महान् संशोधक श्री शुब्रिंग ने अति परिश्रमपूर्वक आचारांग के समस्त पद्यों का पृथक्करण कर हम पर महान् उपकार किया है। खेद है कि इस प्रकार का संस्करण अपने समक्ष रहते हुए भी हम नव मुद्रण आदि में उसका पूरा उपयोग नहीं कर सके। आचारांग के पद्य त्रिष्टुभ, जगती इत्यादि वैदिक पद्यों से मिलते हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से जैन आगमों की भाषा साधारणतया अर्धमागधी कही जाती है। वैयाकरण इसे आर्ष प्राकृत कहते हैं। जैन परम्परा में शब्द अर्थात् भाषा का विशेष महत्त्व नहीं है। जो कुछ महत्त्व है वह अर्थ अर्थात् भाव का है। इसीलिए जैन शास्त्रों ने भाषा पर कभी जोर नहीं दिया। जैन शास्त्रों में स्पष्ट बताया गया है कि चित्र-विचित्र भाषाएँ मनुष्य की चित्तशुद्धि व आत्मविकास का निर्माण नहीं करतीं। जीवन की शुद्धि का निर्माण तो सद् विचारों द्वारा ही होता है। भाषा तो विचारों का केवल वाहन अर्थात् माध्यम है। अतः माध्यम के अतिरिक्त भाषा का कोई मूल्य नहीं। परम्परा से चला आने वाला साहित्य भाषा की दृष्टि से परिवर्तित होता आया है। अतः इसमें किसी एक भाषा का स्वरूप स्थिर रहा हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने जैन आगमों की भाषा को आर्ष प्राकृत नाम दिया है।

प्रकरणों का विषयनिर्देश :

आचारांग के मूल सूत्रों के प्रकरणों का विषयनिर्देश निर्युक्तिकार ने किया है, यह उन्हीं की सूझ प्रतीत होती है। स्थानांग, समवायांग एवं विशेषावश्यकभाष्य व हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति आदि में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के क्रम का अथवा अध्ययनों के नामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। समवायांग एवं नंदी के मूल में तो केवल प्रकरणों की संख्या ही दी गई है। अतः इन सूत्रों के कर्ताओं के सामने नामवार प्रकरणों की परम्परा विद्यमान रही होगी अथवा नहीं, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। इन नामों का परिचय स्थानांग आदि ग्रन्थों में मिलता है। अतः यह निश्चित है कि अंगग्रन्थों को ग्रन्थबद्ध—पुस्तकारूढ करने वाले अथवा अंगग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने वाले को इसका परिचय अवश्य रहा होगा।

परम्परा का आधार :

आचारांग के प्रारंभ में ही ऐसा वाक्य आता है कि 'उन भगवान् ने इस प्रकार कहा है।' इस वाक्य द्वारा सूत्रकार ने इस बात का निर्देश किया है कि यहां जो कुछ भी कहा जा रहा है वह गुरु-परम्परा के अनुसार है, स्वकल्पित नहीं। इस प्रकार के वाक्य अन्य धर्म-परम्पराओं के शास्त्रों में भी मिलते हैं। बौद्ध पिटक ग्रन्थों में प्रत्येक प्रकरण के आदि में 'एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा उक्कट्ठायं विहरति सुभगवने सालराजमूले।'[1]—इस प्रकार के वाक्य आते

[1] मज्झिमनिकाय का प्रारंभ.

हैं। वैदिक परम्परा में भी इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में अनेक स्थानों पर पूर्व परम्परा के सूचन के लिए 'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः नूतनैः उत' यों कह कर परम्परा के लिए 'पूर्वेभिः' अथवा 'नूतनैः' इत्यादि पद रखने की प्रथा स्वीकार की गई है। उपनिषदों में कहीं प्रश्नोत्तर की पद्धति है तो कहीं अमुक ऋषि ने अमुक को कहा, इस प्रकार की प्रथा स्वीकृत है। सूत्रकृतांग आदि में आचारांग से भिन्न प्रकार की वाक्यरचना द्वारा पूर्व परम्परा का निर्देश किया गया है।

परमतों का उल्लेख :

अंगसूत्रों में अनेक स्थानों पर 'एगे पवयमाणा' ऐसा कहते हुए सूत्रकार ने परमतों का भी उल्लेख किया है। परमत का विशेष नाम देने की प्रथा न होते हुए भी उस मत के विवेचन से नाम का पता लग सकता है। बुद्ध का नाम सूत्रकृतांग में स्पष्ट दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त मक्खलिपुत्र गोशाल के आजीविक मत का भी स्पष्ट नाम आता है। कहीं पर अन्नउत्थिया—अन्ययूथिकाः अर्थात् अन्य गण वाले यों कहते हैं, इस प्रकार कहते हुए परमत का निर्देश किया गया है। आचारांग में तो नहीं किन्तु सूत्रकृतांग आदि में कुछ स्थानों पर भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों के लिए अथवा पार्श्वतीर्थ के अनुयायियों के लिए 'पासावच्चिज्जा' एवं 'पासत्था' शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। आजीविक मत के आचार्य गोशालक के छः दिशाचर सहायक थे। इन दिशाचरों के सम्बन्ध में प्राचीन टीकाकारों एवं चूर्णिकारों ने कहा है कि ये पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। कुछ स्थानों पर अन्य मत के अनुयायियों के कालोदायी आदि नाम भी आये हैं। अन्य मत के लिये सर्वत्र 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं वह मिथ्या है, यों कहा गया है। आचारांग में हिंसा-अहिंसा की चर्चा के प्रसंग पर 'पावादुया—प्रावादुकाः' शब्द भी अन्य मत के वादियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहां-कहीं भी अन्य मत का निरास किया गया है वहां किसी विशेष प्रकार की तार्किक युक्तियों का प्रयोग नहींवत् है। 'ऐसा कहने वाले मन्द हैं, बाल हैं, आरंभ-समारंभ तथा विषयों में फँसे हुए हैं। वे दीर्घकाल तक भवभ्रमण करते रहेंगे।' इस प्रकार के आक्षेप ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। अर्थ की विशेष स्पष्टता के लिए यत्र-तत्र उदाहरण, उपमाएं व रूपक भी दिये गये हैं। सूर्यग्रहणादि से सम्बन्धित तत्कालीन मिथ्या धारणाओं का निरसन करने का भी प्रयास किया गया है। कँच-

नीच की जातिगत कल्पना का भी निरास किया गया है। बौद्ध पिटकों में इस प्रकार की कुश्रद्धाओं के निरसन के लिए जिस विशद चर्चा एवं तर्कपद्धति का उपयोग हुआ है उस कोटि की चर्चा का अंगसूत्रों में अभाव दिखाई देता है।

विषय-वैविध्य :

अंगग्रंथों में निम्नोक्त विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है : स्वर्ग-नरकादि परलोक, सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिष्क देव, जम्बूद्वीपादि द्वीप, लवणादि समुद्र, विविध प्रकार के गर्भ व जन्म, परमाणु-कंपन, परमाणु की सांशता आदि। इस प्रकार इन सूत्रों में केवल अध्यात्म एवं उसकी साधना की ही चर्चा नहीं है अपितु तत्सम्बद्ध अन्य अनेक विषयों की भी चर्चा की गई है। इनमें कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि अमुक प्रश्न तो अव्याकृत है अर्थात् उसका व्याकरण—स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। यहां तक कि मुक्तात्मा एवं निर्वाण के विषय में भी विस्तार से चर्चा की गई है। तत्कालीन समाजव्यवस्था, विद्याभ्यास की पद्धति, राज्यसंस्था, राजाओं के वैभव-विलास, मद्यपान, गणिकाओं का राज्यसंस्था में स्थान, विविध प्रकार की सामाजिक प्रणालियां, युद्ध, वादविवाद, अलंकारशाला, क्षौरशाला, जैन मुनियों की आचार-प्रणाली, अन्य मत के तापसों व परिव्राजकों की वेषभूषा, दीक्षा तथा आचार-प्रणाली, अपराधों के लिए दण्ड-व्यवस्था, जेलों के विविध प्रकार, व्यापार-व्यवसाय, जैन व अजैन उपासकों की चर्या, मनौती मनाने व पूरी करने की पद्धतियां, दासप्रथा, इन्द्र, रुद्र, स्कन्द, नाग, भूत, यक्ष शिव, वैश्रमण, हरिणेगमेषी आदि देव, विविध-कलाएँ, नृत्य, अभिनय, लब्धियां, विकुर्वणाशक्ति, स्वर्ग में होने वाली चोरियां आदि, नगर, उद्यान, समवसरण (धर्म-सभा), देवासुर-संग्राम, वनस्पति आदि विविध जीव, उनका आहार, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, अध्यवसाय आदि अनेक विषयों पर अंगग्रंथों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

जैन परम्परा का लक्ष्य :

जैन तीर्थंकरों का लक्ष्य निर्वाण है। वीतरागदशा की प्राप्ति उनका अन्तिम एवं प्रधानतम ध्येय है। जैनशास्त्र कथाओं द्वारा, तत्त्वचर्चा द्वारा अथवा स्वर्ग-नरक, सूर्य-चन्द्र आदि के वर्णन द्वारा इसी का निरूपण करते हैं। जब वेदों की रचना हुई तब वैदिक परम्परा का मुख्य ध्येय स्वर्गप्राप्ति था। इसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर वेदों में विविध कर्मकांडों की योजना की गई है। उनमें हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, मदिरापान-अपान इत्यादि की चर्चा गौण है। धीरे-धीरे

चिन्तनप्रवाह ने स्वर्गप्राप्ति के स्थान पर निर्वाण, वीतरागता एवं स्थितप्रज्ञता को प्रतिष्ठित किया। बाह्य कर्मकांड भी इसी ध्येय के अनुकूल बने। ऐसा होते हुए भी इस नवीन परिवर्तन के साथ-साथ प्राचीन परम्परा भी चलती रही। इसी का परिणाम है कि जो ध्येय नहीं है अथवा अन्तिम साध्य नहीं है ऐसे स्वर्ग के वर्णनों को भी बाद के शास्त्रों में स्थान मिला। ऋग्वेद के प्रारंभ में धनप्राप्ति की इच्छा से अग्नि की स्तुति की गई है जबकि आचारांग के प्रथम वाक्य में मैं क्या था? इत्यादि प्रकार से आत्मरूप व्यक्ति के स्वरूप का चिन्तन है। सूत्रकृतांग के प्रारंभ में बन्धन व मोक्ष की चर्चा की गई है एवं बताया गया है कि परिग्रह बन्धन है। थोड़े से भी परिग्रह पर ममता रखने वाला दुःख से दूर नहीं रह सकता। इस प्रकार जैन परम्परा के मूल में आत्मा व अपरिग्रह है। इसमें स्वर्गप्राप्ति का महत्त्व नहीं है। जैनग्रंथों में बताया गया है कि साधक की साधना में जब कोई दोष रह जाता है तभी उसे स्वर्गरूप संसार में भ्रमण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में स्वर्ग संयम का नहीं अपितु संयमगत दोष का परिणाम है। स्वर्गप्राप्ति को भवभ्रमण का नाम देकर यह सूचित किया है कि जैन परम्परा में स्वर्ग का कोई मूल्य नहीं है। अंगसूत्रों में जितनी भी कथाएँ आई हैं सब में साधकों के निर्वाण को ही प्रमुख स्थान दिया गया है।

प्रकरण ३

अंगग्रंथों का अंतरंग परिचय : आचारांग

तृतीय प्रकरण

अंगग्रन्थों का अंतरंग परिचय : आचारांग

अंगों के बाह्य परिचय में अंगग्रंथों की शैली, भाषा, प्रकरण-क्रम तथा विषय-विवेचन की चर्चा की गई। अंतरंग परिचय में निम्नोक्त पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा :—

(१) अचेलक व सचेलक दोनों परम्पराओं के ग्रंथों में निर्दिष्ट अंगों के विषयों का उल्लेख व उनकी वर्तमान विषयों के साथ तुलना।

(२) अंगों के मुख्य नामों तथा उनके अध्ययनों के नामों की चर्चा।

(३) पाठान्तरों, वाचनाभेदों तथा छन्दों के विषय में निर्देश।

(४) अंगों में उपलब्ध उपोद्घात द्वारा उनके कर्तृत्व का विचार।

(५) अंगों में आने वाले कुछ आलापकों की चूर्णि, वृत्ति इत्यादि के अनुसार तुलनात्मक चर्चा।

(६) अंगों में आने वाले अन्यमतसम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा।

(७) अंगों में आने वाले विशेष प्रकार के वर्णन, विशेष नाम, नगर इत्यादि के नाम तथा सामाजिक एवं ऐतिहासिक उल्लेख।

(८) अंगों में प्रयुक्त मुख्य-मुख्य शब्दों के विषय में निर्देश।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोम्मटसार, अंगपण्णत्ति आदि ग्रंथों में बताया है कि आचारांग[1] में मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ईर्याशुद्धि, उत्सर्गशुद्धि, शयनासनशुद्धि तथा विनयशुद्धि—इन आठ प्रकार की शुद्धियों का विधान है।

सचेलक परम्परा के समवायांग सूत्र में बताया गया है निर्ग्रन्थसम्बन्धी आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चंक्रमण, प्रमाण, योगयोजना, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, आहार-पानीसम्बन्धी उद्गम, उत्पाद, एषणाविशुद्धि एवं शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तप, उपधान, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारविषयक सुप्रशस्त विवेचन आचारांग में उपलब्ध है।

---

१ (अ) प्रथम श्रुतस्कन्ध—W. Schubring, Leipzig, 1910; जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना, सन् १९२४.

(आ) निर्युक्ति तथा शीलांक, जिनहंस व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपत सिंह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६.

(इ) निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ—आगमोदय समिति, सूरत, वि० सं० १९७२-१९७३.

(ई) अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S B. E. Series, Vol. 22, Oxford, 1884.

(उ) मूल—H. Jacobi, Pali Text Society, London, 1882.

(ऊ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का जर्मन अनुवाद—Worte Mahavira, W. Schubring, Leipzig, 1926.

(ऋ) गुजराती अनुवाद—रवजीभाई देवराज, जैन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, सन् १९०२ व १९०६.

(ए) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२.

(ऐ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

(ओ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का गुजराती अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र (संतबाल), महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सन् १९३६.

(औ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५७.

(अं) हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे. स्था. जैन कॉन्फरेंस, बम्बई, वि० सं० १९९४.

(अः) प्रथम श्रुतस्कन्ध का बंगाली अनुवाद—हीराकुमारी, जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि० सं० २००६.

नंदीसूत्र में बताया गया है कि आचारांग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरणकरण, यात्रा, मात्रा तथा विविध अभिग्रहविषयक वृत्तियों एवं ज्ञानाचारादि पांच प्रकार के आचार पर प्रकाश डाला गया है।

समवायांग व नन्दीसूत्र में आचारांग के विषय का निरूपण करते हुए प्रारंभ में ही 'आयार-गोयर' ये दो शब्द रखे गये हैं। ये शब्द आचारांग के प्रारंभिक अध्ययनों में नहीं मिलते। विमोह अथवा विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में 'आयार-गोयर' ऐसा उल्लेख मिलता है। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक में 'आयारगोयरं आइक्खे' इस वाक्य में भी आचार-गोचरविषयक निरूपण है। अष्टम अध्ययन में साधक श्रमण के खानपान तथा वस्त्रपात्र के विषय में भी चर्चा है। इसमें उसके निवासस्थान का भी विचार किया गया है। साथ ही अचेलक—यथाजात श्रमण तथा उसकी मनोवृत्ति का भी निरूपण है। इसी प्रकार एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं एवं उनके कर्तव्यों व मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस आचार-गोचर की भूमिकारूप आध्यात्मिक योग्यता पर ही प्रारंभिक अध्ययनों में भार दिया गया है।

विषय :

वर्तमान आचारांग में क्या उपर्युक्त विषयों का निरूपण है? यदि है तो किस प्रकार? उपर्युक्त राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग के जिन विषयों का उल्लेख है वे इतने व्यापक व सामान्य हैं कि ग्यारह अंगों में से प्रत्येक अंग में किसी न किसी प्रकार उनकी चर्चा आती ही है। इनका सम्बन्ध केवल आचारांग से ही नहीं है। अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनमें केवल उसकी पदसंख्या के विषय में उल्लेख आता है। सचेलक परम्परा के समवायांग तथा नन्दीसूत्र में बताया गया है कि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पचीस अध्ययन हैं। इनमें पदसंख्या के विषय में भी उल्लेख मिलते हैं। आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इसके नौ अध्ययन होने के कारण इसे 'नवब्रह्मचर्य' कहा गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिकारूप है। इसका दूसरा नाम 'आचाराग्र' भी है। वर्तमान में प्रचलित पद्धति के अनुसार इसे प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट भी कह सकते हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग का जो विषय बताया गया है वह द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अक्षरशः

मिल जाता है। इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार व वृत्तिकार कहते हैं कि स्थविर पुरुषों ने शिष्यों के हित की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अप्रकट अर्थ को प्रकट कर—विभागशः स्पष्ट कर चूलिकारूप—आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की है। नवब्रह्मचर्य के प्रथम अध्ययन 'शस्त्रपरिज्ञा' में समारंभ—समालंभ अथवा आरंभ—आलंभ अर्थात् हिंसा के त्यागरूप संयम के विषय में जो विचार सामान्य तौर पर रखे गये हैं उन्हीं का यथोचित विभाग कर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पंच महाव्रतों एवं उनकी भावनाओं के साथ ही साथ संयम की एकविधता, द्विविधता आदि का व चातुर्याम, पंचयाम, रात्रिभोजनत्याग इत्यादि का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्ययन 'लोकविजय' के पांचवें उद्देशक में आनेवाले 'सव्वामगंधे परिन्नाय निरामगंधे परिव्वए' तथा 'अदिस्समाणे कय-विक्कएसु' इन वाक्यों में एवं आठवें विमोक्ष अथवा विमोह नामक अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में आने वाले 'से भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा······सुसाणंसि वा रुक्खमूलंसि वा········' इस वाक्य में जो भिक्षुचर्या संक्षेप में बताई गई है उसे दृष्टि में रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध में एकादश पिण्डैषणाओं का विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशक में निर्दिष्ट 'वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं ओग्गहं च कडासणं' को मूलभूत मानते हुए वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, अवग्रहप्रतिमा, शय्या आदि का आचाराग्र में विवेचन किया गया है। पांचवें अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक के 'गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स' इस वाक्य में आचारचूलिका के सम्पूर्ण ईर्या अध्ययन का मूल विद्यमान है। धुत नामक छठे अध्ययन के पांचवें उद्देशक के 'आइक्खे विभए किट्टे वेयवी' इस वाक्य में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भाषाजात' अध्ययन का मूल है। इस प्रकार नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध आचारचूलिकारूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध का आधारस्तम्भ है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययन के दो उद्देशकों में भगवान् महावीर की चर्या का ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण वर्णन है। यह वर्णन जैनधर्म की भित्तिरूप आंतरिक एवं बाह्य अपरिग्रह की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व का है। वैदिक परम्परा के हिंसारूप आलंभन का सर्वथा निषेध करने वाला एवं अहिंसा को ही धर्मरूप बताने वाला शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन भी कम महत्त्व का नहीं है। इसमें हिंसारूप स्नानादि शौचधर्म को चुनौती दी गई है। साथ ही वैदिक व बौद्ध परम्परा के मुनियों की हिंसारूप चर्या के विषय में भी स्थान-स्थान पर विवेचन किया गया है

एवं 'सर्व प्राणों का हनन करना चाहिए' इस प्रकार का कथन अनार्यों का है तथा 'किसी भी प्राण का हनन नहीं करना चाहिए' इस प्रकार का कथन आर्यों का है, इस मत की पुष्टि की गई है। 'अवरेण पुव्वं न सरंति एगे', 'तहागया उ' इत्यादि उल्लेखों द्वारा तथागत बुद्ध के मत का निर्देश किया गया है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जैसे उपनिषद्-वाक्यों से मिलते-जुलते 'सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ' इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा की अगोचरता बताई गई है। अचेलक—सर्वथा नग्न, एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं की चर्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रथम श्रुतस्कन्ध में उपलब्ध हैं। इन उल्लेखों में सचेलकता एवं अचेलकता की संगतिरूप सापेक्ष मर्यादा का प्रतिपादन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आने वाली सभी बातें जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से, जैनमुनियों की चर्या की दृष्टि से एवं समग्र जैनसंघ की अपरिग्रहात्मक व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

अचेलकता व सचेलकता :

भगवान् महावीर की उपस्थिति में अचेलकता-सचेलकता का कोई विशेष विवाद न था। सुधर्मास्वामी के समय में भी अचेलक व सचेलक प्रथाओं की संगति थी। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित भिक्षु के विषय में तो उल्लेख आता है किन्तु करपात्री अर्थात् पाणिपात्री भिक्षु के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। वीरनिर्वाण के हजार वर्ष बाद संकलित कल्पसूत्र के सामाचारी-प्रकरण की २५३, २५४ एवं २५५ वीं कंडिका में 'पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स' इन शब्दों में पाणिपात्री अथवा करपात्री भिक्षु का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है व आगे की कंडिका में 'पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स' इन शब्दों में पात्रधारी भिक्षु का भी उल्लेख है। इस प्रकार सचेलक परम्परा के आगम में अचेलक व सचेलक की भांति करपात्री एवं पात्रधारी भिक्षुओं का भी स्पष्ट उल्लेख है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रधारी भिक्षुओं के विषय में विशेष विवेचन आता है। इसमें सर्वथा अचेलक भिक्षु के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता। वैसे मूल में तो भिक्षु एवं भिक्षुणी जैसे सामान्य शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु जहां-जहां भिक्षु को ऐसे वस्त्र लेने चाहिए, ऐसे वस्त्र नहीं लेने चाहिए, ऐसे पात्र लेने चाहिए, ऐसे पात्र नहीं लेने चाहिए—इत्यादि चर्या का विधान है वहां अचेलक अथवा पाणिपात्र भिक्षु की चर्या के विषय में

कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध का झुकाव सचेलक प्रथा की ओर है। संभवतः इसीलिए स्वयं निर्युक्तिकार ने इसकी रचना का दायित्व स्थविरों पर डाला है। सुधर्मास्वामी का झुकाव दोनों परम्पराओं की सापेक्ष संगति की ओर मालूम पड़ता है। इस झुकाव का प्रतिबिम्ब प्रथम श्रुतस्कन्ध में दिखाई देता है। दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि नग्नता तथा सचेलकता (जीर्णवस्त्रधारित्व अथवा अल्पवस्त्र-धारित्व) दोनों प्रथाओं की मान्यता होने के कारण जो समुदाय अपनी शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों एवं मर्यादाओं के कारण सचेलकता की ओर झुकने लगा हो उसका प्रतिनिधित्व दूसरे श्रुतस्कन्ध में किया गया हो। जिस युग का यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध है उस युग में भी अचेलकता समादरणीय मानी जाती थी एवं सचेलकता की ओर झुका हुआ समुदाय भी अचेलकता को एक विशिष्ट तपश्चर्या के रूप में देखता था एवं अपनी अमुक मर्यादाओं के कारण वह स्वयं उस ओर नहीं जा सकता था। एतद्विषयक अनेक प्रमाण अंगशास्त्रों में आज भी उपलब्ध हैं। अंगसाहित्य में अचेलकता एवं सचेलकता दोनों प्रथाओं का सापेक्ष समर्थन मिलता है।

अचेलक अर्थात् यथाजात एवं सचेलक अर्थात् अल्पवस्त्रधारी – इन दोनों प्रकार के साधक श्रमणों में अमुक प्रकार का श्रमण अपने को अधिक उत्कृष्ट समझे एवं दूसरे को अपकृष्ट समझे, यह ठीक नहीं। यह बात आचाराग्र के मूल में ही कही गई है। वृत्तिकार ने भी अपने शब्दों में इसी आशय को अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने एतत्सम्बन्धी एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है जो इस प्रकार है :—

> जो वि दुवत्थतिवत्थो बहुवत्थ अचेलओ व संथरइ।
> न हु ते हीलंति परं सव्वे वि अ ते जिणाणाए॥
>
> —द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सू० २८६, पृ० ३२७ पर वृत्ति.

कोई चाहे द्विवस्त्रधारी हो, त्रिवस्त्रधारी हो, बहुवस्त्रधारी हो अथवा निर्वस्त्र हो किन्तु उन्हें एक-दूसरे की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। निर्वस्त्र ऐसा न समझे कि मैं उत्कृष्ट हूँ और ये द्विवस्त्रधारी आदि अपकृष्ट हैं। इसी प्रकार द्विवस्त्रधारी आदि ऐसा न समझें कि हम उत्कृष्ट हैं और यह त्रिवस्त्रधारी या निर्वस्त्र श्रमण अपकृष्ट है। उन्हें एक-दूसरे का अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सभी जिन भगवान् की आज्ञा का अनुसरण करने वाले हैं।

इससे स्पष्ट है कि निर्वस्त्र व वस्त्रधारी दोनों के प्रति मूल सूत्रकार से लगा कर वृत्तिकारपर्यन्त समस्त आचार्यों ने अपना समभाव व्यक्त किया है। उत्तराध्ययन में आने वाले केशी-गौतमीय नामक २३वें अध्ययन के संवाद में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

आचार के पर्याय :

जहाँ-जहाँ द्वादशांग अर्थात् बारह अंगग्रंथों के नाम बताये गये हैं, सर्वत्र प्रथम नाम आचारांग का आता है। आचार के पर्यायवाची नाम निर्युक्तिकार ने इस प्रकार बताये हैं : आयार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अंग, आइण्ण, आजाति एवं आमोक्ष। इन दस नामों में आदि के दो नाम भिन्न नहीं अपितु एक ही शब्द के दो रूपान्तर हैं। 'आचाल' के 'च' का लोप नहीं हुआ है जबकि 'आयार' में 'च' लुप्त है। इसके अतिरिक्त 'आचाल' में मागधी भाषा के नियम के अनुसार 'र' का 'ल' हुआ है। 'आगाल' शब्द भी 'आयार' से भिन्न मालूम नहीं पड़ता। 'य' तथा 'ग' का प्राचीन लिपि की अपेक्षा से मिश्रण होना संभव है तथा वर्तमान हस्तप्रतियों में प्रयुक्त प्राचीन देवनागरी लिपि की अपेक्षा से भी इनका मिश्रण असम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में 'आयार' के बजाय 'आगाल' का वाचन संभव है। इसी प्रकार 'आगाल' एवं 'आगर' भी भिन्न मालूम नहीं पड़ते। 'आगार' शब्द के 'गा' के 'आ' का ह्रस्व होने पर 'आगर' एवं 'आगार' के 'र' का 'ल' होने पर 'आगाल' होना सहज है। 'आइण्ण' (आचीर्ण) नाम में 'चर' धातु के भूतकृदंत का प्रयोग हुआ है। इसे देखते हुए 'आयार' के अन्तर्गत इस नाम का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार आयार, आचाल, आगाल, आगर एवं आइण्ण भिन्न-भिन्न शब्द नहीं अपितु एक ही शब्द के विभिन्न रूपान्तर हैं। आसास, आयरिस, अंग, आजाति एवं आमोक्ष शब्द आयार शब्द से भिन्न हैं। इनमें से 'अंग' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ रहा हुआ है जैसे आयारअंग अथवा आयारंग इत्यादि। आयार—आचार सूत्र श्रुतरूप पुरुष का एक विशिष्ट अंग है अतः इसे आयारंग—आचारांग कहा जाता है। 'आजाति' शब्द स्थानांगसूत्र में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है : जन्म के अर्थ में व आचारदशा नामक शास्त्र के दसवें अध्ययन के नाम के रूप में। संभवतः आचारदशा व आचार के नामसाम्य के कारण आचारदशा के अमुक अध्ययन का नाम समग्र आचारांग के लिए प्रयुक्त हुआ हो। आसास आदि शेष शब्दों की कोई उल्लेखनीय विशेषता प्रतीत नहीं होती।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन :

नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के नामों का निर्देश स्थानांग व समवायांग में उपलब्ध है। इसी प्रकार का अन्य उल्लेख आचारांग-निर्युक्ति (गा० ३१-२) में भी मिलता है। तदनुसार नौ अध्ययन इस प्रकार हैं : १. सत्थपरिण्णा (शस्त्रपरिज्ञा), २. लोगविजय (लोकविजय), ३. सीओसणिज्ज (शीतोष्णीय), ४. सम्मत्त (सम्यक्त्व), ५. आवंति (यावन्तः), ६. धूअ (धूत), ७. विमोह (विमोह अथवा विमोक्ष), ८. उवहाणसुअ (उपधानश्रुत), ९. महापरिण्णा (महापरिज्ञा)। नंदिसूत्र की हारिभद्रीय तथा मलयगिरिकृत वृत्ति में महापरिण्णा का क्रम आठवां तथा उवहाणसुअ का क्रम नववां है। आचारांग-निर्युक्ति में धूअ के बाद महापरिण्णा, उसके बाद विमोह व उसके बाद उवहाणसुअ का निर्देश है। इस प्रकार अध्ययन-क्रम में कुछ अन्तर होते हुए भी संख्या की दृष्टि से सब एकमत हैं। इन नवों अध्ययनों का एक सामान्य नाम नवब्रह्मचर्य भी है। यहां ब्रह्मचर्य शब्द व्यापक अर्थ—संयम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचारांग की उपलब्ध वाचना में छठा धूअ, सातवां महापरिण्णा, आठवां विमोह एवं नववां उवहाणसुअ —इस प्रकार का क्रम है। निर्युक्तिकार ने तथा वृत्तिकार शीलांक ने भी यही क्रम स्वीकार किया है। प्रस्तुत चर्चा में इसी क्रम का अनुसरण किया जाएगा।

उपर्युक्त नौ अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। इसमें कुल मिलाकर सात उद्देशक—प्रकरण हैं। निर्युक्तिकार ने इन उद्देशकों का विषयक्रम निरूपण करते हुए बताया है कि प्रथम उद्देशक में जीव के अस्तित्व का निरूपण है तथा आगे के छः उद्देशकों में पृथ्वीकाय आदि छः जीवनिकायों के आरंभ-समारंभ की चर्चा है। इन प्रकरणों में शस्त्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है एवं लौकिक शस्त्र की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार के शस्त्र के अभिधेय का स्पष्ट परिज्ञान कराया गया है। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से भी इस अध्ययन का शस्त्रपरिज्ञा नाम सार्थक है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। इसमें कुल छः उद्देशक हैं। कुछ स्थानों पर 'गढिए लोए, लोए पव्वहिए, लोगविपस्सी, विइत्ता लोगं, वंता लोगसन्नं, लोगस्स कम्मसमारंभा' इस प्रकार के वाक्यों में 'लोक' शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु सारे अध्ययन में कहीं भी 'विजय' शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता। फिर भी समग्र अध्ययन में लोकविजय का ही उपदेश

है, ऐसा कहा जा सकता है। यहां विजय का अर्थ लोकप्रसिद्ध जीत ही है। लोक पर विजय प्राप्त करना अर्थात् संसार के मूल कारणरूप क्रोध, मान, माया व लोभ—इन चार कषायों को जीतना। यही इस अध्ययन का सार है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के छहों उद्देशकों का जो विषयानुक्रम बताया है वह उसी रूप में उपलब्ध है। वृत्तिकार ने भी उसीका अनुसरण किया है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वैराग्य बढ़ाना, संयम में दृढ़ करना, जातिगत अभिमान को दूर करना, भोगों की आसक्ति से दूर रखना, भोजनादि के निमित्त होने वाले आरंभ-समारंभ का त्याग करवाना, ममता छुड़वाना आदि है।

तृतीय अध्ययन का नाम सीओसणिज्ज—शीतोष्णीय है। इसके चार उद्देशक हैं। शीत अर्थात् शीतलता अथवा सुख एवं उष्ण अर्थात् परिताप अथवा दुःख। प्रस्तुत अध्ययन में इन दोनों के त्याग का उपदेश है। अध्ययन के प्रारंभ में ही 'सीओसिणचाई' (शीतोष्णत्यागी) ऐसा शब्द प्रयोग भी उपलब्ध है। इस प्रकार अध्ययन का शीतोष्णीय नाम सार्थक है। निर्युक्तिकार ने चारों उद्देशकों का विषयानुक्रम इस प्रकार बताया है: प्रथम उद्देशक में असंयमी को सुप्त—सोते हुए की कोटि में गिना गया है। दूसरे उद्देशक में बताया है कि इस प्रकार के सुप्त व्यक्ति महान् दुःख का अनुभव करते हैं। तृतीय उद्देशक में कहा गया है कि श्रमण के लिए केवल दुःख सहन करना अर्थात् देहदमन करना ही पर्याप्त नहीं है। उसे चित्तशुद्धि की भी वृद्धि करते रहना चाहिए। चतुर्थ अध्ययन मे कषाय-त्याग, पापकर्म-त्याग एवं संयमोत्कर्ष का निरूपण है। यही विषयक्रम वर्तमान में भी उपलब्ध है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्मत्त—सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में अहिंसाधर्म की स्थापना व सम्यक्त्ववाद का निरूपण है। द्वितीय उद्देशक में हिंसा की स्थापना करने वाले अन्ययूथिकों को अनार्य कहा गया है एवं उनसे प्रश्न किया गया है कि उन्हें मन की अनुकूलता सुखरूप प्रतीत होती है अथवा मन की प्रतिकूलता ? इस प्रकार इस उद्देशक में भी अहिंसाधर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उद्देशक में निर्दोष तप का अर्थात् केवल देहदमन का नहीं अपितु चित्तशुद्धिपोषक अक्रोध, अलोभ, क्षमा, संतोष आदि गुणों की वृद्धि करने वाले तप का निरूपण है। चतुर्थ उद्देशक में सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप की प्राप्ति के लिए यत्न करने का उपदेश है। इस प्रकार यह अध्ययन सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला है। इसमें अनेक स्थानों पर 'सम्मत्तदंसिणो,

सम्मं एवं ति' आदि वाक्यों में सम्मत्त—सम्यक्त्व शब्द का साक्षात् निर्देश भी है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का सम्यक्त्व नाम सार्थक है। विषयानुक्रम की दृष्टि से भी निर्युक्तिकार व सूत्रकार में साम्य है।

निर्युक्तिकार के कथनानुसार पांचवें अध्ययन के दो नाम हैं: आवंति व लोकसार। अध्ययन के प्रारंभ में, मध्य में एवं अन्त में आवंति शब्द का प्रयोग हुआ है अतः इसे आवंति नाम देसकते हैं। इसमें जो कुछ निरूपण है वह समग्रलोक का साररूप है अतः इसे लोकसार भी कहा जा सकता है। अध्ययन के प्रारंभ में ही 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी अनेक बार 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। समग्र अध्ययन में कहीं भी 'सार' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। अध्ययन के अन्त में शब्दातीत एवं बुद्धि व तर्क से अगम्य आत्मतत्त्व का निरूपण है। यही निरूपण साररूप है, यों समझ कर इसका नाम लोकसार रखा गया हो, यह संभव है। इसके छः उद्देशक हैं। निर्युक्तिकार ने इनका जो विषयक्रम बताया है वह आज भी उसी रूप में उपलब्ध है। इनमें सामान्य श्रमणचर्या का प्रतिपादन है।

छठे अध्ययन का नाम धूत है। अध्ययन के आरंभ में ही 'अग्घाइ से धूयं नाणं' इस वाक्य में धूय—धूत शब्द का उल्लेख है। आगे भी 'धूयवायं पवेएस्सामि' यों कह कर धूतवाद का निर्देश किया है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का धूत नाम सार्थक है। हमारी भाषा में 'अवधूत' शब्द का जो अर्थ प्रचलित है वही अर्थ प्रस्तुत धूत शब्द का भी है। इस अध्ययन के पांच उद्देशक हैं। इनमें तृष्णा को झटकने का उपदेश है। आत्मा में जो सयण याने सदन, शयन या स्वजन, उपकरण, शरीर, रस, वैभव, सत्कार आदि की तृष्णा विद्यमान है उसे झटक कर साफ कर देना चाहिए।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिन्ना—महापरिज्ञा है। यह अध्ययन वर्तमान में अनुपलब्ध है किन्तु इस पर लिखी गई निर्युक्ति उपलब्ध है। इससे पता चलता है कि निर्युक्तिकार के सामने यह अध्ययन अवश्य रहा होगा। निर्युक्तिकार ने 'महापरिन्ना' के 'महा' एवं 'परिन्ना' इन दो पदों का निरूपण करने के साथ ही परिन्ना के प्रकारों का भी निरूपण किया है एवं अन्तिम गाथा में बताया है कि साधक को देवांगना, नरांगना, व तिर्यञ्चांगना इन तीनों का मन, वचन व काया से त्याग करना चाहिए। इस परित्याग का नाम महापरिज्ञा है। इस अध्ययन का विषय निर्युक्तिकार के शब्दों

में 'मोहसमुत्था परिसहुवसग्गा' अर्थात् मोहजन्य परीषह अथवा उपसर्ग हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार शीलांकदेव कहते हैं कि संयमी श्रमण को साधना में विघ्नरूप से उत्पन्न मोहजन्य परीषहों अथवा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए[1]। स्त्री-संसर्ग भी एक मोहजन्य परीषह ही है। भगवान् महावीरकृत आचारविधानों में ब्रह्मचर्य अर्थात् त्रिविध स्त्री-संसर्गत्याग प्रधान है। परम्परा से चले आने वाले चार यामों—चार महाव्रतों में भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अलग से जोड़ा। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय में एतद्विषयक कितनी शिथिलता रही होगी। इस प्रकार के उग्रशैथिल्य एवं आचारपतन के युग में कोई विघ्नसंतोषी कदाचित् इस अध्ययन के लोप में निमित्त बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

आठवें अध्ययन के दो नाम मालूम पड़ते हैं : एक विमोक्ख अथवा विमोक्ष और दूसरा विमोह। अध्ययन के मध्य में 'इच्चेयं विमोहायतणं' तथा 'अणुपुव्वेण विमोहाइं' व अध्ययन के अन्त में 'विमोहन्नयरं हियं' इन वाक्यों में स्पष्ट रूप से 'विमोह' शब्द का उल्लेख है। यही शब्दप्रयोग अध्ययन के नामकरण में निमित्तभूत मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने नाम के रूप में 'विमोक्ख—विमोक्ष' शब्द का उल्लेख किया है। वृत्तिकार शीलांकसूरि मूल व निर्युक्ति दोनों का अनुसरण करते हैं। अर्थ की दृष्टि से विमोह व विमोक्ख में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। उद्देशकों की संख्या की दृष्टि से यह अध्ययन शेष आठों अध्ययनों से बड़ा है। निर्युक्तिकार का कथन है कि इन आठों उद्देशकों में विमोक्ष विषयक निरूपण है। विमोक्ष का अर्थ है अलग हो जाना—साथ में न रहना। विमोह का अर्थ है मोह न रखना—संसर्ग न करना। प्रथम उद्देशक में बताया है कि जिन अनगारों का आचार अपने आचार से मिलता न दिखाई दे उनके संसर्ग से मुक्त रहना चाहिए—उनके साथ नहीं रहना चाहिए अथवा वैसे अनगारों से मोह नहीं रखना चाहिए—उनका संग नहीं करना चाहिए। दूसरे उद्देशक में बताया है कि आहार, पानी, वस्त्र आदि दूषित हों तो उनका त्याग करना चाहिए—उनसे अलग रहना चाहिए—उन पर मोह नहीं रखना चाहिए। तृतीय उद्देशक में बताया है कि साधु के शरीर का कंपन देख कर यदि कोई गृहस्थ शंका करे कि यह साधु कामावेश के कारण काँपता है

---

[1] सप्तमे त्वयम्—संयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिद् मोहसमुत्थाः परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुः ते सम्यक् सोढव्याः—पृ० ६.

तो उसकी शंका को दूर करना चाहिए—उसे शंका से मुक्त करना चाहिए—उसका शंकारूप जो मोह है उसे दूर करना चाहिए। आगे के उद्देशकों में उपकरण एवं शरीर के विमोक्ष अथवा विमोह के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है जिसका सार यह है कि यदि ऐसी शारीरिक परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि संयम की रक्षा न हो सके अथवा स्त्री आदि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्ग होने पर संयम-भंग की स्थिति पैदा हो जाय तो विवेकपूर्वक जीवन का मोह छोड़ देना चाहिए अर्थात् शरीर आदि से आत्मा का विमोक्ष करना चाहिए।

नवें अध्ययन का नाम उवहाणसुय—उपधानश्रुत है। इसमें भगवान् महावीर की गंभीर ध्यानमय व घोरतपोमय साधना का वर्णन है। उपधान शब्द तप के पर्याय के रूप में जैन प्रवचन में प्रसिद्ध है। इसीलिए इसका नाम उपधानश्रुत रखा गया मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के नाम के लिए 'उवहाणसुय' शब्द का प्रयोग किया है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में दीक्षा लेने के बाद भगवान् को जो कुछ सहन करना पड़ा उसका वर्णन है। उन्होंने सर्वप्रकार की हिंसा का त्याग कर अहिंसामय चर्या स्वीकार की। वे हेमंत ऋतु में अर्थात् कड़कड़ाती ठंडी में घरबार छोड़ कर निकल पड़े एवं कठोर प्रतिज्ञा की कि 'इस वस्त्र से शरीर को ढकूंगा नहीं' इत्यादि। द्वितीय एवं तृतीय उद्देशक में भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानों में निवास किया एवं वहां उन्हें कैसे-कैसे परीषह सहन करने पड़े, यह बताया गया है। चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि भगवान् ने किस प्रकार तपश्चर्या की, भिक्षाचर्या में क्या-क्या व कैसा-कैसा शुष्क भोजन लिया, कितने समय तक पानी पिया व न पिया, इत्यादि। पहले 'आचार' के जो पर्यायवाची शब्द बताये हैं उनमें एक 'आइण्ण' शब्द भी है। आइण्ण का अर्थ है आचीर्ण अर्थात् आचरित। आचारांग में जिस प्रकार की चर्या का वर्णन किया गया है, वैसी ही चर्या का जिसने आचरण किया है उसका इस अध्ययन में वर्णन है। इसी को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण आचारांग का एक नाम 'आइण्ण' भी रखा गया है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के सब मिलाकर ५१ उद्देशक हैं। इनमें से सातवें अध्ययन महापरिज्ञा के सातों उद्देशकों का लोप हो जाने के कारण वर्तमान में ४४ उद्देशक ही उपलब्ध हैं। निर्युक्तिकार ने इन सब उद्देशकों का विषयानुक्रम बताया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूलिकाएँ :

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओं में विभक्त है। इनमें से प्रथम चार चूलिकाएँ तो आचारांग में ही हैं किन्तु पाँचवीं चूलिका विशेष विस्तृत होने के कारण आचारांग से भिन्न कर दी गई है जो निशीथसूत्र के नाम से एक अलग ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। नन्दिसूत्रकार ने कालिक सूत्रों की गणना में 'निसीह' नामक जिस शास्त्र का उल्लेख किया है वह आचाराग्र—आचार-चूलिका का यही प्रकरण हो सकता है। इसका दूसरा नाम आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प भी है जिसका उल्लेख निर्युक्ति, स्थानांग व समवायांग में मिलता है।

आचाराग्र की चार चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका के सात अध्ययन हैं : १. पिण्डैषणा, २. शय्यैषणा, ३. ईर्यैषणा ४. भाषाजातैषणा, ५. वस्त्रैषणा, ६. पात्रैषणा, ७. अवग्रहैषणा। द्वितीय चूलिका के भी सात अध्ययन हैं : १. स्थान, २. निषीधिका, ३. उच्चारप्रस्रवण, ४. शब्द, ५. रूप, ६. परक्रिया, ७. अन्योन्यक्रिया। तृतीय चूलिका में भावना नामक एक ही अध्ययन है। चतुर्थ चूलिका में भी एक ही अध्ययन है जिसका नाम विमुक्ति है। इस प्रकार चारों चूलिकाओं में कुल सोलह अध्ययन हैं। इन अध्ययनों के नामों की योजना तदन्तर्गत विषयों को ध्यान में रखते हुए निर्युक्तिकार ने की प्रतीत होती है। पिण्डैषणा आदि समस्त नामों का विवेचन निर्युक्तिकार ने निक्षेपपद्धति द्वारा किया है। पिण्ड का अर्थ है आहार, शय्या[1] का अर्थ है निवासस्थान, ईर्या का अर्थ है गमनागमन प्रवृत्ति, भाषाजात का अर्थ है भाषासमूह, अवग्रह का अर्थ है गमनागमन की स्थानमर्यादा। वस्त्र, पात्र, स्थान, शब्द व रूप का वही अर्थ है जो सामान्यतया प्रचलित है। निषीधिका अर्थात् स्वाध्याय एवं ध्यान करने का स्थान, उच्चारप्रस्रवण अर्थात् दीर्घशंका एवं लघुशंका, परक्रिया अर्थात् दूसरों द्वारा की जाने वाली सेवाक्रिया, अन्योन्यक्रिया अर्थात् परस्पर की जाने वाली अनुचित क्रिया, भावना अर्थात् चिन्तन, विमुक्ति अर्थात् वीतरागता।

[1] मूल में सेज्जा व सिज्जा शब्द है। इसका संस्कृत रूप 'सद्या' मानना विशेष उचित होगा। निषद्या और सद्या ये दोनों समानार्थक शब्द हैं तथा सदन, सद्म आदि शब्द वसति-निवास-स्थान के सूचक हैं परंतु प्राचीन लोगों ने सेज्जा व सिज्जा का संस्कृत रूप 'शय्या' स्वीकार किया है। हेमचन्द्र जैसे प्रखर प्रतिभाशाली वैयाकरण ने भी 'शय्या' का 'सेज्जा' बनाने का नियम दिया है। सदन, सद्म और सद्या ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

पिण्डैषणा अध्ययन में ग्यारह उद्देशक हैं जिनमें बताया गया है कि श्रमण को अपनी साधना के अनुकूल संयम-पोषण के लिए आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। संयम-पोषक निवासस्थान की प्राप्ति के सम्बन्ध में शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सविस्तर विवेचन है। इसके तीन उद्देशक हैं। ईर्यैषणा अध्ययन में कैसे चलना, किस प्रकार के मार्ग पर चलना आदि का विवेचन है। इसके भी तीन उद्देशक हैं। भाषाजात अध्ययन में श्रमण को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए, किसके साथ कैसे बोलना चाहिए आदि का निरूपण है। इसमें दो उद्देशक हैं। वस्त्रैषणा अध्ययन में वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए इत्यादि का विवेचन है। इसमें भी दो उद्देशक हैं। पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र के रखने व प्राप्त करने का विधान है। इसके भी दो उद्देशक हैं। अवग्रहैषणा अध्ययन में श्रमण को अपने लिए स्वीकार करने के मर्यादित स्थान को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए, यह बताया गया है। इसके भी दो उद्देशक हैं। इस प्रकार प्रथम चूलिका के कुल मिलाकर पचीस उद्देशक हैं।

द्वितीय चूलिका के सातों अध्ययन उद्देशक रहित हैं। प्रथम अध्ययन में स्थान एवं द्वितीय में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। तृतीय मे दीर्घशंका व लघुशंका के स्थान के विषय में विवेचन है। चतुर्थ व पंचम अध्ययन में क्रमशः शब्द व रूपविषयक निरूपण है जिसमें बताया गया है कि किसी भी प्रकार के शब्द व रूप से श्रमण में रागद्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिये। छठे में परक्रिया एवं सातवें में अन्योन्यक्रियाविषयक विवेचन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो आचार बताया गया है उसका आचरण किसने किया है ? इस प्रश्न का उत्तर तृतीय चूलिका में है। इसमें भगवान् महावीर के चरित्र का वर्णन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन उपधानश्रुत में भगवान् के जन्म, माता-पिता, स्वजन इत्यादि के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। इन्हीं सब बातों का वर्णन तृतीय चूलिका में है। इसमें पाँच महाव्रतों एवं उनकी पाँच-पाँच भावनाओं का स्वरूप भी बताया गया है। इस प्रकार 'भावना' के वर्णन के कारण इस चूलिका का भावना नाम सार्थक है।

चतुर्थ चूलिका में केवल ग्यारह गाथाएँ हैं जिनमें विभिन्न उपमाओं द्वारा वीतराग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अन्तिम गाथा में सबसे अन्त में 'विमुच्चइ' क्रियापद है। इसी को दृष्टि में रखते हुए इस चूलिका का नाम विमुक्ति रखा गया है।

एक रोचक कथा :

उपर्युक्त चार चूलिकाओं में से अन्तिम दो चूलिकाओं के विषय में एक रोचक कथा मिलती है। यद्यपि निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट बताया है कि आचारांग की पाँचों चूलिकाएँ स्थविरकृत हैं फिर भी आचार्य हेमचन्द्र ने तृतीय व चतुर्थ चूलिका के सम्बन्ध में एक ऐसी कथा दी है जिसमें इनका सम्बन्ध महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमंधर तीर्थङ्कर के साथ जोड़ा गया है। यह कथा परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में है। इसका सम्बन्ध स्थूलभद्र के भाई श्रियक की कथा से है। श्रियक की बड़ी बहन साध्वी यक्षा के कहने से श्रियक ने उपवास किया और वह मर गया। श्रियक की मृत्यु का कारण यक्षा अपनेको मानती रही। किन्तु वह श्रीसंघ द्वारा निर्दोष घोषित की गई एवं उसे श्रियक की हत्या का कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया गया। यक्षा श्रीसंघ के इस निर्णय से सन्तुष्ट न हुई। उसने घोषणा की कि जिन भगवान् खुद यदि यह निर्णय दें कि मैं निर्दोष हूँ तभी मुझे सन्तोष हो सकता है। तब समस्त श्रीसंघ ने शासनदेवी का आह्वान करने के लिए काउसग्ग—कायोत्सर्ग—ध्यान किया। ऐसा करने पर तुरन्त शासनदेवी उपस्थित हुई एवं साध्वी यक्षा को अपने साथ महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमंधर भगवान् के पास ले गई। सीमंकर भगवान् ने उसे निर्दोष घोषित किया एवं प्रसन्न होकर श्रीसंघ के लिए निम्नोक्त चार अध्ययनों का उपहार दिया : भावना, विमुक्ति, रतिकल्प और विचित्रचर्या। श्रीसंघ ने यक्षा के मुख से सुन कर प्रथम दो अध्ययनों को आचारांग की चूलिका के रूप एवं अन्तिम दो अध्ययनों को दशवैकालिक की चूलिका के रूप में जोड़ दिया।

हेमचन्द्रसूरिलिखित इस कथा के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं। उन्होंने यह घटना कहाँ से प्राप्त की, यह अवश्य शोधनीय है। दशवैकालिक-निर्युक्ति, आचारांग-निर्युक्ति, हरिभद्रकृत दशवैकालिक-वृत्ति, शीलांककृत आचारांग-वृत्ति आदि में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है।

पद्यात्मक अंश :

आचारांग-प्रथमश्रुतस्कन्ध के विमोह नामक अष्टम अध्ययन का सम्पूर्ण आठवाँ उद्देशक पद्यमय है। उपधानश्रुत नामक सम्पूर्ण नवम अध्ययन भी पद्यमय है। यह बिलकुल स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्ययन लोकविजय, तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय एवं षष्ठ अध्ययन धूत में कुछ पद्य बिलकुल स्पष्ट हैं। इन पद्यों के अतिरिक्त आचारांग में ऐसे अनेक पद्य और हैं जो मुद्रित प्रतियों में गद्य के रूप में

छपे हुए हैं। चूर्णिकार कहीं-कहीं 'गाहा' (गाथा) शब्द द्वारा मूल के पद्यभाग का निर्देश करते हैं किन्तु वृत्तिकार ने तो शायद ही ऐसा कहीं किया हो। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के सम्पादक श्री शुब्रिंग ने अपने संस्करण में समस्त पद्यों का स्पष्ट पृथक्करण किया है एवं उनके छंदों पर भी जर्मन भाषा में पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा बताया है कि इनमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालीय, श्लोक आदि का प्रयोग हुआ है। साथ ही बौद्ध पिटकग्रंथ सुत्तनिपात के पद्यों के साथ आचारांग-प्रथमश्रुतस्कन्ध के पद्यों की तुलना भी की है। आश्चर्य है कि शीलांक से लेकर दीपिकाकार तक के प्राचीन व अर्वाचीन वृत्तिकारों का ध्यान आचारांग के पद्य-भाग के पृथक्करण की ओर नहीं गया। वर्तमान भारतीय संशोधकों, संपादकों एवं अनुवादकों का ध्यान भी इस ओर न जा सका, यह खेद का विषय है।

आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाएं पूरी गद्य में हैं। तृतीय चूलिका में दो-चार जगह पद्य का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इसमें महावीर की सम्पत्ति के दान के सम्बन्ध में उपलब्ध वर्णन छः आर्याओं मे है। महावीर द्वारा दीक्षाशिविका में बैठ कर ज्ञातखण्ड वन की ओर किये गये प्रस्थान का वर्णन भी ग्यारह आर्याओं में है। भगवान् जिस समय सामायिक चारित्र अंगीकार करने के लिए प्रतिज्ञावचन का उच्चारण करते हैं उस समय उपस्थित जनसमूह इस प्रकार शान्त हो जाता है मानो वह चित्रलिखित हो। इस दृश्य का वर्णन भी दो आर्याओं में है। आगे पांच महाव्रतों की भावनाओं का वर्णन करते समय अपरिग्रह व्रत की भावना के वर्णन में पांच अनुष्टुभों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भावना नामक तृतीय चूलिका मे कुल चौबीस पद्य हैं। शेष सम्पूर्ण अंश गद्य में है। विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका पूरी पद्यमय है। इसमें कुल ग्यारह पद्य हैं जो उपजाति जैसे किसी छंद में लिखे गये प्रतीत होते हैं। सुत्तनिपात के आमगंधसुत्त में भी ऐसे छंद का प्रयोग हुआ है। इस छंद में प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार पूरे द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कुल पैंतीस पद्यों का प्रयोग हुआ है।

आचारांग की वाचनाएं :

नंदिसूत्र व समवायांग में लिखा है कि आचारांग की अनेक वाचनाएँ हैं। वर्तमान में ये सब वाचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं किन्तु शीलांक की वृत्ति में स्वीकृत पाठरूप एक वाचना व उसमें नागार्जुनीय के नाम से उल्लिखित दूसरी वाचना — इस प्रकार दो वाचनाएँ प्राप्य हैं। नागार्जुनीय वाचना के पाठभेद वर्तमान पाठ

से बिलकुल विलक्षण हैं। उदाहरण के तौर पर वर्तमान में आचारांग में एक पाठ इस प्रकार उपलब्ध है :—

कट्टु एवं अवयाणओ बिइया मंदस्स बालिया लद्धा हुरत्था।
—आचारांग अ. ५, उ. १, सू. १४५.

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है :—

जे खलु विसए सेवई सेवित्ता णालोएइ, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठयरेण वा दोसेण उवलिंपिज्ज त्ति।

आचार्य शीलांक ने अपनी वृत्ति में जो पाठ स्वीकार किया है उसमें और नागार्जुनीय पाठ में शब्द रचना की दृष्टि से बहुत अन्तर है, यद्यपि आशय में भिन्नता नहीं है। नागार्जुनीय पाठ स्वीकृत पाठ की अपेक्षा अति स्पष्ट एवं विशद है। उदाहरण के लिए एक और पाठ लें :—

विरागं रूवेसु गच्छेज्जा महया-खुड्डएहिं (एसु) वा।
—आचारांग अ. ३, उ. ३, सू. ११७.

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है :—

विसयम्मि पंचगम्मि वि दुविहम्मि तियं तियं।
भावओ सुट्ठु जाणित्ता स न लिप्पइ दोसु वि॥

नागार्जुनीय पाठान्तरों के अतिरिक्त वृत्तिकार ने और भी अनेकों पाठभेद दिये हैं, जैसे 'मोयणाए' के स्थान पर 'भोयणाए', 'चिच्चे' के स्थान पर 'चिट्ठे', 'पियाउया' के स्थान पर 'पियायया' इत्यादि। संभव है, इस प्रकार के पाठभेद मुखाग्रश्रुत की परम्परा के कारण अथवा प्रतिलिपिकार के लिपिदोष के कारण हुए हों। इन पाठ भेदों में विशेष अर्थभेद नहीं है। हां, कभी-कभी इनके अर्थ में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'जातिमरणमोयणाए' का अर्थ है जन्म और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त करने के लिए, जब कि 'जातिमरणभोयणाए' का अर्थ है जातिभोज अथवा मृत्युभोज के उद्देश्य से। यहां जातिभोज का अर्थ है जन्म के प्रसंग पर किया जाने वाला भोजन का समारंभ अथवा जातिविशेष के निमित्त होने वाला भोजन-समारंभ एवं मृत्युभोज का अर्थ है श्राद्ध अथवा मृतकभोजन।

आचारांग के कर्ता :

आचारांग के कर्तृत्व के सम्बन्ध में इसका उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य कुछ प्रकाश डालता है। वह वाक्य इस प्रकार है : सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—हे चिरजीव ! मैंने सुना है कि उन भगवान् ने ऐसा कहा है। इस वाक्य रचना से यह स्पष्ट है कि कोई तृतीय पुरुष कह रहा है कि मैंने ऐसा सुना है कि भगवान् ने यों कहा है। इसका अर्थ यह है कि मूल वक्ता भगवान् है। जिसने सुना है वह भगवान् का साक्षात् श्रोता है। और उसी श्रोता से सुनकर जो इस समय सुना रहा है, वह श्रोता का श्रोता है। यह परम्परा वैसी ही है जैसे कोई एक महाशय प्रवचन करते हों, दूसरे महाशय उस प्रवचन को सुनते हों एवं सुन कर उसे तीसरे महाशय को सुनाते हों। इससे यह ध्वनित होता है कि भगवान् के मुख से निकले हुए शब्द तो वे ज्यों-ज्यों बोलते गये त्यों-त्यों विलीन होते गये। बाद में भगवान् की कही हुई बात बताने का प्रसंग आने पर सुनने वाले महाशय यों कहते हैं कि मैंने भगवान् से ऐसा सुना है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोगों के पास भगवान् के खुद के शब्द नहीं आते अपितु किसी सुनने वाले के शब्द आते हैं। शब्दों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे जिस रूप में बाहर आते हैं उसी रूप में कभी नहीं टिक सकते। यदि उन्हें उसी रूप में सुरक्षित रखने की कोई विशेष व्यवस्था हो तो अवश्य वैसा हो सकता है। वर्तमान युग में इस प्रकार के वैज्ञानिक साधन उपलब्ध हैं। ऐसे साधन भगवान् महावीर के समय में विद्यमान न थे। अतः हमारे सामने जो शब्द हैं वे साक्षात् भगवान् के नहीं अपितु उनके हैं जिन्होंने भगवान् से सुने हैं। भगवान् के खुद के शब्दों व श्रोता के शब्दों में शब्द के स्वरूप की दृष्टि से वस्तुतः बहुत अन्तर है। फिर भी ये शब्द भगवान् के ही हैं, इस प्रकार की छाप मन परसे किसी भी प्रकार नहीं मिट सकती। इसका कारण यह है कि शब्दयोजना भले ही श्रोता की हो, आशय तो भगवान् का ही है।

अंगसूत्रों की वाचनाएँ :

ऐसी मान्यता है कि पहले भगवान् अपना आशय प्रकट करते हैं, बाद में उनके गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य उस आशय को अपनी-अपनी शैली में शब्दबद्ध करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। वे भगवान् के आशय को अपनी-अपनी शैली व शब्दों में ग्रथित करने के विशेष अधिकारी थे। इससे फलित होता है कि एक गणधर की जो शैली व शब्दरचना हो वही दूसरे की हो भी

और न भी हो। इसीलिए कल्पसूत्र में कहा गया है कि प्रत्येक गणधर की वाचना भिन्न-भिन्न थी। वाचना अर्थात् शैली एवं शब्दरचना। नन्दिसूत्र व समवायांग में भी बताया गया है कि प्रत्येक अङ्गसूत्र की वाचना परित्त (अर्थात् परिमित) अथवा एक से अधिक (अर्थात् अनेक) होती है।

ग्यारह गणधरों में से कुछ तो भगवान् की उपस्थिति में ही मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। सुधर्मास्वामी नामक गणधर सब गणधरों में दीर्घायु थे। अतः भगवान् के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार उन्हें मिला था। उन्होंने उसे सुरक्षित रखा एवं अपनी शैली व शब्दों में ग्रथित कर आगे की शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा को सौंपा। इस शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा ने भी सुधर्मास्वामी की ओर से प्राप्त वसीयत को अपनी शैली व शब्दों में बहुत लम्बे काल तक कण्ठस्थ रखा।

आचार्य भद्रबाहु के समय में एक भयङ्कर व लम्बा दुष्काल पड़ा। इस समय पूर्वगतश्रुत तो सर्वथा नष्ट ही हो गया। केवल भद्रबाहु स्वामी को वह याद था जो उनके बाद अधिक लम्बे काल तक न टिक सका। वर्तमान में इसका नाम निशान भी उपलब्ध नहीं है। इस समय जो एकादश अङ्ग उपलब्ध हैं उनके विषय में परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में बताया गया है कि दुष्काल समाप्त होने के बाद (वीरनिर्वाण दूसरी शताब्दी) पाटलिपुत्र में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ व जो अङ्ग, अध्ययन, उद्देशक आदि याद थे उन सबका संकलन किया : ततश्च एकादशाङ्गानि श्रीसंघ अमेलयत् तदा। जिन-प्रवचन के संकलन की यह प्रथम संगीति—वाचना है। इसके बाद देश में दूसरा दुष्काल पड़ा जिससे कण्ठस्थ श्रुत को फिर हानि पहुँची। दुष्काल समाप्त होने पर पुनः (वीरनिर्वाण ९वीं शताब्दी) मथुरा में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ व स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में जिन-प्रवचन की द्वितीय वाचना हुई। मथुरा में होने के कारण इसे माथुरी वाचना भी कहते हैं। भद्रबाहुस्वामी एवं स्कन्दिलाचार्य के समय के दुष्काल व श्रुतसंकलन का उल्लेख आवश्यकचूर्णि तथा नन्दिचूर्णि में उपलब्ध है। इनमें दुष्काल का समय बारह वर्ष बताया गया है। माथुरी वाचना की समकालीन एक अन्य वाचना का उल्लेख करते हुए कहावली नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि वलभी नगरी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में भी इसी प्रकार की एक वाचना हुई थी जिसे वालभी अथवा नागार्जुनीय वाचना कहते हैं। इन वाचनाओं में जिन-प्रवचन ग्रन्थबद्ध किया गया, इसका समर्थन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की वृत्ति (योगशास्त्रप्रकाश, ३, पत्र २०७) में लिखते हैं : जिनवचनं च दुष्षमाकालवशात्

उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्— काल की दुष्षमता के कारण (अथवा दुष्षमाकाल के कारण) जिनप्रवचन को लगभग उच्छिन्न हुआ जान कर आचार्य नागार्जुन, स्कन्दिलाचार्य आदि ने उसे पुस्तकबद्ध किया। माथुरी वाचना वालभी वाचना से अनेक स्थानों पर अलग पड़ गई। परिणामतः वाचनाओं में पाठभेद हो गये। ये दोनों श्रुतधर आचार्य यदि परस्पर मिलकर विचार-विमर्श करते तो सम्भवतः वाचनाभेद टल सकता किन्तु दुर्भाग्य से ये न तो वाचना के पूर्व इस विषय में कुछ कर सके और न वाचना के पश्चात् ही परस्पर मिल सके। यह वाचनाभेद उनकी मृत्यु के बाद भी वैसा का वैसा ही बना रहा। इसे वृत्तिकारों ने 'नागार्जुनीयाः पुनः एवं पठन्ति' आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया है। माथुरी व वालभी वाचना सम्पन्न होने के बाद वीरनिर्वाण ९८० अथवा ९९३ में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी में संघ एकत्रित कर उस समय में उपलब्ध समस्त श्रुत को पुस्तकबद्ध किया। उस समय से सारा श्रुत ग्रन्थबद्ध हो गया। तब से उसके विच्छेद अथवा विपर्यास की सम्भावना बहुत कम हो गई। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने किसी प्रकार की नई वाचना का प्रवर्तन नहीं किया अपितु जो श्रुतपाठ पहले की वाचनाओं में निश्चित हो चुका था उसी को एकत्र कर व्यवस्थित रूप से ग्रन्थबद्ध किया। एतद्विषयक उपलब्ध उल्लेख इस प्रकार है :—

> वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
> पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

अर्थात् वलभीपुर नामक नगर में देवर्द्धिप्रमुख श्रमणसंघ ने वीरनिर्वाण ९८० (मतान्तर से ९९३) में आगमों को ग्रन्थबद्ध किया।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण :

वर्तमान समस्त जैन प्रबन्ध-साहित्य में कहीं भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण[1] जैसे

---

[1] आगमों को पुस्तकारूढ करनेवाले आचार्य का नाम देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण है। अमुक विशिष्ट गीतार्थ पुरुषको 'गणी' और 'क्षमाश्रमण' कहा जाता है। जैसे विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण हैं वैसे ही उच्चकोटि के गीतार्थ देवर्द्धि भी गणिक्षमाश्रमण हैं। इनकी गुरुपरंपरा का क्रम कल्पसूत्र की स्थविरावली में दिया हुआ है। इनको किसी भी ग्रन्थकार ने वाचक-वंश में नहीं गिनाया। अतः वाचकों से ये गणिक्षमाश्रमण अलग मालूम होते हैं और वाचकवंश की परंपरा अलग मालूम होती है। नन्दिसूत्रके

महाप्रभावक आचार्य का सम्पूर्ण जीवन-वृत्तांत उपलब्ध नहीं होता। इन्होंने किन परिस्थितियों में आगमों को ग्रन्थबद्ध किया ? उस समय अन्य कौन श्रुतधर पुरुष विद्यमान थे ? वलभीपुर के संघ ने उनके इस कार्य में किस प्रकार की सहायता की ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए वर्तमान में कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में होनेवाले आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रभावक-चरित्र में अन्य अनेक महाप्रभावक पुरुषों का जीवन चरित्र दिया है। किन्तु इनका कहीं निर्देश भी नहीं किया है।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमों को ग्रन्थबद्ध करते समय कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान में रखीं। जहाँ-जहाँ शास्त्रों में समान पाठ आये वहाँ-वहाँ उनकी पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए एक विशेष ग्रंथ अथवा स्थान का निर्देश कर दिया, जैसे : 'जहा उववाइए', 'जहा पण्णवणाए' इत्यादि। एक ही ग्रंथ में वही बात बार-बार आने पर उसे पुनः पुनः न लिखते हुए 'जाव' शब्द का प्रयोग करते हुए उसका अन्तिम शब्द लिख दिया, जैसे : 'णागकुमारा जाव विहरंति,' तेणं कालेणं जाव परिसा णिग्गया' इत्यादि। इसके अतिरिक्त उन्होंने महावीर के बाद की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी आगमों में जोड़ दीं। उदाहरण के लिए स्थानांग में उल्लिखित दस गण भगवान् महावीर के निर्वाण के बहुत समय बाद

प्रणेता देववाचक नाम के आचार्य हैं। उनकी गुरुपरंपरा नंदिसूत्र की स्थविरावली में दी है और वे स्पष्टरूप से वाचकवंश की परंपरा में हैं अतः देववाचक और देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण अलग-अलग आचार्य के नाम हैं तथा किसी प्रकार से कदाचित् गणिक्षमाश्रमण पद और वाचक पद भिन्न नहीं है ऐसा मानने पर भी इन दोनों आचार्यों की गुरुपरंपरा भी एक-सी नहीं मालूम होती। इसलिए भी ये दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। प्रश्नपद्धति नामक छोटे-से ग्रन्थ में लिखा है कि नंदिसूत्र देववाचक ने बनाया है और पाठों को बारबार न लिखना पड़े इसलिए देववाचककृत नन्दिसूत्र की साक्षी पुस्तकारूढ़ करते समय देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने दी है। ये दोनों आचार्य भिन्न-भिन्न होने पर ही प्रश्नपद्धति का यह उल्लेख संगत हो सकता है। प्रश्नपद्धति के कर्ता के विचार से ये दोनों एक ही होते तो वे ऐसा लिखते कि नंदिसूत्र देववाचक की कृति है और अपनी ही कृति की साक्षी देवर्द्धि ने दी है, परंतु उन्होंने ऐसा न लिखकर ये दोनों भिन्न-भिन्न हों, इस प्रकार निर्देश किया है। प्रश्नपद्धति के कर्ता मुनि हरिश्चन्द्र हैं जो अपने को नवांगीवृत्तिकार या अभयदेवसूरिके शिष्य कहते हैं। —देखो प्रश्नपद्धति, पृ० २.

उत्पन्न हुए। यही बात जमालि को छोड़कर शेष निह्नवों के विषय में भी कही जा सकती है। पहले से चली आने वाली माथुरी व वालभी इन दो वाचनाओं में से देवर्द्धिगणि ने माथुरी वाचना को प्रधानता दी। साथ ही वालभी वाचना के पाठभेद को भी सुरक्षित रखा। इन दो वाचनाओं में संगति रखने का भी उन्होंने भरसक प्रयत्न किया एवं सबका समाधान कर माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया।

महाराज खारवेल :

महाराज खारवेल ने भी अपने समय में जैन प्रवचन के समुद्धार के लिए श्रमण-श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं का बृहद् संघ एकत्र किया। खेद है कि इस सम्बन्ध में किसी भी जैन ग्रंथ में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। महाराज खारवेल ने कलिंगगत खंडगिरि व उदयगिरि पर एतद्विषयक जो विस्तृत लेख खुदवाया है उसमें इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है। यह लेख पूरा प्राकृत में है। इसमें कलिंग में भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर की स्थापना व अन्य अनेक घटनाओं का उल्लेख है। वर्तमान में उपलब्ध 'हिमवंत थेरावली' नामक प्राकृत-संस्कृतमिश्रित पट्टावली में महाराज खारवेल के विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने प्रवचन का उद्धार किया।

आचारांग के शब्द :

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आचारांग के कर्तृत्व का विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इसमें आशय तो भगवान् महावीर का ही है। रही बात शब्दों की। हमारे सामने जो शब्द हैं वे किसके हैं? इसका उत्तर इतना सरल नहीं है। या तो ये शब्द सुधर्मास्वामी के हैं या जम्बूस्वामी के हैं या उनके बाद होने वाले किसी सुविहित गीतार्थ के हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि ये शब्द इतने पैने हैं कि सुनते ही सीधे हृदय में घुस जाते हैं। इससे मालूम होता है कि ये किसी असाधारण अनुभवात्मक आध्यात्मिक पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष के हृदय में से निकले हुए हैं एवं सुनने वाले ने भी इन्हें उसी निष्ठा से सुरक्षित रखा है। अतः इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ये शब्द सुधर्मास्वामी की वाचना का अनुसरण करने वाले हैं। संभव है इनमें सुधर्मा के खुद के ही शब्दों का प्रतिबिम्ब हो। यह भी असम्भव नहीं कि इन प्रतिबिम्बरूप शब्दों में से अमुक शब्द भगवान् महावीर के खुद के शब्दों के प्रतिबिम्ब के रूप में हों, अमुक शब्द सुधर्मास्वामी के वचनों के

प्रतिबिम्ब के रूप में हों, अमुक शब्द गीतार्थ महापुरुषों के शब्दों की प्रतिध्वनि के रूप में हों। इनमें से कौन से शब्द किस कोटि के हैं, इसका पृथक्करण यहाँ सम्भव नहीं। वर्तमान में हम गुरुनानक, कबीर, नरसिंह मेहता, आनन्दघन, यशोविजय उपाध्याय आदि के जो भजन-स्तवन गाते हैं उनमें मूल की अपेक्षा कुछ-कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। इसी प्रकार का थोड़ा-बहुत परिवर्तन आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रतीत होता है। यही बात सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय में भी कही जा सकती है। शेष अंगों के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। ये गीतार्थ स्थविरों की रचनाएँ हैं। इनमें महावीर आदि के शब्दों का आधिक्य न होते हुए भी उनके आशय का अनुसरण तो है ही।

ब्रह्मचर्य एवं ब्राह्मण :

आचारांग का दूसरा नाम बंभचेर अर्थात् ब्रह्मचर्य है। इस नाम में 'ब्रह्म' और 'चर्य' ये दो शब्द हैं। निर्युक्तिकार ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुए नामतः ब्रह्म, स्थापनातः ब्रह्म, द्रव्यतः ब्रह्म एवं भावतः ब्रह्म—इस प्रकार ब्रह्म के चार भेद बतलाये हैं। नामतः ब्रह्म अर्थात् जो केवल नाम से ब्रह्म—ब्राह्मण है। स्थापनातः ब्रह्म का अर्थ है चित्रित ब्रह्म अथवा ब्राह्मणों की निशानी रूप यज्ञोपवीतादि युक्त चित्रित आकृति अथवा मिट्टी आदि द्वारा निर्मित वैसा आकार–मूर्ति–प्रतिमा। अथवा जिन मनुष्यों में बाह्य चिह्नों द्वारा ब्रह्मभाव की स्थापना—कल्पना की गई हो, जिनमें ब्रह्मपद के अर्थानुसार गुण भले ही न हों वह स्थापनातः ब्रह्म—ब्राह्मण कहलाता है। यहाँ ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण अर्थ विवक्षित है। मूलतः तो ब्रह्म शब्द ब्रह्मचर्य का ही वाचक है। चूँकि ब्रह्मचर्य संयम रूप है अतः ब्रह्म शब्द सत्रह प्रकार के संयम का सूचक भी है। इसका समर्थन स्वयं निर्युक्तिकार ने (२८ वीं गाथा में) किया है। ऐसा होते हुए भी स्थापनातः ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए निर्युक्तिकार ने यज्ञोपवीतादियुक्त और ब्राह्मणगुणवर्जित जाति ब्राह्मण को भी स्थापनातः ब्रह्म क्यों कहा ? किसी दूसरे को अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र को स्थापनातः ब्रह्म क्यों नहीं कहा ? इसका समाधान यह है कि जिस काल में आचारांगसूत्र की योजना हुई वह काल भगवान् महावीर व सुधर्मा का था। उस काल में ब्रह्मचर्य धारण करने वाले अधिकांशतः ब्राह्मण होते थे। किसी समय ब्राह्मण वास्तविक अर्थ में ब्रह्मचारी थे किन्तु जिस काल की यह सूत्रयोजना है उस काल में ब्राह्मण अपने ब्राह्मणधर्म से अर्थात् ब्राह्मण के यथार्थ आचार से च्युत हो गये थे। फिर भी ब्राह्मण जाति के बाह्य चिह्नों को

धारण करने के कारण ब्राह्मण ही माने जाते थे। इस प्रकार उस समय गुण नहीं किन्तु जाति ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक मानी जाने लगी। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त (चूलवग्ग, सू० ७) में भगवान् बुद्ध ने इस विषय में सुन्दर चर्चा की है। उसका सार नीचे दिया है :—

श्रावस्ती नगरी में जेतवनस्थित अनाथपिण्डिक के उद्यान में आकर ठहरे हुए भगवान् बुद्ध से कोशल देश के कुछ वृद्ध व कुलीन ब्राह्मणों ने आकर प्रश्न किया---"हे गौतम ! क्या आजकल के ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणों के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई देते हैं ?" बुद्ध ने उत्तर दिया - "हे ब्राह्मणो ! आजकल के ब्राह्मण पुराने ब्राह्मणों के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई नहीं देते।" ब्राह्मण कहने लगे - "हे गौतम ! प्राचीन ब्राह्मणधर्म क्या है, यह हमें बताइए।" बुद्ध ने कहा—"प्राचीन ब्राह्मण ऋषि संयतात्मा एवं तपस्वी थे। वे पांच इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर आत्मचिन्तन करते। उनके पास पशु न थे, धन न था ; स्वाध्याय ही उनका धन था। वे ब्रह्मनिधि का पालन करते। लोग उनके लिए श्रद्धापूर्वक भोजन बना कर द्वार पर तैयार रखते व उन्हें देना उचित समझते। वे अवध्य थे एवं उनके लिए किसी भी कुटुम्ब में आने-जाने की कोई रोक-टोक न थी। वे अड़तालीस वर्ष तक कौमार ब्रह्मचर्य का पालन करते एवं प्रज्ञा व शील का सम्पादन करते। ऋतुकाल के अतिरिक्त वे अपनी प्रिय स्त्री का सहवास भी स्वीकार नहीं करते। वे ब्रह्मचर्य, शील, आर्जव, मार्दव, तप, समाधि, अहिंसा एवं क्षान्ति की स्तुति करते। उस समय के सुकुमार, उन्नतस्कन्ध, तेजस्वी एवं यशस्वी ब्राह्मण स्वधर्मानुसार आचरण करते तथा कृत्य अकृत्य के विषय में सदा दक्ष रहते। वे चावल, आसन, वस्त्र, घी, तेल, आदि पदार्थ भिक्षा द्वारा अथवा धार्मिक रीति से एकत्र कर यज्ञ करते। यज्ञ में वे गोवध नहीं करते। जब तक वे ऐसे थे तब तक लोग सुखी थे। किन्तु राजा से दक्षिणा में प्राप्त संपत्ति एवं अलंकृत स्त्रियों जैसी अत्यन्त क्षुद्र वस्तु से उनकी बुद्धि बदली। दक्षिणा में प्राप्त गोवृन्द एवं सुन्दर स्त्रियों में ब्राह्मण लुब्ध हुए। वे इन पदार्थों के लिए राजा इक्ष्वाकु के पास गये और कहने लगे कि तेरे पास खूब धन-धान्य है, खूब सम्पत्ति है। इसलिए तू यज्ञ कर। उस यज्ञ में सम्पत्ति प्राप्त कर ब्राह्मण धनाढ्य हुए। इस प्रकार लोलुप हुए ब्राह्मणों की तृष्णा अधिक बढ़ी और वे पुनः इक्ष्वाकु के पास गये व उसे समझाया। तब उसने यज्ञ में लाखों गायें मारीं" इत्यादि।

सुत्तनिपात के इस उल्लेख से प्राचीन ब्राह्मणों व पतित ब्राह्मणों का थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है। निर्युक्तिकार ने पतित ब्राह्मणों को चित्रित ब्राह्मणों की कोटि में रखते हुए उनकी धर्मविहीनता एवं जड़ता की ओर संकेत किया।

चतुर्वर्ण :

निर्युक्तिकार कहते हैं कि पहले केवल एक मनुष्य जाति थी। बाद में भगवान् ऋषभदेव के राज्यारूढ़ होने पर उसके दो विभाग हुए। बाद में शिल्प एवं वाणिज्य प्रारंभ होने पर उसके तीन विभाग हुए तथा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने पर उसीके चार विभाग हो गये। इस प्रकार निर्युक्ति की मूल गाथा में सामान्यतया मनुष्य जाति के चार विभागों का निर्देश किया गया है। उसमें किसी वर्णविशेष का नामोल्लेख नहीं है। टीकाकार शीलांक ने वर्णों के विशेष नाम बताते हुए कहा है कि जो मनुष्य भगवान् के आश्रित थे वे 'क्षत्रिय' कहलाये। अन्य सब 'शूद्र' गिने गये। वे शोक एवं रोदनस्वभावयुक्त थे अतः 'शूद्र' के रूप में प्रसिद्ध हुए। बाद में अग्नि की खोज होने पर जिन्होंने शिल्प एवं वाणिज्य अपनाया वे 'वैश्य' कहलाये। बाद में जो लोग भगवान् के बताये हुए श्रावकधर्म का परमार्थतः पालन करने लगे एवं 'मत हनो, मत हनो' ऐसी घोषणा कर अहिंसा-धर्म का उद्‌घोष करने लगे वे 'माहन' अर्थात् 'ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में निर्दिष्ट चतुर्वर्ण की उत्पत्ति से यह क्रम बिलकुल भिन्न है। यहाँ सर्वप्रथम क्षत्रिय, फिर शूद्र, फिर वैश्य और अन्त में ब्राह्मण की उत्पत्ति बताई गई है जबकि उक्त सूक्त में सर्वप्रथम ब्राह्मण, बाद में क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य और अन्त में शूद्र की उत्पत्ति बताई है। निर्युक्तिकार ने ब्राह्मणोत्पत्ति का प्रसंग ध्यान में रखते हुए अन्य सात वर्णों एवं नौ वर्णान्तरों की उत्पत्ति का क्रम भी बताया है। इन सब वर्ण-वर्णान्तरों का समावेश उन्होंने स्थापना-ब्रह्म में किया है।

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार ने जो निरूपण किया है वह निर्युक्तिकार से कुछ भिन्न मालूम पड़ता है। चूर्णि में बताया गया है कि भगवान् ऋषभदेव के समय में जो राजा के आश्रित थे वे क्षत्रिय हुए तथा जो राजा के आश्रित न थे वे गृहपति कहलाये। बाद में अग्नि की खोज होने के उपरान्त उन गृहपतियों में से जो शिल्प तथा वाणिज्य करने वाले थे वे वैश्य हुए। भगवान् के प्रव्रज्या लेने व भरत का राज्याभिषेक होने के बाद भगवान् के उपदेश द्वारा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने के अनन्तर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ये श्रावक धर्मप्रिय थे तथा 'मा

हणो, मा हणो' रूप अहिंसा का उद्घोष करने वाले थे अतः लोगों ने उन्हें माहण-ब्राह्मण नाम दिया। ये ब्राह्मण भगवान् के आश्रित थे। जो भगवान् के आश्रित न थे तथा किसी प्रकार का शिल्प आदि नहीं करते थे व अश्रावक थे वे शोकातुर व द्रोहस्वभावयुक्त होने के कारण शूद्र कहलाये। 'शूद्र' शब्द के 'शू' का अर्थ शोकस्वभावयुक्त एवं 'द्र' का अर्थ द्रोहस्वभावयुक्त किया गया है। निर्युक्तिकार ने चतुर्वर्ण का क्रम क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य व ब्राह्मण—यह बताया है जबकि चूर्णिकार के अनुसार यह क्रम क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण व शूद्र—इस प्रकार है। इस क्रम-परिवर्तन का कारण सम्भवतः वैदिक परम्परा का प्रभाव है।

सात वर्ण व नव वर्णान्तर :

निर्युक्तिकार ने व तदनुसार चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने सात वर्णों व नौ वर्णान्तरों की उत्पत्ति का जो क्रम बताया है वह इस प्रकार है :—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार मूल वर्ण हैं। इनमें से ब्राह्मण व क्षत्रियाणी के संयोग से उत्पन्न होनेवाला उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय अथवा संकर क्षत्रिय कहलाता है। यह पंचम वर्ण है। क्षत्रिय व वैश्य-स्त्री के संयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य अथवा संकर वैश्य कहलाता है। यह षष्ठ वर्ण है। इसी प्रकार वैश्य व शूद्रा के संयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम शूद्र, शुद्ध शूद्र अथवा संकर शूद्ररूप सप्तम वर्ण है। ये सात वर्ण हुए। ब्राह्मण व वैश्य-स्त्री के संयोग से उत्पन्न होने वाला अम्बष्ठ नामक प्रथम वर्णान्तर है। इसी प्रकार क्षत्रिय व शूद्रा के संयोग से उग्र, ब्राह्मण व शूद्रा के संयोग से निषाद अथवा पाराशर, शूद्र व वैश्य-स्त्री के संयोग से अयोगव, वैश्य व क्षत्रियाणी के संयोग से मागध, क्षत्रिय व ब्राह्मणी के संयोग से सूत, शूद्र व क्षत्रियाणी के संयोग से क्षत्तृक, वैश्य व ब्राह्मणी के संयोग से वैदेह एवं शूद्र व ब्राह्मणी के संयोग से चांडाल नामक अन्य आठ वर्णान्तरों की उत्पत्ति बताई गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्णान्तर भी हैं। उग्र व क्षत्रियाणी के संयोग से उत्पन्न होने वाला श्वपाक, वैदेह व क्षत्रियाणी के संयोग से उत्पन्न होने वाला वैणव, निषाद व अंबष्ठी अथवा शूद्रा के संयोग से उत्पन्न होने वाला बोक्कस, शूद्र व निषादी के संयोग से उत्पन्न होने वाला कुक्कुटक अथवा कुक्कुरक कहलाता है।

इस प्रकार वर्णों व वर्णान्तरों की उत्पत्ति का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि 'एवं स्वच्छंदमतिविगप्पितं' अर्थात् वैदिकपरंपरा में ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब स्वच्छन्द-

मतियों की कल्पना है। उपर्युक्त वर्ण-वर्णान्तिर सम्बन्धी समस्त विवेचन मनुस्मृति (अ० १०, श्लोक० ४–४५) में उपलब्ध है। चूर्णिकार व मनुस्मृतिकार के उल्लेखों में कहीं-कहीं नाम आदि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

शस्त्रपरिज्ञा :

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम सत्थपरिन्ना अर्थात् शस्त्रपरिज्ञा है। शस्त्रपरिज्ञा अर्थात् शस्त्रों का ज्ञान। आचारांग श्रमण-ब्राह्मण के आचार से सम्बन्धित ग्रंथ है। उसमें कहीं भी युद्ध अथवा सेना का वर्णन नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रथम अध्ययन में शस्त्रों के सम्बन्ध में विवेचन कैसे सम्भव हो सकता है ? संसार में लाठी, तलवार, खंजर, बन्दूक आदि की ही शस्त्रों के रूप में प्रसिद्धि है। आज के वैज्ञानिक युग में अणुबम, उद्जनबम आदि भी शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऐसे शस्त्र स्पष्ट रूप से हिंसक हैं, यह सर्वविदित है। आचारांग के कर्ता की दृष्टि से क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, ईर्ष्या मत्सर आदि कषाय भी भयंकर शस्त्र हैं। इतना ही नहीं, इन कषायों द्वारा ही उपर्युक्त शस्त्रास्त्र उत्पन्न हुए हैं। इस दृष्टि से कषायजन्य समस्त प्रवृत्तियाँ शस्त्र-रूप हैं। कषाय के अभाव में कोई भी प्रवृत्ति शस्त्ररूप नहीं है। यही भगवान् महावीर का दर्शन व चिन्तन है। आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में कषायरूप अथवा कषायजन्य प्रवृत्तिरूप शस्त्रों का ही ज्ञान कराया गया है। इसमें बताया गया है कि जो बाह्य शौच के बहाने पृथ्वी, जल इत्यादि का अमर्यादित विनाश करते हैं वे हिंसा तो करते ही हैं, चोरी भी करते हैं। इसी का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने कहा है कि 'चउसट्ठीए मट्टियाहिं स ण्हाति' अर्थात् वह चौंसठ (बार) मिट्टी से स्नान करता है। कुछ वैदिकों की मान्यता है कि भिन्न-भिन्न अंगों पर कुल मिला कर चौंसठ बार मिट्टी लगाने पर ही पवित्र हुआ जा सकता है। मनुस्मृति (अ० ५, श्लो० १३५–१४५) में बाह्य शौच अर्थात् शरीर-शुद्धि व पात्र आदि की शुद्धि के विषय में विस्तृत विधान है। उसमें विभिन्न क्रियाओं के बाद शुद्धि के लिए किस-किस अंग पर कितनी-कितनी बार मिट्टी व पानी का प्रयोग करना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख है। इस विधान में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वनवासी एवं यति का अलग-अलग विचार किया गया है अर्थात् इनकी अपेक्षा से मिट्टी व पानी के प्रयोग की संख्या में विभिन्नता बताई गई है। भगवान् महावीर ने समाज को आन्तरिक शुद्धि की ओर मोड़ने के लिए कहा कि इस प्रकार की बाह्य शुद्धि हिंसा को बढ़ाने का ही एक साधन है। इससे पृथ्वी,

जल, अग्नि, वनस्पति तथा वायु के जीवों का कचूमर निकल जाता है। यह घोर हिंसा की जननी है। इससे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। श्रमण व ब्राह्मण को सरल बनना चाहिए, निष्कपट होना चाहिए, पृथ्वी आदि के जीवों का हनन नहीं करना चाहिए। पृथ्वी आदि प्राणरूप हैं। इनमें अन्य आगन्तुक जीव भी रहते हैं। अतः शौच के निमित्त इनका उपयोग करने से इनकी तथा इनमें रहने वाले प्राणियों की हिंसा होती है। अतः यह प्रवृत्ति शस्त्ररूप है। आंतरिक शुद्धि के अभिलाषियों को इसका ज्ञान होना चाहिए। यही भगवान् महावीर के शस्त्रपरिज्ञा प्रवचन का सार है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियों के लिए आवर्तरूप हैं, ऐसा समझ कर विवेकी को इनमें मूर्च्छित नहीं होना चाहिए। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनसे बचूँगा—इनमें नहीं फँसूँगा—पूर्ववत् आचरण नहीं करूँगा। रूपादि में लोलुप व्यक्ति विविध प्रकार की हिंसा करते दिखाई देते हैं। कुछ लोग प्राणियों का वध कर उन्हें पूरा का पूरा पकाते हैं। कुछ चमड़ी के लिए उन्हें मारते हैं। कुछ केवल मांस, रक्त, पित्त, चरबी, पंख, पूँछ, बाल, सींग, दांत, नख अथवा हड्डी के लिए उनका वध करते हैं। कुछ शिकार का शौक पूरा करने के लिए प्राणियों का वध करते हैं। इस प्रकार कुछ लोग अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिए जीवों का क्रूरतापूर्वक नाश करते हैं तो कुछ निष्प्रयोजन ही उनका नाश करने में तत्पर रहते हैं। कुछ लोग केवल तमाशा देखने के लिए सांढों, हाथियों, मुर्गों वगैरह को लड़ाते हैं। कुछ सांप आदि को मारने में अपनी बहादुरी समझते हैं तो कुछ सांप आदि को मारना अपना धर्म समझते हैं। इस प्रकार पूरे शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन में भगवान् महावीर ने संसार में होने वाली विविध प्रकार की हिंसा के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं एवं उसके परिणाम की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने बताया है कि यह हिंसा ही ग्रन्थ है—परिग्रहरूप है, मोहरूप है, माररूप है, नरकरूप है।

खोरदेह—अवेस्ता नामक पारसी धर्मग्रन्थ[1] में पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के साथ किसी प्रकार का अपराध न करनेकी अर्थात् उनके प्रति घातक व्यवहार न करने की शिक्षा दी गई है। यही बात मनुस्मृति में दूसरी तरह से कही गई है। उसमें चूल्हे द्वारा अग्नि की हिंसा का, घट द्वारा जल की हिंसा का एवं

१ 'पतेत पशेमानी' नामक प्रकरण.

इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा अन्य प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। घट, चूल्हा, चक्की आदि को जीववध का स्थान बताया गया है एवं गृहस्थ के लिए इनके प्रति सावधानी रखने का विधान किया गया है[1]।

शस्त्रपरिज्ञा में जो मार्ग बताया गया है वह पराकाष्ठा का मार्ग है। उस पराकाष्ठा के मार्ग पर पहुँचने के लिए अन्य अवान्तर मार्ग भी हैं। इनमें से एक मार्ग है गृहस्थाश्रम का। इसमें भी चढ़ते-उतरते साधन हैं। इन सब में एक बात सर्वाधिक महत्त्व की है और वह है प्रत्येक प्रकार की मर्यादा का निर्धारण। इसमें भी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा जाय त्यों-त्यों मर्यादा का क्षेत्र बढ़ाया जाय एवं अन्त में अनासक्त जीवन का अनुभव किया जाय। इसी का नाम अहिंसक जीवन-साधना अथवा आध्यात्मिक शोधन है। अध्यात्म शुद्धि के लिए देह, इन्द्रियाँ, मन तथा अन्य बाह्य पदार्थ साधनरूप हैं। इन साधनों का उपयोग अहिंसक वृत्तिपूर्वक होना चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति के लिए संकल्पशुद्धि परमावश्यक है। संकल्प की शुद्धि के बिना सब क्रियाकाण्ड व प्रवृत्तियां निरर्थक हैं। प्रवृत्ति भले ही अल्प हो किन्तु होनी चाहिए संकल्पशुद्धिपूर्वक। आध्यात्मिक शुद्धि ही जिनका लक्ष्य है वे केवल भेड़चाल अथवा रूढ़िगत प्रवाह मे बँध कर नहीं चल सकते। उनके लिए विवेकयुक्त संकल्पशीलता की महती आवश्यकता होती है। देहदमन, इन्द्रियदमन, मनोदमन, तथा आरम्भ-समारम्भ व विषय-कषायों के त्याग के सम्बन्ध मे जो बातें शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में बताई गई हैं वे सब बातें भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न स्थानों पर गीता एवं मनुस्मृति में भी बताई गई हैं। मनु ने स्पष्ट कहा है कि लोहे के मुख वाला काष्ठ (हल आदि) भूमि का एवं भूमि में रहे हुए अन्य-अन्य प्राणियों का हनन करता है। अतः कृषि की वृत्ति निन्दित है[2]। यह विधान अमुक कोटि के सच्चे ब्राह्मण के लिए है और वह भी उत्सर्ग के रूप में। अपवाद के तौर पर तो ऐसे ब्राह्मण के लिए भी इससे विपरीत विधान हो सकता है। भूमि की ही तरह जल आदि से सम्बन्धित आरम्भ-समारम्भ का भी मनुस्मृति में निषेध किया गया है[3]। गीता में 'सर्वारम्भपरित्यागी[4]' को पण्डित कहा गया है

---

[1] मनुस्मृति, अ० ३, श्लो० ६८.

[2] कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥
—मनुस्मृति, अ० १०, श्लो० ८४.

[3] अ० ४, श्लो० २०१-२.

[4] अ० १२, श्लो० १६; अ० ४, श्लो० १९.

एवं बताया गया है कि जो समस्त आरम्भ का परित्यागी है वह गुणातीत है[1]। उसमें देहदमन की भी प्रतिष्ठा की गई है एवं तप के बाह्य व आन्तरिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है[2]। जैन परम्परा के त्यागी मुनियों के तपश्चरण की भाँति कायक्लेशरूप तप सम्बन्धी प्ररूपणा वैदिक परम्परा को भी अभीष्ट है। इसी प्रकार जलशौच अर्थात् स्नान आदिरूप बाह्य शौच का त्याग भी वैदिक परम्परा को इष्ट है[3]। आचारांग के प्रथम व द्वितीय दोनों श्रुतस्कन्धों में आचार-विचार का जो वर्णन है वह सब मनुस्मृति के छठे अध्याय में वर्णित वानप्रस्थ व संन्यासी के स्वरूप के साथ मिलता-जुलता है। भिक्षा के नियम, कायक्लेश सहन करने की पद्धति, उपकरण, वृक्ष के मूल के पास निवास, भूमि पर शयन, एक समय भिक्षा-चर्या, भूमि का अवलोकन करते हुए गमन करने की पद्धति, चतुर्थ भक्त, अष्टम भक्त आदि अनेक नियमों का जैन परम्परा के त्यागी वर्ग के नियमों के साथ साम्य है। इसी प्रकार का जैन परम्परा के नियमों का साम्य महाभारत के शान्तिपर्व में उपलब्ध तप एवं त्याग के वर्णन के साथ भी है। बौद्ध परम्परा के नियमों में इस प्रकार की कठोरता एवं देहदमनता का प्रायः अभाव दिखाई देता है।

आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा में समग्र आचारांग का सार आ जाता है अतः यहाँ अन्य अध्ययनों का विस्तारपूर्वक विवेचन न करते हुए आचारांग में आने वाले परमतों का विचार किया जाएगा।

आचारांग में उल्लिखित परमत :

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो परमतों का उल्लेख है वह किसी विशेष नामपूर्वक नहीं अपितु 'एगे' अर्थात् 'कुछ लोगों' के रूप में है जिसका विशेष स्पष्टीकरण चूर्णि अथवा वृत्ति में किया गया है। प्रारम्भ में ही अर्थात् प्रथम अध्ययन के प्रथम वाक्य में ही यह बताया गया है कि '*इहं एगेसिं नो सन्ना भवइ*' अर्थात् इस संसार में कुछ लोगों को यह भान नहीं होता कि मैं पूर्व से आया हुआ हूँ या दक्षिण से आया हुआ हूँ अथवा किस दिशा या विदिशा से आया हुआ हूँ अथवा ऊपर से या नीचे से आया हुआ हूँ ? इसी प्रकार 'एगेसिं नो नायं भवइ' अर्थात् कुछ को यह पता नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक

---

[1] सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते—अ० १४, श्लो० २५.

[2] अ० १७, श्लो० ५-६, १४, १६-७.

[3] देखिये—श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी लिखित वैदिक संस्कृति का इतिहास (मराठी), पृ० १७६.

है अथवा अनौपपातिक, मैं कौन था व इसके बाद क्या होऊँगा ? इसके विषय में सामान्यतया विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह बात साधारण जनता को लक्ष्य करके कही गई है अर्थात् सामान्य लोगों को अपनी आत्मा का एवं उसके भावी का ज्ञान नहीं होता। विशेषरूप से विचार करने पर मालूम होगा कि यह उल्लेख तत्कालीन भगवान् बुद्ध के सत्कार्यवाद के विषय में है। बुद्ध निर्वाण को स्वीकार करते हैं, पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में वे आत्मा को न मानते हों ऐसा नहीं हो सकता। उनका आत्मविषयक मत अनात्मवादी चार्वाक जैसा नहीं है। यदि उनका मत वैसा होता तो वे भोगपरायण बनते, न कि त्यागपरायण। वे आत्मा को मानते अवश्य हैं किन्तु भिन्न प्रकार से। वे कहते हैं कि आत्मा के विषय में गमनागमन सम्बन्धी अर्थात् वह कहाँ से आई है, कहाँ जाएगी—इस प्रकार का विचार करने से विचारक के आस्रव कम नहीं होते, उलटे नये आस्रव उत्पन्न होने लगते हैं। अतएव आत्मा के विषय में 'वह कहाँ से आई है व कहाँ जाएगा' इस प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। मज्झिमनिकाय के सब्बासव नामक द्वितीय सुत्त में भगवान् बुद्ध के वचनों का यह आशय स्पष्ट है। आचारांग में भी आगे (तृतीय अध्ययन के तृतीय उद्देशक में) स्पष्ट बताया गया है कि 'मैं कहां से आया हूँ ? मैं कहां जाऊँगा ?' इत्यादि विचारधाराओं को तथागत बुद्ध नहीं मानते।

भगवान् महावीर के आत्मविषयक वचनों को उद्दिष्ट कर चूर्णिकार कहते हैं कि क्रियावादी मतों के एक सौ अस्सी भेद हैं। उनमें से कुछ आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त्त, कुछ अमूर्त्त, कुछ कर्त्ता, कुछ अकर्त्ता मानते हैं। कुछ श्यामाक[1] परिमाण, कुछ तंदुलपरिमाण, कुछ अंगुष्ठपरिमाण मानते हैं। कुछ लोग आत्मा को दीपशिखा के समान क्षणिक मानते हैं। जो अक्रियावादी हैं वे आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते। जो अज्ञानवादी—अज्ञानी हैं वे इस विषय में कोई विवाद ही नहीं करते। विनयवादी भी अज्ञानवादियों के ही समान हैं। उपनिषदों में आत्मा को श्यामाकपरिमाण, तण्डुलपरिमाण, अंगुष्ठपरिमाण आदि मानने के उल्लेख उपलब्ध हैं[2]।

---

[1] अन्न विशेष—साँवा.

[2] छान्दोग्य—तृतीय अध्याय चौदहवाँ खण्ड; आत्मोपनिषद्—प्रथम कण्डिका; नारायणोपनिषद्—श्लो० ७१.

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'अणगारा मो त्ति एगे वयमाणा' अर्थात् 'कुछ लोग कहते हैं कि हम अनगार हैं' ऐसा वाक्य आता है। अपने को अनगार कहने वाले ये लोग पृथ्वी आदि का आलंभन अर्थात् हिंसा करते हुए नहीं हिचकिचाते। ये अनगार कौन हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि ये अनगार बौद्ध परम्परा के श्रमण हैं। ये लोग ग्राम आदि दान में स्वीकार करते हैं एवं ग्रामदान आदि स्वीकृत कर वहां की भूमि को ठीक करने के लिए हल, कुदाली आदि का प्रयोग करते हैं तथा पृथ्वी का व पृथ्वी में रहे हुए कीट-पतंगों का नाश करते हैं। इसी प्रकार कुछ अनगार ऐसे हैं जो स्नान आदि द्वारा जल को व जल में रहे हुए जीवों की हिंसा करते हैं। स्नान नहीं करने वाले आजीविक तथा अन्य सरजस्क श्रमण स्नानादि प्रवृत्ति के निमित्त पानी की हिंसा नहीं करते किन्तु पीने के लिए तो करते ही हैं। बौद्ध श्रमण (तच्चणिया) नहाने व पीने दोनों के लिए पानी की हिंसा करते हैं। कुछ ब्राह्मण स्नान पान के अतिरिक्त यज्ञ के बर्तनों व अन्य उपकरणों को धोने के लिए भी पानी की हिंसा करते हैं। इस प्रकार आजीविक श्रमण, सरजस्क श्रमण, बौद्ध श्रमण व ब्राह्मण श्रमण किसी न किसी कारण से पानी का आलंभन—हिंसा करते हैं। मूल सूत्र में यह बताया गया है कि 'इहं च खलु भो अणगाराणं उदयं जीवा वियाहिया' अर्थात् ज्ञातपुत्रीय अनगारों के प्रवचन में ही जल को जीवरूप कहा गया है, 'न अण्णेसि' (चूर्णि) अर्थात् दूसरों के प्रवचन में नहीं। यहां 'दूसरों' का अर्थ बौद्ध श्रमण समझना चाहिए। वैदिक परम्परा में तो जल को जीवरूप ही माना गया है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। केवल बौद्ध परम्परा ही ऐसी है जो पानी को जीवरूप नहीं मानती। इस विषय में मिलिंदपञ्ह[1] में स्पष्ट उल्लेख है कि पानी में जीव नहीं है—सत्त्व नहीं है: न हि महाराज! उदकं जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्तो वा।

द्वितीय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि कुछ लोग यह मानते हैं कि हमारे पास देवों का बल है, श्रमणों का बल है। ऐसा समझ कर वे अनेक हिंसामय आचरण करने से नहीं चूकते। वे ऐसा समझते हैं कि ब्राह्मणों को खिलायेंगे तो परलोक में सुख मिलेगा। इसी दृष्टि से वे यज्ञ भी करते हैं। बकरों, भैंसों, यहाँ तक कि मनुष्यों के वध द्वारा चंडिकादि देवियों के याग करते हैं एवं चरकादि ब्राह्मणों को दान देंगे तो धन मिलेगा, कीर्ति प्राप्त होगी व धर्म सधेगा,

---

१ पृ० २५३-२५५।

ऐसा समझकर अनेक आलंभन-समालंभन करते रहते हैं। इस उल्लेख में भगवान् महावीर के समय में धर्म के नाम पर चलनेवाली हिंसक प्रवृत्ति का स्पष्ट निर्देश है। चतुर्थ अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि इस जगत् में कुछ श्रमण व ब्राह्मण भिन्न-भिन्न रीति से विवाद करते हुए कहते हैं कि हमने देखा है, हमने सुना है हमने माना है, हमने विशेष तौर से जाना है, तथा ऊँची-नीची व तिरछी सब दिशाओं में सब प्रकार से पूरी सावधानीपूर्वक पता लगाया है कि सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्व हनन करने योग्य हैं, संताप पहुँचाने योग्य हैं, उपद्रुत करने योग्य हैं एवं स्वामित्व करने योग्य हैं। ऐसा करने में कोई दोष नहीं। इस प्रकार कुछ श्रमणों व ब्राह्मणों के मत का निर्देश कर सूत्रकार ने अपना अभिमत बताते हुए कहा है कि यह वचन अनार्यों का है अर्थात् इस प्रकार हिंसा का समर्थन करना अनार्यमार्ग है। इसे आर्यों ने दुर्दर्शन कहा है, दुःश्रवण कहा है, दुर्मत कहा है, दुर्विज्ञान कहा है एवं दुष्प्रत्यवेक्षण कहा है। हम ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा बताते हैं, ऐसा प्ररूपण करते हैं कि किसी भी प्राण, किसी भी भूत, किसी भी जीव, किसी भी सत्त्व को हनना नहीं चाहिए, त्रस्त नहीं करना चाहिए, परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए, उपद्रुत नहीं करना चाहिए एवं उस पर स्वामित्व नहीं करना चाहिए। ऐसा करने में ही दोष नहीं है। यह आर्यवचन है। इसके बाद सूत्रकार कहते हैं कि हिंसा का विधान करने वाले, एवं उसे निर्दोष मानने वाले समस्त प्रवादियों को एकत्र कर प्रत्येक को पूछना चाहिए कि तुम्हें मन की अनुकूलता दुःखरूप लगती है या प्रतिकूलता ? यदि वे कहें कि हमें तो मन की प्रतिकूलता दुःखरूप लगती है तो उनसे कहना चाहिए कि जैसे तुम्हें मन की प्रतिकूलता दुःखरूप लगती है वैसे ही समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों व सत्त्वों को भी मन की प्रतिकूलता दुःखरूप लगती है।

विमोह नामक आठवें अध्ययन में कहा गया है कि ये वादी आलंभार्थी हैं, प्राणियों का हनन करने वाले हैं, हनन कराने वाले हैं, हनन करने वालों का समर्थन करने वाले हैं, अदत्त को लेने वाले हैं। वे निम्न प्रकार से भिन्न-भिन्न वचन बोलते हैं : लोक है, लोक नहीं है, लोक अध्रुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सान्त है, लोक अनन्त है, सुकृत है, दुष्कृत है, कल्याण है, पाप है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, अनरक है। इस प्रकार की तत्त्वविषयक विप्रतिपत्ति वाले ये वादी अपने-अपने धर्म का प्रतिपादन करते हैं। सूत्रकार ने सब वादों को सामान्यतया याहच्छिक (आकस्मिक) एवं हेतु-

शून्य कहा है तथा किसी नाम विशेष का उल्लेख नहीं किया है। इनकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार ने विशेषतः वैदिक शाखा के सांख्य आदि मतों का उल्लेख किया है एवं शाक्य अर्थात् बौद्ध भिक्षुओं के आचरण तथा उनकी अमुक मान्यताओं का निर्देश किया है। आचारांग की ही तरह दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में भी भगवान् बुद्ध के समय के अनेक वादों का उल्लेख है।

निर्ग्रन्थसमाज :

तत्कालीन निर्ग्रन्थसमाज के वातावरण पर भी आचारांग में प्रकाश डाला गया है। उस समय के निर्ग्रन्थ सामान्यतया आचारसम्पन्न, विवेकी, तपस्वी एवं विनीतवृत्ति वाले ही होते थे, फिर भी कुछ ऐसे निर्ग्रन्थ भी थे जो वर्तमान काल के अविनीत शिष्यों की भाँति अपने हितैषी गुरु के सामने होने में भी नहीं हिचकिचाते। आचारांग के छठे अध्ययन के चौथे उद्देशक में इसी प्रकार के शिष्यों को उद्दिष्ट करके बताया गया है कि जिस प्रकार पक्षी के बच्चे को उसकी माता दाने दे-देकर बड़ा करती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शिष्यों को दिन-रात अध्ययन कराते हैं। शिष्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद 'उपशम' को त्याग कर अर्थात् शान्ति को छोड़कर ज्ञान देनेवाले महापुरुषों के सामने कठोर भाषा का प्रयोग प्रारम्भ करते हैं।

भगवान् महावीर के समय में उत्कृष्ट त्याग, तप व संयम के अनेक जीते-जागते आदर्शों की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप-त्याग अंगीकार करने के बाद भी उसमें स्थिर नहीं रह सकते थे एवं छिपे-छिपे दूषण सेवन करते थे। आचार्य के पूछने पर झूठ बोलने तक के लिए तैयार हो जाते थे। प्रस्तुत सूत्र में ऐसा एक उल्लेख उपलब्ध है जो इस प्रकार है: 'बहुक्रोधी, बहुमानी, बहुकपटी, बहुलोभी, नट की भाँति विविध ढंग से व्यवहार करने वाला, शठवत्, विविध संकल्प वाला, आस्रवों में आसक्त, मुँह से उत्थित वाद करनेवाला, 'मुझे कोई देख न ले' इस प्रकार के भय से अपकृत्य करने वाला सतत मूढ़ धर्म को नहीं जानता। जो चतुर आत्मार्थी है वह कभी अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करता। कदाचित् कामावेश में अब्रह्मचर्य का सेवन हो जाय तो उसका अपलाप करना अर्थात् आचार्य के सामने उसे स्वीकार न करना महान् मूर्खता है।' इस प्रकार के उल्लेख यही बताते हैं कि उग्र तप, उग्र संयम, उग्र ब्रह्मचर्य के युग में भी कोई-कोई ऐसे निकल आते हैं। यह वासना व कषाय की विचित्रता है।

जैन श्रमणों का अन्य श्रमणों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहता था, यह भी जानने योग्य है। इस विषय में आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक के

प्रारम्भ में ही बताया गया है कि समनोज्ञ (समान आचार-विचार वाला) भिक्षु असमनोज्ञ (भिन्न आचार-विचार वाला) को भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, कम्बल व पाद-पुंछण[1] न दे, इसके लिए उसे निमन्त्रित भी न करे, न उसकी आदरपूर्वक सेवा ही करे। इसी प्रकार असमनोज्ञ से ये सब वस्तुएँ ले भी नहीं, न उसके निमन्त्रण को ही स्वीकार करे और न उससे अपनी सेवा ही करावे। जैन श्रमणों में अन्य श्रमणों के संसर्ग से किसी प्रकार की आचार-विचारविषयक शिथिलता न आ जाय, इसी दृष्टि से यह विधान है। इसके पीछे किसी प्रकार की द्वेष-बुद्धि अथवा निन्दा-भाव नहीं है।

आचारांग के वचनों से मिलते वचन :

आचारांग के कुछ वचन अन्य शास्त्रों के वचनों से मिलते-जुलते हैं। आचारांग में एक वाक्य है 'दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे'[2]—अर्थात् जो दोनों अन्तों द्वारा अदृश्यमान है अर्थात् जिसका पूर्वान्त—आदि नहीं है व पश्चिमान्त—अन्त भी नहीं है। इस प्रकार जो (आत्मा) पूर्वान्त व पश्चिमान्त में दिखाई नहीं देता। इसी से मिलता हुआ वाक्य तेजोबिन्दु उपनिषद् के प्रथम अध्ययन के तेईसवें श्लोक में इस प्रकार है :

आदावन्ते च मध्ये च जनोऽस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥

यह पद्य पूर्ण आत्मा अथवा सिद्ध आत्मा के स्वरूप के विषय में है।

आचारांग के उपर्युक्त वाक्य के बाद ही दूसरा वाक्य है 'स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्वलोए' अर्थात् सर्वलोक में किसी के द्वारा आत्मा का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता, हनन नहीं होता। इससे मिलते हुए वाक्य उपनिषद् तथा भगवद्गीता में इस प्रकार हैं :

---

[1] मूलशब्द 'पायपुंछण' है। प्राकृत भाषा में 'पुंछ' धातु परिमार्जन अर्थ में आता है। देखिए—प्राकृत-व्याकरण, ८.४.१०४. संस्कृत भाषा का 'मृज्' धातु और प्राकृत भाषा का 'पुंछ' धातु समानार्थक है। अतः 'पायपुंछण' शब्दका संस्कृत रूपान्तर 'पादमार्जन' हो सकता है। जैनपरम्परा में 'पुंजणी' नाम का एक छोटा-सा उपकरण प्रसिद्ध है। इसका संबंध भी 'पुंछ' धातु से है और यह उपकरण परिमार्जन के लिए ही उपयुक्त होता है। 'अंगोछा' शब्द का संबंध भी 'अंगपुंछ' शब्द के साथ है। 'पोंछना' क्रियापद इस 'पुंछ' धातु से ही संबंध रखता है—पोंछना माने परिमार्जन करना।

[2] आचारांग, १.३.३.

न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते ।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा ॥
—सुबालोपनिषद्, नवम खण्ड ; ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, पृ. २१०.

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
—भगवद्गीता, अ. २, श्लो० २३.

'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया'[1] अर्थात् जिसका आगा व पीछा नहीं है उसका बीच कैसे हो सकता है ? आचारांग का यह वाक्य भी आत्मविषयक है। इससे मिलता-जुलता वाक्य गौडपादकारिका[2] में इस प्रकार है: आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

जन्ममरणातीत, नित्यमुक्त आत्मा का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं :

सव्वे सरा नियट्टंति । तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया । ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने—से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काउ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने, सन्ने, उवमा न विज्जइ । अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेयावं ति बेमि ।[3]

ये सब वचन भिन्न-भिन्न उपनिषदों में इस प्रकार मिलते हैं :

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो, न विद्मो न विजानीमो यथैतद् अनुशिष्यात् अन्यदेव तद् विदितात् अथो अविदितादपि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।'[4]

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।'[5]

---

[1] वही १.४.४.

[2] प्रकरण २, श्लोक ६.

[3] आचारांग, १.५.६.

[4] केनोपनिषद्, खं. १, श्लो०. ३.

[5] कठोपनिषद्, अ. १, श्लो. १५.

'अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमो, अवायु, अनाकाशम्, असंगम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम्, अवाग्, अमनो, अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्, न तद् अश्नाति किंचन, न तद् अश्नाति कश्चन।'[1]

'नान्तःप्रज्ञम्, न बहिःप्रज्ञम्, नोभयतःप्रज्ञम्, न प्रज्ञानघनम्, न प्रज्ञम्, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम्।'[2]

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'[3]

'अच्युतोऽहम्, अचिन्त्योऽहम्, अतर्क्योऽहम्, अप्राणोऽहम्, अकायोऽहम्, अशब्दोऽहम्, अरूपोऽहम्, अस्पर्शोऽहम्, अरसोऽहम्, अगन्धोऽहम्, अगोत्रोऽहम्, अगात्रोऽहम्, अवागहम्, अदृश्योऽहम्, अवर्णोऽहम् अश्रुतोऽहम्, अदृष्टोऽहम्.....।'[4]

आचारांग में बताया गया है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं तथा मांस एवं रक्त पतला होता है—कम होता है : आगयपन्नाणाणं किसा बाहा भवंति पयणुए य मंस-सोणिए।[5]

उपनिषदों में भी बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष को कृश होना चाहिए, इत्यादि:

मधुकरीवृत्त्या आहारमाहरन् कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन् आज्यं रुधिरमिव त्यजेत्—नारदपरिव्राजकोपनिषद्, सप्तम उपदेश; यथालाभमश्नीयात् प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्रामे एकरात्रम् नगरे.........संन्यासोपनिषद्, प्रथम अध्याय।

आचारांग-प्रथमश्रुतस्कन्ध के अनेक वाक्य सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक में अक्षरशः उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में श्री शुब्रिंग ने आचारांग के स्वसम्पादित संस्करण में यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डाला है। साथ ही उन्होंने

---

[1] बृहदारण्यक, ब्राह्मण ८, श्लोक ८.

[2] माण्डुक्योपनिषद्, श्लोक ७.

[3] तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली २, अनुवाक ४.

[4] ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१.

[5] आचारांग, १.६.३.

आचारांग के कुछ वाक्यों की बौद्ध ग्रंथ धम्मपद व सुत्तनिपात के सदृश वाक्यों से भी तुलना की है।

आचारांग के शब्दों से मिलते शब्द :

अब यहां कुछ ऐसे शब्दों की चर्चा की जाएगी जो आचारांग के साथ ही साथ परशास्त्रों में भी उपलब्ध हैं तथा ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में भी विचार किया जाएगा जिनकी व्याख्या चूर्णिकार एवं वृत्तिकार ने विलक्षण की है।

आचारांग के प्रारंभ में ही कहा गया है कि 'मैं कहाँ से आया हूं व कहाँ जाऊँगा' ऐसी विचारणा करने वाला आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई कहलाता है। आयावाई का अर्थ है आत्मवादी अर्थात् आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने वाला। लोगावाई का अर्थ है लोकवादी अर्थात् लोक का अस्तित्व मानने वाला। कम्मावाई का अर्थ है कर्मवादी एवं किरियावाई का अर्थ है क्रियावादी। ये चारों वाद आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित हैं। जो आत्मवादी है वही लोकवादी कर्मवादी एवं क्रियावादी है। जो आत्मवादी नहीं है वह लोकवादी, कर्मवादी अथवा क्रियावादी नहीं है। सूत्रकृतांग में बौद्धमत को क्रियावादी दर्शन कहा गया है: अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं (अ. १, उ. २, गा. २४.)। इसकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार भी इसी कथन का समर्थन करते हैं। इसी सूत्रकृत-अंगसूत्र के समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में क्रियावादी आदि चार वादों की चर्चा की गई है। वहाँ मूल में किसी दर्शन विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है तथापि वृत्तिकार ने अक्रियावादी के रूप में बौद्धमत का उल्लेख किया है। यह कैसे ? सूत्र के मूल पाठ में जिसे क्रियावादी कहा गया है एवं व्याख्यान करते हुए स्वयं वृत्तिकार ने जिसका एक जगह समर्थन किया है उसी को अन्यत्र अक्रियावादी कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है ?

आचारांग में आने वाले 'एयावंति' व 'सव्वावंति' इन दो शब्दों का चूर्णिकार ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। वृत्तिकार शीलांकसूरि इनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं : "एतौ द्वौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या, 'एतावन्तः सर्वेऽपि' इत्येतत्पर्यायौ" (आचारांग वृत्ति, पृ० २५) अर्थात् ये दो शब्द मगध की देशी भाषा में प्रसिद्ध हैं एवं इनका 'इतने सारे' ऐसा अर्थ है। प्राकृत व्याकरण की किसी प्रक्रिया द्वारा 'एतावन्तः' के अर्थ में 'एयावंति' सिद्ध नहीं किया जा सकता और न 'सर्वेऽपि' के अर्थ में 'सव्वावंति' ही साधा जा

सकता है। वृत्तिकार ने परम्परा के अनुसार अर्थ समझाने की पद्धति का आश्रय लिया प्रतीत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में (तृतीय ब्राह्मण में) 'लोकस्य सर्वावतः' अर्थात् 'सारे लोक की' ऐसा प्रयोग आता है। यहाँ 'सर्वावतः' 'सर्वावत्' का षष्ठी विभक्ति का रूप है। इसका प्रथमा का बहुवचन 'सर्वावन्तः' हो सकता है। आचारांग के 'सव्वावंति' और उपनिषद् के 'सर्वावतः' इन दोनों प्रयोगों की तुलना की जा सकती है।

आचारांग में एक जगह 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग मिलता है। आठवें अध्ययन में जहाँ अनेक वादों—लोक है, लोक नहीं है इत्यादि का निर्देश है वहाँ इन सब वादों को निर्हेतुक बताने के लिए 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण आचारांग में, यहाँ तक कि समस्त अंगसाहित्य में अंत्यव्यञ्जनयुक्त ऐसा विजातीय प्रयोग अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। वृत्तिकार ने इस शब्द का स्पष्टीकरण भी पूर्ववत् मगध की देशी भाषा के रूप में ही किया है। वे कहते हैं : 'अकस्मात् इति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैव उच्चारणाद् इहापि तथैव उच्चारितः इति' (आचारांगवृत्ति, पृ. २४२) अर्थात् मगध देश में ग्वालिनें भी 'अकस्मात्' का प्रयोग करती हैं। अतः यहाँ भी इस शब्द का वैसा ही प्रयोग हुआ है।

मुण्डकोपनिषद् के (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक ९) 'यत् धर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेन आतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते' इस पद्य में जिस अर्थ में 'आतुर' शब्द है उसी अर्थ में आचारांग का आउर—आतुर शब्द भी है। लोकभाषा में 'कामातुर' का प्रयोग इसी प्रकार का है।

लोगों में जो-जो वस्तुएँ शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों अर्थात् भावों के लिए भी शस्त्र शब्द का प्रयोग होता है। आचारांग में राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एवं तज्जन्य समस्त प्रवृत्तियों को सत्य—शस्त्ररूप कहा गया है। अन्य किसी शास्त्र में इस अर्थ में 'शस्त्र' शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता।

बौद्ध पिटकों में जिस अर्थ में 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में आचारांग में भी 'मार' शब्द प्रयुक्त है। सुत्तनिपात के कप्पमाणवपुच्छा सुत्त के चतुर्थ पद्य व भद्रावुधमाणवपुच्छा सुत्त के तृतीय पद्य में भगवान् बुद्ध ने 'मार' का स्वरूप स्पष्ट समझाया है। लोकभाषा में जिसे 'शैतान' कहते हैं वही 'मार' है। सर्व प्रकार का आलंभन शैतान की प्रेरणा का ही कार्य है। सूत्रकार

ने इस तथ्य का प्रतिपादन 'मार' शब्द के द्वारा किया है। इसी प्रकार 'नरय'—'नरक' शब्द का प्रयोग भी सर्व प्रकार के आलंभन के लिए किया गया है। निरालंब उपनिषद् में बंध, मोक्ष, स्वर्ग, नरक आदि अनेक शब्दों की व्याख्या की गई है। उसमें नरक की व्याख्या इस प्रकार है: 'असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः' अर्थात् असत् संसार, उसके विषय एवं असज्जनों का संसर्ग ही नरक है। यहाँ सब प्रकार के आलंभन को 'नरक' शब्द से निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार 'नरक' शब्द का जो अर्थ उपनिषद् को अभीष्ट है वही आचारांग को भी अभीष्ट है।

आचारांग में नियागपडिवन्न'—नियागप्रतिपन्न (अ. १, उ. ३) पद में 'नियाग' शब्द का प्रयोग है। याग व नियाग पर्यायवाची शब्द हैं जिनका अर्थ है यज्ञ। इन शब्दों का प्रयोग वैदिक परम्परा में विशेष होता है। जैन परम्परा में 'नियाग' शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार से किया गया है। आचारांग-वृत्तिकार के शब्दों में 'यजनं यागः नियतो निश्चितो वा यागः नियागो मोक्षमार्गः संगतार्थत्वाद् धातोः—सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं संगतम् इति तं नियागं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नः' (आचारांगवृत्ति, पृ. ३८) अर्थात् जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्र की संगति हो वह मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नियाग है। मूलसूत्र में 'णियाग' के स्थान पर 'निकाय' अथवा 'नियाय' पाठान्तर भी है। वृत्तिकार लिखते हैं: 'पाठान्तरं वा निकायप्रतिपन्नः—निर्गतः कायः औदारिकादि-यस्मात् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्षः तं प्रतिपन्नः निकायप्रतिपन्नः तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादेः स्वशक्त्याऽनुष्ठानात्' (आचारांगवृत्ति, पृ. ३८) अर्थात् जिसमें से औदारिकादि शरीर निकल गये हैं अथवा जिसकी उपस्थिति में औदारिकादि शरीर निकल गये हैं वह निकाय अर्थात् मोक्ष है। जिसने मोक्ष की साधना स्वीकार की है वह 'निकायप्रतिपन्न' है। चूर्णिकार ने पाठान्तर न देते हुए केवल 'निकाय' पाठ को ही स्वीकार किया है तथा उसका अर्थ इस प्रकार किया है: 'णिकाओ णाम देसप्पदेसबहुत्तं णिकायं पडिवज्जति जहा आऊजीवा अहवा णिकायं णिच्चं मोक्खं मग्गं पडिवन्नो' (आचारांग-चूर्णि, पृ. २५) अर्थात् णिकाय का अर्थ है देशप्रदेश-बहुत्व। जिस अर्थ में जैन प्रवचन में 'अत्थिकाय'—'अस्तिकाय' शब्द प्रचलित है उसी अर्थ में 'निकाय' शब्द भी स्वीकृत है, ऐसा चूर्णिकार का कथन है। जिसने पानी को

निकायरूप-जीवरूप स्वीकार किया है वह निकायप्रतिपन्न है। अथवा निकाय का अर्थ है मोक्ष। वृत्तिकार ने केवल मोक्ष अर्थ को स्वीकार कर 'नियाग अथवा 'निकाय' शब्द का विवेचन किया है।

'महावीहि' एवं 'महाजाण' शब्दों का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार तथा वृत्तिकार दोनों ने इन शब्दों को मोक्षमार्ग का सूचक अथवा मोक्ष के साधनरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-तप आदि का सूचक बताया है। महावीहि अर्थात् महावीथि एवं महाजाण अर्थात् महायान। 'महावीहि' शब्द सूत्रकृतांग के वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की २१वीं गाथा में भी आता है: 'पणया वीरा महावीहिं सिद्धिपहं' इत्यादि। यहां 'महावीहि' का अर्थ 'महामार्ग' बताया गया है और उसे 'सिद्धिपह' अर्थात् 'सिद्धिपथ' के विशेषण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार आचारांग में प्रयुक्त 'महावीहि' शब्द का जो अर्थ है वही सूत्रकृतांग में प्रयुक्त 'महावीहि' शब्द का भी है। 'महाजाण'-महायान' शब्द जो कि जैन परम्परा में मोक्षमार्ग का सूचक है, बौद्ध दर्शन के एक भेद के रूप में भी प्रचलित है। प्राचीन बौद्ध परम्परा का नाम हीनयान है और बाद को नयी बौद्ध परम्परा का नाम महायान है।

प्रस्तुत सूत्र में 'वीर' व 'महावीर' का प्रयोग बार-बार आता है। ये दोनों शब्द व्यापक अर्थ में भी समझे जा सकते हैं और विशेष नाम के रूप में भी। जो संयम की साधना में शूर है वह वीर अथवा महावीर है। जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु अपनी साधना की शूरता के कारण वे वीर अथवा महावीर कहे जाते हैं। 'वीर' व 'महावीर' शब्दों का अर्थ इन दोनों रूपों में समझा जा सकता है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'आरिय' व 'अणारिय' शब्दों का अर्थ व्यापक रूप में समझना चाहिए। जो सम्यक् आचार-सम्पन्न हैं—अहिंसा का सर्वांगीण आचरण करने वाले हैं वे आरिय—आर्य हैं। जो वैसे नहीं हैं वे अणारिय-अनार्य हैं।

मेहावी (मेधावी), मइमं (मतिमान्), धीर, पंडिय (पण्डित), पासय (पश्यक), वीर, कुसल, (कुशल), माहण (ब्राह्मण), नाणी (ज्ञानी), परमचक्खु (परमचक्षुष्), मुणि (मुनि), बुद्ध, भगवं (भगवान्), आसुपन्न (आशुप्रज्ञ), आययचक्खु (आयतचक्षुष्) आदि शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत सूत्र में कई बार हुआ है। इनका अर्थ बहुत स्पष्ट है। इन शब्दों को सुनते ही जो सामान्य बोध होता है वही इनका मुख्य अर्थ है और यही मुख्य अर्थ यहां बराबर

संगत हो जाता है। ऐसा होते हुए भी चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इन शब्दों का जैन परिभाषा के अनुसार विशिष्ट अर्थ किया है। उदाहरण के लिए पासअ (पश्यक-द्रष्टा) का अर्थ सर्वज्ञ अथवा केवली, कुसल (कुशल) का अर्थ तीर्थंकर अथवा वर्धमान स्वामी, मुणि (मुनि) का अर्थ त्रिकालज्ञ अथवा तीर्थंकर किया है।

जाणइ-पासइ का प्रयोग भाषाशैली के रूप में :

आचारांग में 'अकम्मा जाणइ पासइ' (५, ६), 'आसुपन्नेण जाणया पासया' (७, १), 'अजाणओ अपासओ' (५, ४) आदि वाक्य आते हैं, जिनमें केवली के जानने व देखने का उल्लेख है। इस उल्लेख को लेकर प्राचीन ग्रन्थकारों ने सर्वज्ञ के ज्ञान व दर्शन के क्रमाक्रम के विषय में भारी विवाद खड़ा किया है और जिसके कारण एक आगमिक पक्ष व दूसरा तार्किक पक्ष इस प्रकार के दो पक्ष भी पैदा हो गये हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'जाणइ' व 'पासइ' ये दो क्रियापद केवल भाषाशैली—बोलने की एक शैली के प्रतीक हैं। कहने वाले के मन में ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का कोई विचार नहीं रहा है। जैसे अन्यत्र 'पन्नवेमि परूवेमि भासेमि' आदि क्रियापदों का समानार्थ में प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी 'जाणइ पासइ' रूप युगल क्रियापद समानार्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। जो मनुष्य केवली नहीं है अर्थात् छद्मस्थ है उसके लिए भी 'जाणइ पासइ' अथवा 'अजाणओ अपासओ' का प्रयोग होता है। दर्शन-ज्ञान के क्रम के अनुसार तो पहले 'पासइ' अथवा 'अपासओ' और बाद में 'जाणइ' अथवा 'अजाणओ' का प्रयोग होना चाहिए किन्तु ये वचन इस प्रकार के किसी क्रम को दृष्टि में रखकर नहीं कहे गये हैं। यह तो बोलने की एक शैली मात्र है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस शैली का प्रयोग दिखाई देता है। मज्झिमनिकाय के सब्बासव सुत्त में भगवान् बुद्ध के मुख से ये शब्द कहलाये गये हैं: 'जानतो अहं भिक्खवे पस्सतो आसवानं खयं वदामि, नो अजानतो नो अपस्सतो' अर्थात् हे भिक्षुओ! मैं जानता हुआ—देखता हुआ आस्रवों के क्षय की बात करता हूँ, नहीं जानता हुआ—नहीं देखता हुआ नहीं। इसी प्रकार का प्रयोग भगवती सूत्र में भी मिलता है: 'जे इमे भंते! बेइंदिया......पंचिंदिया जीवा एएसि आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया......एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा....... नीसासं वा न याणामो न पासामो' (श. २, उ. १)—द्वीन्द्रियादिक जीव

जो श्वासोच्छ्वास आदि लेते हैं वह हम जानते हैं, देखते हैं किन्तु एकेन्द्रिय जीव जो श्वास आदि लेते हैं वह हम नहीं जानते, नहीं देखते।

ज्ञान के स्वरूप की परिभाषा के अनुसार दर्शन सामान्य उपयोग, सामान्य बोध अथवा निराकार प्रतीति है, जब कि ज्ञान विशेष उपयोग, विशेष बोध अथवा साकार प्रतीति है। मनःपर्यय-उपयोग ज्ञानरूप ही माना जाता है, दर्शनरूप नहीं, क्योंकि उसमें विशेष का ही बोध होता है, सामान्य का नहीं। ऐसा होते हुए भी नंदीसूत्र में ऋजुमति एवं विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी के लिए 'जाणइ' व 'पासइ' दोनों पदों का प्रयोग हुआ है। यदि 'जाणइ' पद केवल ज्ञान का ही द्योतक होता और 'पासइ' पद केवल दर्शन का ही प्रतीक होता तो मनःपर्ययज्ञानी के लिए केवल 'जाणइ' पद का ही प्रयोग किया जाता, 'पासइ' पद का नहीं। नंदी में एतद्विषयक पाठ इस प्रकार है :—

दव्वओ णं उज्जुमई णं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए ......वितिमिरतराए जाणइ पासइ। खेत्तओ णं उज्जुमई जहन्नेणं......उक्कोसेणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई विसुद्धतरं......जाणइ पासइ। कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं...... उक्कोसेणं पि जाणइ पासइ तं चेव विउलमई विसुद्धतरागं....... जाणइ पासइ। भावओ णं उज्जुमई.......जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई विसुद्धतरागं जाणइ पासइ।

इसी प्रकार श्रुतज्ञानी के सम्बन्ध में भी नंदीसूत्र में 'सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ' ऐसा पाठ आता है। श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, दर्शन नहीं। फिर भी उसके लिए 'जाणइ' व 'पासइ' दोनों का प्रयोग किया गया है।

यह सब देखते हुए यही मानना विशेष उचित है कि 'जाणइ पासइ' का प्रयोग केवल एक भाषाशैली है। इसके आधार पर ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का विचार करना युक्तियुक्त नहीं।

वसुपद :

आचारांग में वसु, अणुवसु, वसुमंत, दुव्वसु आदि वसु पद वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'वसु' शब्द अवेस्ता, वेद एवं उपनिषद् में भी मिलता है। इससे मालूम होता है कि यह शब्द बहुत प्राचीन है। अवेस्ता में इस शब्द का प्रयोग 'पवित्र' के अर्थ में हुआ है। वहां इसका उच्चारण 'वसु' न होकर

'वोहू' है। वेद व उपनिषद् में इसका उच्चारण 'वसु' के रूप में ही है।[1] उपनिषद् में प्रयुक्त 'वसु' शब्द हंस अर्थात् पवित्र आत्मा का द्योतक है: हंसः शुचिषद् वसुः (कठोपनिषद्, वल्ली ५, श्लोक २; छान्दोग्योपनिषद, खंड १६, श्लोक १-२)। बाद में इस शब्द का प्रयोग वसु नामक आठ देवों अथवा धन के अर्थ में होने लगा। आचारांग में इस शब्द का प्रयोग आत्मार्थी पवित्र मुनि एवं आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ के अर्थ में हुआ है। वसु अर्थात् मुनि। अणुवसु अर्थात् छोटा मुनि—आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ। दुव्वसु अर्थात् मुक्तिगमन के अयोग्य मुनि—अपवित्र मुनि—आचारहीन मुनि।

वेद :

वेयवं—वेदवान् और वेयवी—वेदवित् इन दोनों शब्दों का प्रयोग आचारांग में भिन्न-भिन्न अध्ययनों में हुआ है। चूर्णिकार ने इनका विवेचन करते हुए लिखा है: 'वेतिज्जइ जेण स वेदो तं वेदयति इति वेदवि' (आचारांग—चूर्णि), पृ. १५२, '*वेदवी तित्थगर एव कित्तयति विवेगं*, दुवाल-*संगं वा प्रवचनं वेदो तं जे वेदयति स* वेदवी' (वही पृ. १८५)। इन अवतरणों में चूर्णिकार ने तीर्थंकर को वेदवी—वेदवित् कहा है। जिससे वेदन हो अर्थात् ज्ञान हो वह वेद है। इसीलिए जैन सूत्रों को अर्थात् द्वादशांग प्रवचन को वेद कहा गया है। निर्युक्तिकार ने आचारांग को वेदरूप बताया है; वृत्तिकार ने भी इस कथन का समर्थन किया है एवं आचारादि आगमों को वेद तथा तीर्थंकरों, गणधरों एवं चतुर्दशपूर्वियों को वेदवित् कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा में ऋग्वेदादि को हिंसाचारप्रधान होने के कारण वेद न मानते हुए अहिंसाचारप्रधान आचारांगादि को वेद माना गया है। वसुदेव हिंडी (प्रथमभाग, पृ. १८३-१९३) में इसी प्रकार के ग्रन्थों को आर्यवेद कहा गया है। वस्तुतः देखा जाय तो वेदकी प्रतिष्ठा से प्रभावित हो कर ही अपने शास्त्र को वेद नाम दिया गया है, यही मानना उचित है।

आमगंध :

आचारांग के '**सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधे परिव्वए**' (२,५) वाक्य में यह निर्देश किया गया है कि मुनि को सर्व आमगंधों को जानकर उनका त्याग करना चाहिए एवं निरामगंध हो विचरण करना चाहिए। चूर्णिकार

---

[1] अवेस्ता के लिए देखिए—गाथाओ पर नवो प्रकाश, पृ. ४४८, ४६२, ४६४, ८२३.

वेद के लिए देखिए—ऋग्वेद मंडल २, सूक्त २३, मंत्र ९ तथा सूक्त ११, मंत्र १.

अथवा वृत्तिकार ने आमगंध का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ नहीं बताया है। उन्होंने केवल यही कहा है कि 'आमगंध' शब्द आहार से सम्बन्धित दोष का सूचक है। जो आहार उद्गम दोष से दूषित हो अथवा शुद्धि की दृष्टि से दोषयुक्त हो वह आमगंध कहा जाता है। सामान्यतया 'आम' का अर्थ होता है कच्चा और गंध का अर्थ होता है वास। जिसकी गंध आम हो वह आमगंध है। इस दृष्टि से जो आहारादि परिपक्व न हो अर्थात् जिसमें कच्चे की गंध मालूम होती हो वह आमगंध में समाविष्ट होता है। जैन भिक्षुओं के लिए इस प्रकार का आहार त्याज्य है। लक्षणा से 'आमगंध' शब्द इसी प्रकार के आहारादि सम्बन्धी अन्य दोषों का भी सूचक है।

बौद्ध पिटक ग्रंथ सुत्तनिपात में 'आमगंध' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें तिष्य नामक तापस और भगवान् बुद्ध के बीच 'आमगंध' के विचार के विषय में एक संवाद है। यह तापस कंद, मूल, फल जो कुछ भी धर्मानुसार मिलता है उसके द्वारा अपना निर्वाह करता है एवं तापसधर्म का पालन करता है। उसे भगवान् बुद्ध ने कहा कि हे तापस ! तू जो परप्रदत्त अथवा स्वोपार्जित कंद आदि ग्रहण करता है वह आमगंध है—अमेध्यवस्तु है—अपवित्रपदार्थ है। यह सुनकर तिष्य ने बुद्ध से कहा कि हे ब्रह्मबन्धु ! तू स्वयं सुसंस्कृत—अच्छी तरह से पकाये हुए पक्षियों के मांस से युक्त चावल का भोजन करने वाला है और मैं कंद आदि खाने वाला हूं। फिर भी तू मुझे तो आमगंधभोजी कहता है और अपने आप को निरामगंधभोजी। यह कैसे ? इसका उत्तर देते हुए बुद्ध कहते हैं कि प्राणाघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वंचना, लूट, व्यभिचार आदि अनाचार आमगंध हैं, मांसभोजन आमगंध नहीं। असंयम, जिह्वालोलुपता, अपवित्र आचरण, नास्तिकता, विषमता तथा अविनय आमगंध है, मांसाहार आमगंध नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में समस्त दोषों—आंतरिक व बाह्य दोषों को आमगंध कहा गया है।

आचारांग में प्रयुक्त 'आमगंध' का अर्थ आंतरिक दोष तो है ही, साथ ही मांसाहार भी है। जैन भिक्षुओं के लिये मांसाहार के त्याग का विधान है। 'सव्वामगंधं परिन्नाय' लिखने का वास्तविक अर्थ यही है कि बाह्य व आंतरिक सब प्रकार का आमगंध हेय है अर्थात् बाह्य आमगंध—मांसादि एवं आन्तरिक आमगंध—आभ्यन्तरिक दोष ये दोनों ही त्याज्य हैं।

आस्रव व परिस्रव :

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा ; जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा' आचारांग (अ. ४, उ. २) के इस वाक्य का अर्थ समझने के लिये आस्रव व परिस्रव का अर्थ जानना जरूरी है। आस्रव शब्द 'बंधन के हेतु' के अर्थ में और परिस्रव शब्द 'बंधन के नाश के हेतु' के अर्थ में जैन व बौद्ध परिभाषा में रूढ़ है। अतः 'जे आसवा......' का अर्थ यह हुआ कि जो आस्रव हैं अर्थात् बंधन के हेतु हैं वे कई बार परिस्रव अर्थात् बंधन के नाश के हेतु बन जाते हैं और जो बंधन के नाश के हेतु हैं वे कई बार बंधन के हेतु बन जाते हैं। इसी प्रकार जो अनास्रव हैं अर्थात् बंधन के हेतु नहीं हैं वे कई बार अपरिस्रव अर्थात् बंधन के हेतु बन जाते हैं और जो बंधन के हेतु हैं वे कई बार बंधन के अहेतु बन जाते हैं। इन वाक्यों का गूढार्थ 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' के सिद्धान्त के आधार पर समझा जा सकता है। बंधन व मुक्ति का कारण मन ही है। मन की विचित्रता के कारण ही जो हेतु बंधन का कारण होता है वही मुक्ति का भी कारण बन जाता है। इसी प्रकार मुक्ति का हेतु बंधन का कारण भी बन सकता है। उदाहरण के लिए एक ही पुस्तक किसी के लिए ज्ञानार्जन का कारण बनती है तो किसी के लिए क्लेश का, अथवा किसी समय विद्योपार्जन का हेतु बनती है तो किसी समय कलह का। तात्पर्य यह है कि चित्तशुद्धि अथवा अप्रमत्तता पूर्वक की जाने वाली क्रियाएं ही अनास्रव अथवा परिस्रव का कारण बनती हैं। अशुद्ध चित्त अथवा प्रमादपूर्वक की गई क्रियाएं आस्रव अथवा अपरिस्रव का कारण होती हैं।

वर्णाभिलाषा :

'वण्णाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए' (आचारांग, अ. ५, उ. ३ सू. १५५) का अर्थ इस प्रकार है : वर्ण का अभिलाषी लोक में किसी का भी आलंभन न करे। वर्ण अर्थात् प्रशंसा, यश, कीर्ति। उसके आदेशी अर्थात् अभिलाषी को सारे संसार में किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए, किसी का भी भोग नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार असत्य, चौर्य आदि का भी आचरण नहीं करना चाहिए। यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है : संसार में कीर्ति अथवा प्रशंसा के लिए देहदमनादिक की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। तीसरा अर्थ यों है : लोक में वर्ण अर्थात् रूपसौन्दर्य के लिए किसी प्रकार का संस्कार—स्नानादि की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त सूत्र में मुमुक्षुओं के लिए किसी प्रकार की हिंसा न करने का विधान है। इसमें किसी अपवाद का उल्लेख अथवा निर्देश नहीं है। फिर भी वृत्तिकार कहते हैं कि प्रवचन की प्रभावना के लिये अर्थात् जैन शासन की कीर्ति के लिए कोई इस प्रकार का आरंभ—हिंसा कर सकता है : *प्रवचनोद्भावनार्थं तु आरभते* (आचारांगवृत्ति, पृ. १६२)। वृत्तिकार का यह कथन कहां तक युक्तिसंगत है, यह विचारणीय है।

मुनियों के उपकरण :

आचारांग में भिक्षु के वस्त्र के उपयोग एवं अनुपयोग के सम्बन्ध में जो पाठ हैं उनमें कहीं भी वृत्तिकारनिर्दिष्ट जिनकल्प आदि भेदों का उल्लेख नहीं है, केवल भिक्षु की साधन-सामग्री का निर्देश है। इसमें अचेलकता एवं सचेलकता का प्रतिपादन भिक्षु की अपनी परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। इस विषय में किसी प्रकार की अनिवार्यता को स्थान नहीं है। यह केवल आत्मबल व देहबल की तरतमता पर आधारित है। जिसका आत्मबल अथवा देहबल अपेक्षाकृत अल्प है उसे भी सूत्रकार ने साधना का पूरा अवसर दिया है। साथ ही यह भी कहा है कि अचेलक, त्रिवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, एकवस्त्रधारी एवं केवल लज्जानिवारणार्थ वस्त्र का उपयोग करने वाला—ये सब भिक्षु समानरूप से आदरणीय हैं, इन सबके प्रति समानता का भाव रखना चाहिए : समत्तमेव समभिजाणिया। इनमें से अमुक प्रकार के मुनि उत्तम हैं अथवा श्रेष्ठ हैं एवं अमुक प्रकार के हीन हैं अथवा अधम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। यहां एक बात विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मुनियों के उपकरणों के सम्बन्ध में आने वाले समस्त उल्लेखों में कहीं भी मुहपत्ती नामक उपकरण का निर्देश नहीं है। उनमें केवल वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुंछन, अवग्रह तथा कटासन का नाम है : वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं ओग्गहं च कडासणं (२, ५), वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं (६, २), वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (८, १), वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (८, २)। भगवतीसूत्र में तथा अन्य अङ्गसूत्रों में जहां-जहां दीक्षा लेने वालों का अधिकार आता है वहां-वहां रजोहरण तथा पात्र के सिवाय किसी अन्य उपकरण का उल्लेख नहीं दीखता है। यह हकीकत भी मुहपत्ती के सम्बन्ध में विवाद खड़ा करनेवाली है। भगवती सूत्र में '*गौतम मुहपत्ती का प्रतिलेखन करते हैं*' इस प्रकार का उल्लेख आता है।

इससे प्रतीत होता है कि आचारांग की रचना के समय मुहपत्ती का भिक्षुओं के उपकरणों में समावेश न था किन्तु बाद में इसकी वृद्धि की गई। मुहपत्ती के बांधने का उल्लेख तो कहीं दिखाई नहीं देता। संभव है बोलते समय अन्य पर थूंक न गिरे तथा पुस्तक पर भी थूंक न पड़े, इस दृष्टि से मुंहपत्ती का उपयोग प्रारंभ हुआ हो। मुंह पर मुंहपत्ती बांध रखने का रिवाज तो बहुत समय बाद ही चला है।[1]

महावीर-चर्या :

आचारांग के उपधानश्रुत नामक नववें अध्ययन में भगवान् महावीर का जो चरित्र दिया गया है वह भगवान् की जीवनचर्या का साक्षात् द्योतक है। उसमें कहीं भी अत्युक्ति नहीं है। उनके पास इंद्र, सूर्य आदि के आने की घटना का कहीं भी निर्देश नहीं है। इस अध्ययन में भगवान् के धर्मचक्र के प्रवर्तन अर्थात् उपदेश का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें भगवान् की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की समग्र जीवन-घटना का उल्लेख है। भगवान् ने साधना की, वीतराग हुए, देशना दी अर्थात् उपदेश दिया और अन्त में 'अभिनिव्वुडे' अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया। इस अध्ययन में एक जगह ऐसा पाठ है :—

अप्पं तिरियं पेहाए अप्पं पिट्ठओ व पेहाए।
अप्पं बुइए पडिभाणी पंथपेही चरे जयमाणे॥

अर्थात् भगवान् ध्यान करते समय तिरछा नहीं देखते अथवा कम देखते, पीछे नहीं देखते अथवा कम देखते, बोलते नहीं अथवा कम बोलते, उत्तर नहीं देते अथवा कम देते एवं मार्ग को ध्यानपूर्वक यतना से देखते हुए चलते।

इस सहज चर्या का भगवान् के जन्मजात माने जाने वाले अवधिज्ञान के साथ विरोध होता देख चूर्णिकार इस प्रकार समाधान करते हैं कि भगवान् को आंख का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है (क्योंकि वे छद्मावस्था में भी अपने अवधिज्ञान से बिना आंख के ही देख सकते हैं, जान सकते हैं) फिर भी शिष्यों को समझाने के लिए इस प्रकार का उल्लेख आवश्यक है : ण एतं

---

1 जैन शासन में क्रियाकांड में परिवर्तन करनेवाले और स्थानकवासी परंपरा के प्रवर्तक प्रधान पुरुष श्री लोकाशाह भी मुहपत्ती नहीं बांधते थे। बांधने की प्रथा बाद में चली है। देखिए—गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रन्थ में पं० दलसुखभाई मालवणिया का लेख 'लोकाशाह और उनकी विचारधारा'।

भगवतो भवति, तहावि आयरियं धम्माणं सिस्साणं इति काउं अप्पं तिरियं (चूर्णि, पृ. ३१०)। इस प्रकार चूर्णिकार ने भगवान् महावीर से सम्बन्धित महिमावर्धक अतिशयोक्तियों को सुसंगत करने के लिए मूलसूत्र के बिलकुल सीधे-सादे एवं सुगम वचनों को अपने ढंग से समझाने का अनेक स्थानों पर प्रयास किया है। पीछे के टीकाकारों ने भी एक या दूसरे ढंग से इसी पद्धति का अवलम्बन लिया है। यह तत्कालीन वातावरण एवं भक्ति का सूचक है। ललितविस्तर आदि बौद्ध ग्रंथों में भी भगवान् बुद्ध के विषय में जैन ग्रंथों के ही समान अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं। महावीर के लिए प्रयुक्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतज्ञानी, केवली आदि शब्द आचार्य हरिभद्र के कथनानुसार भगवान् के आत्मप्रभाव, वीतरागता एवं क्रान्तदर्शिता—दूरदर्शिता के सूचक हैं। बाद में जिस अर्थ में ये शब्द रूढ हुए हैं एवं शास्त्रार्थ का विषय बने हैं उस अर्थ में वे उनके लिए प्रयुक्त हुए प्रतीत नहीं होते। प्रत्येक महापुरुष जब सामान्य चर्या से ऊंचा उठ जाता है—असाधारण जीवनचर्या का पालन करने लगता है तब भी वह मनुष्य ही होता है। तथापि लोग उसके लिए लोकोत्तर शब्दों का प्रयोग प्रारंभ कर देते हैं और इस प्रकार अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उत्तम कोटि के विचारक उस महापुरुष का यथाशक्ति अनुसरण करते हैं जब कि सामान्य लोग लोकोत्तर शब्दों द्वारा उनका स्तवन करते हैं, पूजन करते हैं, अर्चन करते हैं, महिमा गाकर प्रसन्न होते हैं।

कुछ सुभाषित :

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व उसमें आनेवाले कुछ सूक्त अर्थसहित नीचे दिये जाने आवश्यक हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. पणया वीरा महावीहिं ... वीर पुरुष महामार्ग की ओर अग्रसर होते हैं।

२. जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिया ... जिस श्रद्धा के साथ निकला उसी का पालन कर।

३. धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए ... धीर पुरुष एक मुहूर्त के लिए भी प्रमाद न करे।

४. वओ अच्चेइ जोव्वणं च ... वय चला जा रहा है और यौवन भी।

५. खणं जाणाहि पंडिए .... — हे पंडित! क्षण को–समय को समझ।

६. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा .... — सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सुख अच्छा लगता है, दुःख अच्छा नहीं लगता, वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, जीने की इच्छा है।

७. सव्वेसिं जीविअं पियं ... — सबको जीवन प्रिय है।

८. जेण सिया तेण णो सिया ··· — जिसके द्वारा है उसके द्वारा नहीं है अर्थात् जो अनुकूल है वह प्रतिकूल हो जाता है।

९. जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो .... — जैसा अन्दर है वैसा बाहर है और जैसा बाहर है वैसा अन्दर है।

१०. कामकामी खलु अयं पुरिसे .... — यह पुरुष सचमुच कामकामी है।

११. कासंकासेऽयं खलु पुरिसे .... — यह पुरुष 'मैं करूंगा, मैं करूँगा' ऐसे ही करता रहता है।

१२. वेरं वड्ढइ अप्पणो .... — ऐसा पुरुष अपना वैर बढ़ाता है।

१३. सुत्ता अमुणी मुणिणो सययं जागरंति ... — अमुनि सोये हुए हैं और मुनि सतत जाग्रत हैं।

१४. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ — कर्महीन के व्यवहार नहीं होता।

१५. अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे ... — हे धीर पुरुष! प्रपंच के अग्रभाग व मूल को काट डाल।

१६. का अरइ के आणंदे एत्थं पि अग्गहे चरे .... — क्या अरति और क्या आनन्द, दोनों में अनासक्त रहो।

१७. पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि .... — हे पुरुष! तू ही अपना मित्र है फिर बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करता है?

१८. पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि .... — हे पुरुष! तू अपने आप को ही निगृहीत कर। इस प्रकार तेरा दुःख दूर होगा।

१९. पुरिसा ! सच्चमेव समभि-जाणाहि	हे पुरुष ! सत्य को ही सम्यक्रूप से समझ।
२०. जे एगं नामे से बहु नामे, जे बहु नामे से एगं नामे	जो एक को झुकाता है वह बहुतों को झुकाता है और जो बहुतों को झुकाता है वह एक को झुकाता है।
२१. सव्वओ पमत्तस्स भयं अप्पमत्तस्स नत्थि भयं....	प्रमादी को चारों ओर से भय है, अप्रमादी को कोई भय नहीं।
२२. जंति वीरा महाजाणं	वीर पुरुष महायान की ओर जाते हैं।
२३. कसेहि अप्पाणं	आत्मा को अर्थात् खुद को कस।
२४. जरेहि अप्पाणं	आत्मा को अर्थात् खुद को जीर्ण कर।
२५. बहु दुक्खा हु जंतवो	सचमुच प्राणी बहुत दुःखी है।
२६. तुमं सि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि	तू जिसे हनने योग्य समझता है वह तू खुद ही है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की उपर्युक्त समीक्षा के ही समान द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भी समीक्षा आवश्यक है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सामान्य परिचय पहले दिया जा चुका है। यह पाँच चूलिकाओं में विभक्त है जिसमें आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पंचम चूलिका आचारांग से अलग होकर एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही बन गई है। अतः वर्तमान में द्वितीय श्रुतस्कन्ध में केवल चार चूलिकाएँ ही हैं। प्रथम चूलिका में सात प्रकरण हैं जिनमें से प्रथम प्रकरण आहारविषयक है। इस प्रकरण में कुछ विशेषता है जिसकी चर्चा करना आवश्यक है।

आहार :

जैन भिक्षु के लिए यह एक सामान्य नियम है कि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे-बड़े जीवों से युक्त हो, काई से व्याप्त हो, गेहूँ आदि के दानों के सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठंडे पानी से भिगोया हुआ हो,

जीवयुक्त हो, रजवाला हो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् असावधानी से ऐसा भोजन आ भी जाए तो उसमें से जीवजंतु आदि निकाल कर विवेकपूर्वक उसका उपयोग करे। भोजन करने के लिए स्थान कैसा हो ? इसके उत्तर में कहा गया है कि भिक्षु एकान्त स्थान ढूंढे अर्थात् एकान्त में जाकर किसी वाटिका, उपाश्रय अथवा शून्यगृह में किसी के न देखते हुए भोजन करे। वाटिका आदि कैसे हों ? जिसमें बैठने की जगह अंडे न हों, अन्य जीवजन्तु न हों, अनाज के दाने अथवा फूल आदि के बीज न हों, हरे पत्ते आदि न पड़े हों, ओस न पड़ी हो, ठंडा पानी न गिरा हो, काई न चिपकी हो, गीली मिट्टी न हो, मकड़ी के जाले न हों ऐसे निर्जीव स्थान में बैठकर भिक्षु भोजन करे। आहार, पानी आदि में अखाद्य अथवा अपेय पदार्थ के निकलने पर उसे ऐसे स्थान में फेंके जहां एकान्त हो अर्थात् किसी का आना-जाना न हो तथा जीवजन्तु आदि भी न हों।

भिक्षा के हेतु अन्य मत के साधु अथवा गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे अथवा घर से बाहर न निकले क्योंकि वृत्तिकार के कथनानुसार अन्य तीर्थिकों के साथ प्रवेश करने व निकलने वाले भिक्षु को आध्यात्मिक व बाह्य हानि होती है। इस नियम से एक बात यह फलित होती है कि उस जमाने में भी सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच परस्पर सद्भावना का अभाव था।

आगे एक नियम यह है कि जो भोजन अन्य श्रमणों अर्थात् बौद्ध श्रमणों, तापसों, आजीविकों आदि के लिए अथवा अतिथियों, भिखारियों, वनीपकों[1] आदि के लिए बनाया गया हो उसे जैनभिक्षु ग्रहण न करे। इस नियम द्वारा अन्य भिक्षुओं अथवा श्रमणों को हानि न पहुंचाने की भावना व्यक्त होती है। इसी प्रकार जैन भिक्षुओं को नित्यपिण्ड, अग्रपिण्ड (भोजन का प्रथम भाग) आदि देने वाले कुलों में से भिक्षा ग्रहण करने की मनाही की गई है।

भिक्षा के योग्य कुल :

जिन कुलों में भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे वे ये हैं : उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, एसिअकुल—गोष्ठों का कुल, वेसिअकुल—वैश्यकुल, गंडागकुल—गांव में घोषणा करनेवाले नापितों का कुल, कोट्टागकुल—बढ़ईकुल, बुक्कस अथवा बोक्कशालियकुल—बुनकरकुल। साथ ही यह भी बताया गया है कि जो कुल अनिन्दित हैं, अजुगुप्सित हैं उन्हीं में जाना चाहिए;

[1] विशिष्ट वेषधारी भिखारी.

निन्दित व जुगुप्सित कुलों में नहीं जाना चाहिए। वृत्तिकार के कथनानुसार चमारकुल अथवा दासकुल निन्दित माने जाते हैं। इस नियम द्वारा यह फलित होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योजना के समय जैनधर्म में कुल के आधार पर उच्चकुल एवं नीचकुल की भावना को स्थान मिला हो। इसके पूर्व जैन प्रवचन में इस भावना की गंधतक नहीं मिलती। जहां खुद चांडाल के मुनि बनने के उल्लेख हैं वहां नीचकुल अथवा गर्हितकुल की कल्पना ही कैसे हो सकती है?

उत्सव के समय भिक्षा :

एक जगह खान-पान के प्रसंग से जिन विशेष उत्सवों के नामों का उल्लेख किया गया है वे ये हैं : इंद्रमह, स्कंदमह, रुद्रमह, मुकुन्दमह, भूतमह, यक्षमह, नागमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, कूपमह, नदीमह, सरोवरमह, सागरमह, आकरमह इत्यादि। इन उत्सवों पर उत्सव के निमित्त से आये हुए निमन्त्रित व्यक्तियों के भोजन कर लेने पर ही भिक्षु आहारप्राप्ति के लिए किसी के घर में जाय, उससे पूर्व नहीं। इतना ही नहीं, वह घर में जाकर गृहपति की स्त्री, बहन, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, दास, दासी, नौकर, नौकरानी से कहे कि जिन्हें जो देना था उन्हें वह दे देने के बाद जो बचा हो उसमें से मुझे भिक्षा दो। इस नियम का प्रयोजन यही है कि किसी के भोजन में अन्तराय न पड़े।

संखडि अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा के लिए जाने का निषेध करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार की भिक्षा अनेक दोषों की जननी है। जन्मोत्सव, नामकरणोत्सव आदि के प्रसंग पर होने वाले बृहद्भोज के निमित्त अनेक प्रकार की हिंसा होती है। ऐसे अवसर पर भिक्षा लेने जाने की स्थिति में साधुओं की सुविधा के लिए भी विशेष हिंसा की संभावना हो सकती है। अतः संखडि में भिक्षु भिक्षा के लिए न जाय। आगे सूत्रकार ने यह भी बताया है कि जिस दिशा में संखडि होती हो उस दिशा में भी भिक्षु को नहीं जाना चाहिए। संखडि कहां-कहां होती है? ग्राम, नगर, खेड, कर्बट, मडंब, पट्टण, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम, संनिवेश व राजधानी—इन सब में संखडि होती है। संखडि में भिक्षा के लिए जाने से भयंकर दोष लगते हैं। उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं कि कदाचित् वहां अधिक खाया जाय अथवा पीया जाय और वमन हो अथवा अपच हो तो रोग होने की संभावना होती है। गृहपति के साथ, गृहपति की स्त्री के साथ, परिव्राजकों के साथ, परिव्राजिकाओं के साथ एकमेक हो जाने पर, मदिरा आदि पीने की परिस्थिति उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य-भंग का भय रहता है। यह एक विशेष भयंकर दोष है।

भिक्षा के लिये जाते समय :

भिक्षा के लिए जाने वाले भिक्षु को कहा गया है कि अपने सब उपकरण साथ रखकर ही भिक्षा के लिए जाय। एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भी वैसा ही करे। वर्तमान में एक गांव से दूसरे गांव जाते समय तो इस नियम का पालन किया जाता है किन्तु भिक्षा के लिए जाते समय वैसा नहीं किया जाता। धीरे-धीरे उपकरणों में वृद्धि होती गई। अतः भिक्षा के समय सब उपकरण साथ में नहीं रखने की नई प्रथा चली हो ऐसा शक्य है।

राजकुलों में :

आगे बताया गया है कि भिक्षु को क्षत्रियों अर्थात् राजाओं के कुलों में, कुराजाओं के कुलों में, राजभृत्यों के कुलो में, राजवंश के कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। इससे मालूम होता है कि कुछ राजा एवं राजवंश के लोग भिक्षुओं के साथ असद्व्यवहार करते होंगे अथवा उनके यहाँ का आहार संयम की साधना में विघ्नकर होता होगा।

मक्खन, मधु, मद्य व मांस :

किसी गाँव में निर्बल अथवा वृद्ध भिक्षुओं ने स्थिरवास कर रखा हो अथवा कुछ समय के लिए मासकल्पी भिक्षुओं ने निवास किया हुआ हो और वहाँ ग्रामानुग्राम विचरते हुए अन्य भिक्षु अतिथि के रूप में आये हों जिन्हें देख कर पहले से ही वहां रहे हुए भिक्षु यों कहें कि हे श्रमणो! यह गाँव तो बहुत छोटा है अथवा घर-घर सूतक लगा हुआ है इसलिए आपलोग आस-पास के अमुक गांव में भिक्षा के लिए जाइए। वहाँ हमारे अमुक सम्बन्धी रहते हैं। आपको उनके यहाँ से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल, शहद, मद्य, मांस, जलेबी, श्रीखण्ड, पूड़ी आदि सब कुछ मिलेगा। आपको जो पसन्द हो वह लें। खा-पीकर पात्र साफ कर फिर यहाँ आ जावें। सूत्रकार कहते हैं कि भिक्षु को इस प्रकार भिक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिए। यहाँ जिन खाद्य पदार्थों के नाम गिनाये हैं उनमें मक्खन शहद, मद्य व मांस का भी समावेश है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन समय में कुछ भिक्षु मक्खन आदि लेते होंगे। यहाँ मक्खन, शहद, मद्य एवं मांस शब्द का कोई अन्य अर्थ नहीं है। वृत्तिकार स्वयं एतद्विषयक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि कोई भिक्षु अतिप्रमादी हो, खाने-पीने का बहुत लालची हो तो वह शहद, मद्य एवं मांस ले भी सकता है। अथवा कश्चित्

अतिप्रमादावष्टब्धः अत्यन्तगृध्नुतया मधु-मद्य-मांसानि अपि आश्रयेत् अतः तदुपादानम् (आचारांग-वृत्ति, पृ. ३०६)। वृत्तिकार ने इसका अपवाद-सूत्र के रूप में भी व्याख्यान किया है। मूलपाठ के सन्दर्भ को देखते हुए यह उत्सर्गसूत्र ही प्रतीत होता है, अपवादसूत्र नहीं।

सम्मिलित सामग्री :

भिक्षा के लिए जाते हुए बीच में खाई, गढ़ आदि आने पर उन्हें लांघ कर आगे न जाय। इसी प्रकार मार्ग में उन्मत्त सांड, भैंसा, घोड़ा, मनुष्य आदि होने पर उस ओर न जाय। भिक्षा के लिए गये हुए जैन भिक्षु आदि को भिक्षा देने वाला गृहपति यदि यों कहे कि हे आयुष्मान् श्रमणो! मैं अभी विशेष काम में व्यस्त हूँ। मैंने यह सारी भोजन-सामग्री आप सब को दे दी है। इसे आप लोग खा लीजिए अथवा आपस में बाँट लीजिए। ऐसी स्थिति में वह भोजन-सामग्री जैनभिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् कारणवशात् ऐसी सामग्री स्वीकार करनी पड़े तो ऐसा न समझे कि दाता ने यह सारी सामग्री मुझ अकेले को दे दी है अथवा मेरे लिए ही पर्याप्त है। उसे आपस में बांटते समय अथवा साथ में मिलकर खाते समय किसी प्रकार का पक्षपात अथवा चालाकी न करे। भिक्षा-ग्रहण का यह नियम औत्सर्गिक नहीं अपितु आपवादिक है। वृत्तिकार के अनुसार अमुक प्रकार के भिक्षुओं के लिए ही यह नियम है, सबके लिए नहीं।

ग्राह्य जल :

भिक्षु के लिए ग्राह्य पानी के प्रकार ये हैं: उत्स्वेदिम—पिसी हुई वस्तु को भिगोकर रखा हुआ पानी, संस्वेदिम—तिल आदि बिना पिसी वस्तु को धोकर रखा हुआ पानी, तण्डुलोदक—चावल का धोवन, तिलोदक—तिल का धोवन, तुषोदक—तुष का धोवन, यवोदक—यव का धोवन, आयाम—आचाम्ल—अवश्यान, आरनाल—कांजी, शुद्ध अचित्त—निर्जीव पानी, आम्रपानक—आम का पानक, द्राक्षा का पानी, बिल्व का पानी, अमचूर का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, बेर का पानी, आंवले का पानी, इमली का पानी इत्यादि।

भिक्षु पकाई हुई वस्तु ही भोजन के लिए ले सकता है, कच्ची नहीं। इन वस्तुओं में कंद, मूल, फल, फूल, पत्र आदि सबका समावेश है।

अग्राह्य भोजन :

कहीं पर अतिथि के लिए मांस अथवा मछली पकाई जाती हो अथवा तेल में पूए तले जाते हों तो भिक्षु लालचवश लेने न जाय। किसी रुग्ण भिक्षु के लिए उसकी आवश्यकता होने पर वैसा करने में कोई हर्ज नहीं। मूल सूत्र में एक जगह यह भी बताया गया है कि भिक्षु को अस्थिबहुल अर्थात् जिसमें हड्डी की बहुलता हो वैसा मांस व कंटकबहुल अर्थात् जिसमें कांटों की बहुलता हो वैसी मछली नहीं लेनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि आपको ऐसा मांस व मछली चाहिए ? तो भिक्षु कहे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और हड्डियाँ व कांटे न आवें इसका ध्यान रखो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि हड्डीवाला मांस व कांटोंवाली मछली दे तो उसे लेकर एकान्त में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठ कर मांस व मछली खाकर बची हुई हड्डियों व कांटों को निर्जीव स्थान में डाल दे। यहाँ भी मांस व मछली का स्पष्ट उल्लेख है। वृत्तिकार ने इस विषय में स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि इस सूत्र को आपवादिक समझना चाहिए। किसी भिक्षु को लूता अथवा अन्य कोई रोग हुआ हो और किसी अच्छे वैद्य ने उसके उपचार के हेतु बाहर लगाने के लिए मांस आदि की सिफारिश की हो तो भिक्षु आपवादिक रूप से वह ले सकता है। लगाने के बाद बचे हुए कांटों व हड्डियों को निर्दोष स्थान पर फेंक देना चाहिए। यहां वृत्तिकार ने मूल में प्रयुक्त 'भुज्' धातु का 'खाना' अर्थ न करते हुए 'बाहर लगाना' अर्थ किया है। यह अर्थ सूत्र के सन्दर्भ की दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वृत्तिकार ने अपने युग के अहिंसा-प्रधान प्रभाव से प्रभावित होकर ही मूल अर्थ में यत्र-तत्र इस प्रकार के परिवर्तन किए हैं।

शय्यैषणा :

शय्यैषणा नामक द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि जिस स्थान में गृहस्थ सकुटुम्ब रहते हों वहां भिक्षु नहीं रह सकता क्योंकि ऐसे स्थान में रहने से अनेक दोष लगते हैं। कई बार ऐसा होता है कि लोगों को इस मान्यता से कि ये श्रमण ब्रह्मचारी होते हैं अतः इनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान तेजस्वी होती है, कोई स्त्री अपने पास रहने वाले भिक्षु को कामदेव के पंजे में फँसा देती है जिससे उसे संयमभ्रष्ट होना पड़ता है। प्रस्तुत प्रकरण में मकान के प्रकार, मकानमालिकों के व्यवसाय, उनके आभूषण, उनके अभ्यंग के साधन,

उनके स्नान सम्बन्धी द्रव्य आदि का उल्लेख है। इससे प्राचीन समय के मकानों व सामाजिक व्यवसायों का कुछ परिचय मिल सकता है।

ईर्यापथ :

ईर्यापथ नामक तृतीय अध्ययन में भिक्षुओं के पाद-विहार, नौकारोहण, जलप्रवेश आदि का निरूपण किया गया है। ईर्यापथ शब्द बौद्ध-परम्परा में भी प्रचलित है। तदनुसार स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चार का ईर्यापथ में समावेश होता है। विनयपिटक में एतद्विषयक विस्तृत विवेचन है। विहार करते समय बौद्ध भिक्षु अपनी परम्परा के नियमों के अनुसार तैयार होकर चलता है, इसी का नाम ईर्यापथ है। दूसरे शब्दों में अपने समस्त उपकरण साथ में लेकर सावधानीपूर्वक गमन करने, शरीर के अवयव न हिलाने, हाथ न उछालने, पैर न पछाड़ने का नाम ईर्यापथ है। जैन परम्पराभिमत ईर्यापथ के नियमों के अनुसार भिक्षु को वर्षाऋतु में प्रवास नहीं करना चाहिए। जहाँ स्वाध्याय, शौच आदि के लिए उपयुक्त स्थान न हो, संयम की साधना के लिए यथेष्ट उपकरण सुलभ न हों, अन्य श्रमण, ब्राह्मण, याचक आदि बड़ी संख्या में आये हुए हों अथवा आने वाले हों वहाँ भिक्षु को वर्षावास नहीं करना चाहिए। वर्षाऋतु बीत जाने पर व हेमन्त ऋतु आने पर मार्ग निर्दोष हो गये हों—जीवयुक्त न रहे हों तो भिक्षु को विहार कर देना चाहिए। चलते हुए पैर के नीचे कोई जीव-जन्तु मालूम पड़े तो पैर को ऊँचा रखकर चलना चाहिए, संकुचित कर चलना चाहिए, टेढ़ा रखकर चलना चाहिए, किसी भी तरह चलकर उस जीव की रक्षा करनी चाहिए। विवेकपूर्वक नीची नजर रखकर सामने चार हाथ भूमि देखते हुए चलना चाहिए। वैदिक परम्परा व बौद्ध परंपरा के भिक्षुओं के लिए भी प्रवास करते समय इसी प्रकार से चलने की प्रक्रिया का विधान है। मार्ग में चोरों के विविध स्थान, म्लेच्छों—बर्बर, शबर, पुलिंद, भील आदि के निवासस्थान आवें तो भिक्षु को उस ओर विहार नहीं करना चाहिए क्योंकि ये लोग धर्म से अनभिज्ञ होते हैं तथा अकालभोजी, असमय में घूमने वाले, असमय में जगने वाले एवं साधुओं से द्वेष रखने वाले होते हैं। इसी प्रकार भिक्षु राजा-रहितराज्य, गणराज्य (अनेक राजाओं वाला राज्य), अल्पवयस्कराज्य (कम उम्र वाले राजा का राज्य), द्विराज्य (दो राजाओं का संयुक्त राज्य) एवं अशान्त राज्य (एक-दूसरे का विरोधी राज्य) की ओर भी विहार न करे क्योंकि ऐसे राज्यों में जाने से संयम की विराधना होने का भय रहता है। जिन गांवों की दूरी बहुत अधिक हो अर्थात् जहां दिन भर चलते रहने पर भी एक गांव से दूसरे

गांव न पहुंचा जाता हो उस ओर विहार करने का भी निषेध किया गया है। मार्ग में नदी आदि आने पर उसे नाव की सहायता के बिना पार न कर सकने की स्थिति में ही भिक्षु नाव का उपयोग करे, अन्यथा नहीं। पानी में चलते समय अथवा नाव से पानी पार करते समय पूरी सावधानी रखे। यदि दो-चार कोस के घेरे में भी स्थलमार्ग हो तो जलमार्ग से न जाय। नाव में बैठने पर नाविक द्वारा किसी प्रकार की सेवा मांगी जाने पर न दे किन्तु मौनपूर्वक ध्यान परायण रहे। कदाचित् नाव में बैठे हुए लोग उसे पकड़ कर पानी में फेंकने लगें तो वह उन्हें कहे कि आप लोग ऐसा न करिये। मैं खुद ही पानी में कूद जाता हूं। फिर भी यदि लोग उसे पकड़ कर फेंक दें तो समभावपूर्वक पानी में गिर जाय एवं तैरना आता हो तो शान्ति से तैरते हुए बाहर निकल जाय। विहार करते हुए मार्ग में चोर मिलें और भिक्षु से कहें कि ये कपड़े हमें दे दो तो वह उन्हें कपड़े न दे। छीनकर ले जाने की स्थिति में दयनीयता न दिखावे और न किसी से किसी प्रकार की शिकायत ही करे।

भाषाप्रयोग :

भाषाजात नामक चतुर्थ अध्ययन में भिक्षु की भाषा का विवेचन है। भाषा के विविध प्रकारों में से किस प्रकार की भाषा का प्रयोग भिक्षु को करना चाहिए, किसके साथ कैसी भाषा बोलनी चाहिए, भाषा-प्रयोग में किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—इन सब पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वस्त्रधारण :

वस्त्रैषणा नामक पंचम प्रकरण में भिक्षु के वस्त्रग्रहण व वस्त्रधारण का विचार है। जो भिक्षु तरुण हो, बलवान् हो, रुग्ण न हो उसे एक वस्त्र धारण करना चाहिए, दूसरा नहीं। भिक्षुणी को चार संघाटियां धारण करनी चाहिए जिनमें से एक दो हाथ चौड़ी हो, दो तीन हाथ चौड़ी हों और एक चार हाथ चौड़ी हो। श्रमण किस प्रकार के वस्त्र धारण करे ? जंगिय—ऊँट आदि की ऊन से बना हुआ, भंगिय—द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की लार से बना हुआ, साणिय—सनकी छाल से बना हुआ, पोत्तग—तालपत्र के पत्तों से बना हुआ, खोमिय—कपास का बना हुआ एवं तूलकड—आक आदि की रुई से बना हुआ वस्त्र श्रमण काम में ले सकता है। पतले, सुनहले, चमकते एवं बहुमूल्य वस्त्रों का उपयोग श्रमण के लिए वर्जित है। ब्राह्मणों के वस्त्र के उपयोग के विषय में मनुस्मृति (अ० २, श्लो० ४०-४१) में एवं बौद्ध श्रमणों के वस्त्रोपयोग के सम्बन्ध में विनयपिटक

(पृ० २७५) में प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मणों के लिए निम्नोक्त छः प्रकार के वस्त्र अनुमत हैं : कृष्णमृग, रुरु (मृगविशेष) एवं छाग (बकरा) का चमड़ा, सन, क्षुमा (अलसी) एवं मेष (भेड़) के लोम से बना वस्त्र। बौद्ध श्रमणों के लिए निम्नोक्त छः प्रकार के वस्त्र विहित हैं : कौशेय—रेशमी वस्त्र, कंबल, कोजव—लंबे बाल वाला कंबल, क्षौम—अलसी की छाल से बना हुआ वस्त्र, शाण—सन की छाल से बना हुआ वस्त्र, भंग—भंग की छाल से बना हुआ वस्त्र। जैन भिक्षुओं के लिए जंगिय आदि उपर्युक्त छः प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए बहुमूल्य वस्त्र न लेने के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं है। जैन श्रमणों के लिए कंबल, कोजव एवं बहुमूल्य वस्त्र के उपयोग का स्पष्ट निषेध है।

पात्रैषणा :

पात्रैषणा नामक षष्ठ अध्ययन में बताया गया है कि तरुण, बलवान् एवं स्वस्थ भिक्षु को केवल एक पात्र रखना चाहिए। यह पात्र अलाबु, काष्ठ अथवा मिट्टी का हो सकता है। बौद्ध श्रमणों के लिए मिट्टी व लोहे के पात्र का उपयोग विहित है, काष्ठादि के पात्र का नहीं।

अवग्रहैषणा :

अवग्रहैषणा नामक सप्तम अध्ययन में अवग्रहविषयक विवेचन है। अवग्रह अर्थात् किसी के स्वामित्व का स्थान। निर्ग्रन्थ भिक्षु किसी स्थान में ठहरने के पूर्व उसके स्वामी की अनिवार्यरूप से अनुमति ले। ऐसा न करने पर उसे अदत्तादान—चोरी करने का दोष लगता है।

मलमूत्रविसर्जन :

द्वितीय चूलिका के उच्चार-प्रस्रवणनिक्षेप नामक दसवें अध्ययन में बताया गया है कि भिक्षु को अपना टट्टी-पेशाब कहाँ व कैसे डालना चाहिए ? ग्रंथ की योजना करने वाले ज्ञानी एवं अनुभवी पुरुष यह जानते थे कि यदि मलमूत्र उपयुक्त स्थान पर न डाला गया तो लोगों के स्वास्थ्य को हानि होने के साथ ही साथ अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचेगा एवं जीवहिंसा में वृद्धि होगी। जहाँ व जिस प्रकार डालने से किसी भी प्राणी के जीवन की विराधना की आशंका हो वहाँ व उस प्रकार भिक्षु को मलमूत्रादिक नहीं डालना चाहिए।

शब्दश्रवण व रूपदर्शन :

आगे के दो अध्ययनों में बताया गया है कि किसी भी प्रकार के मधुर शब्द सुनने की भावना से अथवा कर्कश शब्द न सुनने की इच्छा से भिक्षु को गमनागमन

नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि वैसे शब्द सुनने हो पड़ें तो समभावपूर्वक सुनना व सहन करना चाहिए। यही बात मनोहर व अमनोहर रूपादि के विषय में भी है। इन अध्ययनों में सूत्रकार ने विविध प्रकार के शब्दों व रूपों पर प्रकाश डाला है।

परक्रियानिषेध :

इनसे आगे के दो अध्ययनों में भिक्षु के लिए परक्रिया अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया, यथा शृङ्गार, उपचार आदि स्वीकार करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार भिक्षु-भिक्षु के बीच की अथवा भिक्षुणी-भिक्षुणी के बीच की परक्रिया भी निषिद्ध है।

महावीर-चरित :

भावना नामक तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर का चरित्र है। इसमें भगवान् का स्वर्गच्यवन, गर्भापहार, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान एवं निर्वाण वर्णित है। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन हस्तोतरा नक्षत्र में भारतवर्ष के दक्षिण-ब्राह्मणकुंडपुर ग्राम में भगवान् स्वर्ग से मृत्युलोक में आये। तदनन्तर भगवान् के हितानुकम्पक देव ने उनके गर्भ को आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में उत्तर-क्षत्रियकुंडपुर ग्राम में रहने वाले ज्ञातक्षत्रिय काश्यप-गोत्रीय सिद्धार्थ की वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में बदला और त्रिशला के गर्भ को दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर ग्राम में रहने वाली जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में बदला। उस समय महावीर तीन ज्ञानयुक्त थे। नौ महीने व साढ़े सात दिन-रात बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। जिस रात्रि में भगवान् पैदा हुए उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव व देवियाँ उनके जन्मस्थान पर आये। चारों ओर दिव्य प्रकाश फैल गया। देवों ने अमृत की तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों व रत्नों की वर्षा की। भगवान् का सूतिकर्म देव-देवियों ने सम्पन्न किया। भगवान् के त्रिशला के गर्भ में आने के बाद सिद्धार्थ का घर धन, सुवर्ण आदि से बढ़ने लगा अतः मातापिता ने ज्ञातिभोजन कराकर खूब धूमधाम के साथ भगवान् का वर्धमान नाम रखा। भगवान् पांच प्रकार के अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, रूप व गंधमय कामभोगों का भोग करते हुए रहने लगे। भगवान् के तीन नाम थे : वर्धमान, श्रमण व महावीर। इनके पिता के भी तीन नाम थे : सिद्धार्थ, श्रेयांस व जसंस। माता के भी तीन नाम थे :

त्रिशला, विदेहदत्ता व प्रियकारिणी। इनके पितृव्य अर्थात् चाचा का नाम सुपार्श्व, ज्येष्ठ भ्राता का नाम नंदिवर्धन, ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना व भार्या का नाम यशोदा था। इनकी पुत्री के दो नाम थे: अनवद्या व प्रियदर्शना।[1] इनकी दौहित्री के भी दो नाम थे: शेषवती व यशोमती। इनके मातापिता पार्श्वापत्य अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। वे दोनों श्रावक धर्म का पालन करते थे। महावीर तीस वर्ष तक सागारावस्था में रहकर मातापिता के स्वर्गवास के बाद अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर समस्त रिद्धिसिद्धि का त्याग कर अपनी संपत्ति को लोगों में बांट कर हेमन्त ऋतु की मृगशीर्ष—अगहन कृष्णा दशमी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में अनगार वृत्ति वाले हुए। उस समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान् महावीर से कहा कि भगवन्! समस्त जीवों के हितरूप तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। बाद में चारों प्रकार के देवों ने आकर उनका दीक्षा-महोत्सव किया। उन्हें शरीर पर व शरीर के नीचे के भाग पर फूंक मारते ही उड़ जाय ऐसा पारदर्शक हंसलक्षण वस्त्र पहनाया, आभूषण पहनाये और पालकी में बैठा कर अभिनिष्क्रमण-उत्सव किया। भगवान् पालकी में सिंहासन पर बैठे। उनके दोनों ओर शक्र और ईशान इन्द्र खड़े-खड़े चँवर डुलाते थे। पालकी के अग्रभाग अर्थात् पूर्वभाग को सुरों ने, दक्षिणभाग को असुरों ने, पश्चिमभाग को गरुडों ने एवं उत्तरभाग को नागों ने उठाया। उत्तरक्षत्रिय-कुण्डपुर के बीचोबीच होते हुए भगवान् ज्ञातखण्ड नामक उद्यान में आये। पालकी से उतर कर सारे आभूषण निकाल दिये। बाद में भगवान् के पास घुटनों के बल बैठे हुए वैश्रमण देवों ने हंसलक्षण कपड़े में वे आभूषण ले लिये। तदनन्तर भगवान् ने अपने दाहिने हाथ से सिर की दाहिनी ओर के व बायें हाथ से बायीं ओर के बालों का लोंच किया। इन्द्र ने भगवान् के पास घुटनों के बल बैठकर वज्रमय थाल में वे बाल ले लिये व भगवान् की अनुमति से उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल दिये। बाद में भगवान् ने सिद्धों को नमस्कार कर 'सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं' अर्थात् 'मेरे लिए सब प्रकार का पापकर्म अकरणीय है', इस प्रकार का सामायिकचारित्र स्वीकार किया। जिस समय भगवान् ने यह चारित्र स्वीकार किया उस समय देवपरिषद् एवं मनुष्यपरिषद् चित्रवत्

---

[1] ज्येष्ठ भगिनी व पुत्री के नामों में कुछ गड़बड़ी हुई मालूम होती है। विशेषावश्यक-भाष्यकार ने (गा. २३०७) महावीर की पुत्री का नाम ज्येष्ठा, सुदर्शना व अनवद्यांगी बताया है जब कि आचारांग में महावीर की बहिन का नाम सुदर्शना तथा पुत्री का नाम अनवद्या व प्रियदर्शना बताया गया है।

स्थिर एवं शान्त हो गई। इन्द्र की आज्ञा से बजने वाले दिव्य बाजे शान्त हो गये। भगवान् द्वारा उच्चरित चारित्रग्रहण के शब्द सबने शान्तभाव से सुने। क्षायोपशमिक चारित्र स्वीकार करने वाले भगवान् को मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न हुआ। इस ज्ञानद्वारा वे ढाई द्वीप में रहे हुए व्यक्त मनवाले समस्त पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भावों को जानने लगे। बाद में दीक्षित हुए भगवान् को उनके मित्रजनों, ज्ञातिजनों स्वजनों एवं सम्बन्धीजनों ने विदाई दी। विदाई लेने के बाद भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की कि आज से बारह वर्ष पर्यन्त शरीर की चिन्ता न करते हुए देव, मानव, पशु एवं पक्षीकृत समस्त उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करूँगा, क्षमापूर्वक सहन करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वे मुहूर्त दिवस शेष रहने पर उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर से रवाना होकर कम्मारग्राम पहुँचे। तत्पश्चात् शरीर की किसी प्रकार की परवाह न करते हुए महावीर उत्तम संयम, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, त्याग एवं सन्तोषपूर्वक पांच समिति व तीन गुप्ति का पालन करते हुए, अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे एवं आने वाले उपसर्गों को शान्तिपूर्वक प्रसन्न चित्त से सहन करने लगे। इस प्रकार भगवान् ने बारह वर्ष व्यतीत किये। तेरहवां वर्ष लगने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन छाया के पूर्व दिशा की ओर मुड़ने पर अर्थात् अपराह्न में जिस समय महावीर जंभियग्राम के बाहर उज्जुवालिया नामक नदी के उत्तरी किनारे पर श्यामाक नामक गृहपति के खेत में व्यावृत्त नामक चैत्य के समीप गोदोहासन से बैठे हुए आतापना ले रहे थे, दो उपवास धारण किये हुए थे, सिर नीचे रख कर दोनों घुटने ऊँचे किये हुए ध्यान में लीन थे उस समय उन्हें अनन्त—प्रतिपूर्ण—समग्र—निरावरण केवलज्ञान-दर्शन हुआ।

अब भगवान् अर्हत्—जिन हुए, केवली—सर्वज्ञ—सर्वभावदर्शी हुए। देव, मनुष्य एवं असुरलोक के पर्यायों के ज्ञाता हुए। आगमन, गमन, स्थिति, च्यवन, उपपात, प्रकट, गुप्त, कथित, अकथित आदि समस्त क्रियाओं व भावों के द्रष्टा हुए, ज्ञाता हुए। जिस समय भगवान् केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हुए उस समय भवनपति आदि चारों प्रकार के देवों व देवियों ने आकर भारी उत्सव किया।

भगवान् ने अपनी आत्मा तथा लोक को सम्पूर्णतया देखकर पहले देवों को और बाद में मनुष्यों को धर्मोपदेश दिया। बाद में गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थों को भावनायुक्त पांच महाव्रतों तथा छः जीवनिकायों का स्वरूप समझाया। भावना नामक प्रस्तुत चूलिका में इन पांच महाव्रतों का स्वरूप

विस्तारपूर्वक समझाया गया है। साथ ही प्रत्येक व्रत की पांच-पांच भावनाओं का स्वरूप भी बताया गया है।

ममत्वमुक्ति :

अन्त में विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका में ममत्वमूलक आरंभ और परिग्रह के फल की मीमांसा करते हुए भिक्षु को उनसे दूर रहने को कहा गया है। उसे पर्वत की भांति निश्चल व दृढ़ रह कर सर्प की केंचुली की भांति ममत्व को उतार कर फेंक देना चाहिए।

वीतरागता एवं सर्वज्ञता :

पातंजल योगसूत्र में यह बताया गया है कि अमुक भूमिका पर पहुँचे हुए साधक को केवलज्ञान होता है और वह उस ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों एवं समस्त घटनाओं को जान लेता है। इस परिभाषा के अनुसार भगवान् महावीर को भी केवली, सर्वज्ञ अथवा सर्वदर्शी कहा जा सकता है। किन्तु साधक-जीवन में प्रधानता एवं महत्ता केवलज्ञान-केवलदर्शन की नहीं है अपितु वीतरागता, वीत-मोहता, निरास्रवता, निष्कषायता की है। वीतरागता की दृष्टि से ही आचार्य हरिभद्र ने कपिल और सुगत को भी सर्वज्ञ के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् महावीर को ही सर्वज्ञ मानना व किसी अन्य को सर्वज्ञ न मानना ठीक नहीं। जिसमें वीतरागता है वह सर्वज्ञ है—उसका ज्ञान निर्दोष है। जिसमें सरागता है वह अल्पज्ञ है—उसका ज्ञान सदोष है।

इस प्रकार आचारांग की समीक्षा पूरी करने के बाद अब द्वितीय अंग सूत्र-कृतांग की समीक्षा प्रारम्भ की जाती है। इस अंगसूत्र व आगे के अन्य अंगसूत्रों की समीक्षा उतने विस्तार से न हो सकेगी जितने विस्तार से आचारांग की हुई है और न वैसा कोई निश्चित विवेचना-क्रम ही रखा जा सकेगा।

सूत्रकृतांग

पुण्डरीक

क्रियास्थान

बौद्ध दृष्टि से हिंसा

आहारपरिज्ञा

प्रत्याख्यान

आचारश्रुत

आर्द्रकुमार

नालंदा

उदय पेढालपुत्त

चतुर्थ प्रकरण

सूत्रकृतांग

समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग[1] का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें स्वसमय—स्वमत, परसमय—परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर,

---

1 (अ) निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१७; गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५०.

(आ) शीलांक, हर्षकुल व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६.

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series, Vol. 45, Oxford, 1895.

(ई) हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे० स्था० जैन कॉन्फरेंस, बम्बई, सन् १९३८.

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(ऊ) निर्युक्तिसहित—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १९२८.

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद.

(ए) प्रथम श्रुतस्कन्ध शीलांककृत टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ—अम्बिकादत्त ओझा, महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, वि० सं० १९९३-१९९५; द्वितीय श्रुतस्कन्ध हिन्दी अनुवादसहित—अम्बिकादत्त ओझा, बेंगलोर, वि० सं० १९९७.

निर्जरा, बंध, मोक्ष आदि तत्वों के विषय में निर्देश है, नवदीक्षितों के लिए बोधवचन हैं, एक सौ अस्सी क्रियावादी मतों, चौरासी अक्रियावादी मतों, सड़सठ अज्ञानवादी मतों व बत्तीस विनयवादी मतों इस प्रकार सब मिलाकर तीन सौ तिरसठ अन्य दृष्टियों अर्थात् अन्ययूथिक मतों की चर्चा है। इसमें सदृष्टान्त वर्णित सूत्रार्थ मोक्षमार्ग के प्रकाशक हैं। सूत्रकृतांग के इस सामान्य विषयवर्णन के साथ ही साथ समवायांग (तेईसवें समवाय) में इसके तेईस अध्ययनों के विशेष नामों का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार श्रमणसूत्र में भी इस अंग के तेईस अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह व द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात। इसमें अध्ययनों के नाम नहीं दिये गये हैं।

नंदिसूत्र में बताया गया है कि सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक जीव, अजीव, स्वसमय एवं परसमय का निरूपण है तथा क्रियावादी आदि तीन सौ तिरसठ पाखण्डियों अर्थात् अन्य मतावलम्बियों की चर्चा है।

राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प्य तथा अकल्प्य का विवेचन है; छेदोपस्थापना, व्यवहारधर्म एवं क्रियाओं का प्ररूपण है।

धवला के अनुसार सूत्रकृतांग का विषयनिरूपण राजवार्तिक के ही समान है। इसमें स्वसमय एवं परसमय का विशेष उल्लेख है।

जयधवला में कहा गया है कि सूत्रकृतांग में स्वसमय, परसमय, स्त्री-परिणाम, क्लीबता, अस्पष्टता मन की बातों की अस्पष्टता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालनसुख—स्त्री संग का सुख, पुंस्कामिता—पुरुषेच्छा आदि की चर्चा है।

अंगपण्णत्ति में बताया है कि सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, निर्विघ्न अध्ययन, सर्वसत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्मक्रिया, छेदोपस्थापन, यति-समय, परसमय एवं क्रियाभेद का निरूपण है।

प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी नामक पुस्तक में 'तेवीसाए सुद्दयडज्झाणेसु' ऐसा उल्लेख है जिसका अर्थ है कि सूत्रकृत के तेईस अध्ययन हैं। इस पाठ की प्रभाचन्द्रीय वृत्ति में इन तेईस अध्ययनों के नाम भी गिनाये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं: १. समय, २. वैतालीय, ३. उपसर्ग, ४. स्त्रीपरिणाम, ५. नरक, ६. वीरस्तुति, ७. कुशीलपरिभाषा, ८. वीर्य, ९. धर्म, १०. अग्र, ११. मार्ग, १२. समवसरण, १३. त्रिकालग्रंथहिद (?), १४. आत्मा, १५. तदित्थगाथा (?), १६. पुण्डरीक, १७. क्रियास्थान, १८. आहारकपरिणाम, १९, प्रत्याख्यान, २०, अनगारगुणकीर्ति, २१. श्रुत, २२. अर्थ, २३. नालंदा। इस प्रकार अचेलक परम्परा में भी सूत्रकृतांग

के तेईस अध्ययन मान्य हैं। इन नामों व सचेलक परम्परा के टीकाग्रंथ आवश्यक-वृत्ति (पृ. ६५१ व ६५८) में उपलब्ध नामों में थोड़ासा अन्तर है जो नगण्य है।

अचेलक परम्परा में इस अंग के प्राकृत में तीन नाम मिलते हैं: सुदयड, सूदयड और सूदयद। इनमें प्रयुक्त 'सुद' अथवा 'सूद' शब्द 'सूत्र' का एवं 'यड' अथवा 'यद' शब्द 'कृत' का सूचक है। इस अंग के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर 'सूत्रकृत' ही प्रसिद्ध है। पूज्यपाद स्वामी से लेकर श्रुतसागर तक के सभी तत्त्वार्थवृत्तिकारों ने 'सूत्रकृत' नाम का ही उल्लेख किया है। सचेलक परम्परा में इसके लिए सूतगड, सूयगड और सुत्तकड—ये तीन प्राकृत नाम प्रसिद्ध हैं। इनका संस्कृत रूपान्तर भी हरिभद्र आदि आचार्यों ने 'सूत्रकृत' ही दिया है। प्राकृत में भी नाम तो एक ही है किन्तु उच्चारण एवं व्यंजनविकार की विविधता के कारण उसके रूपों में विशेषता आ गई है। अर्थबोधक संक्षिप्त शब्दरचना को 'सूत्र' कहते हैं। इस प्रकार की रचना जिसमें 'कृत' अर्थात् की गई है वह सूत्रकृत है। समवायांग आदि में निर्दिष्ट विषयों अथवा अध्ययनों में से सूत्रकृतांग की उपलब्ध वाचना में स्वमत तथा परमत की चर्चा प्रथमश्रुत स्कन्ध में संक्षेप में और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में स्पष्ट रूप से आती है। इसमें जीवविषयक निरूपण भी स्पष्ट है। नवदीक्षितों के लिए उपदेशप्रद बोधवचन भी वर्तमान वाचना में स्पष्ट रूप में उपलब्ध हैं। तीन सौ तिरसठ पाखंडमतों की चर्चा के लिए इस सूत्र में एक पूरा अध्ययन ही है। अन्यत्र भी प्रसंगवशात् भूतवादी, स्कन्धवादी, एकात्म-वादी, नियतिवादी आदि मतावलम्बियों की चर्चा आती है। जगत् की रचना के विविध वादों की चर्चा तथा मोक्षमार्ग का निरूपण भी प्रस्तुत वाचना में उपलब्ध है। यत्र-तत्र ज्ञान, आस्रव, पुण्य-पाप आदि विषयों का निरूपण भी इसमें है। कल्प्य-अकल्प्यविषयक श्रमणसम्बन्धी आचार-व्यवहार की चर्चा के लिए भी वर्तमान वाचना में अनेक गाथाएँ तथा विशेष प्रकरण उपलब्ध हैं। धर्म एवं क्रिया-स्थान नामक विशेष अध्ययन भी मौजूद हैं। अयथवलोक्त स्त्रीपरिणाम से लेकर पुंस्कामिता तक के सब विषय उपसर्गपरिज्ञा तथा स्त्रीपरिज्ञा नामक अध्ययनों में स्पष्टतया उपलब्ध हैं। इस प्रकार अचेलक तथा सचेलक ग्रंथों में निर्दिष्ट सूत्रकृतांग के विषय अधिकांशतया वर्तमान वाचना में विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि किसी विषय का निरूपण प्रधानतया है तो किसी का गौणतया।

सूत्रकृत की रचना :

सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का नाम समय है। 'समय' शब्द सिद्धान्त का सूचक है। इस अध्ययन में स्वसिद्धान्त के निरूपण के

साथ ही साथ परमत का भी निरसन की दृष्टि से निरूपण किया गया है। इसका प्रारंभ 'बुज्झिज्ज' शब्द से शुरू होने वाले पद्य से होता है:

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ॥

इस गाथा के उत्तरार्ध में प्रश्न है कि भगवान् महावीर ने बंधन किसे कहा है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में यह समग्र द्वितीय अंग बनाया गया है। निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिनवर का वचन सुनकर अपने क्षयोपशम द्वारा शुभ अभिप्रायपूर्वक गणधरों ने जिस 'सूत्र' की रचना 'कृत' अर्थात् की उसका नाम सूत्रकृत है। यह सूत्र अनेक योगंधर साधुओं को स्वाभाविक भाषा अर्थात् प्राकृतभाषा में प्रभाषित अर्थात् कहा गया है।[1] इस प्रकार निर्युक्तिकार ने ग्रंथकार के रूप में किसी विशेष व्यक्ति का नाम नहीं बताया है। वक्ता के रूप में जिनवर का तथा श्रोता के रूप में गणधरों का निर्देश किया है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने अपनी पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुए वक्ता के रूप में सुधर्मा का एवं श्रोता के रूप में जंबू का नामोल्लेख किया है। इस ग्रंथ में बुद्ध के मत के उल्लेख के साथ बुद्ध का नाम भी स्पष्ट आता है एवं बुद्धोपदिष्ट एक रूपककथा का भी अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। इससे कल्पना की जा सकती है कि जब बौद्ध पिटकों के संकलन के लिए संगीतिकाएँ हुईं, उनकी वाचना निश्चित हुई तथा बुद्ध के विचार लिपिबद्ध हुए वह काल इस सूत्र के निर्माण का काल रहा होगा। आचारांग मे भी अन्यमतों का निर्देश है किन्तु एतद्विषयक जैसा उल्लेख सूत्रकृतांग में है वैसा आचारांग में नहीं। सूत्रकृतांग में इन मत-मतान्तरों का निरसन 'ये मत मिथ्या हैं, ये मतप्रवर्तक आरंभी हैं, प्रमादी हैं, विषयासक्त हैं' इत्यादि शब्दों द्वारा किया गया है। इसके लिए किसी विशेष प्रकार का तर्कशैली का प्रयोग प्रायः नहींवत् है।

नियतिवाद तथा आजीविक सम्प्रदाय:

सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक के प्रारंभ में नियतिवाद का उल्लेख है। वहां मूल में इस मत के पुरस्कर्ता गोशालक का कहीं भी नाम नहीं है। उपासकदशा नामक सप्तम अंग में गोशालक तथा उसके मत नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख है।[2] उसमें बताया गया है कि गोशालक के

---

[1] सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गा. १८-१९.
[2] देखिये—सद्दालपुत्त एवं कुंडकोलियसम्बन्धी प्रकरण

मतानुसार बल, वीर्य, उत्थान, कर्म आदि कुछ नहीं है। सब भाव सर्वदा के लिए नियत हैं। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय आदि में तथा जैन ग्रंथ व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानांग, समवायांग, औपपातिक आदि में भी आजीविक मत-प्रवर्तक नियतिवादी गोशालक का (नामपूर्वक अथवा नामरहित) वर्णन उपलब्ध है। इस वर्णन का सार यह है कि गोशालक ने एक विशिष्ट पंथप्रवर्तक के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। वह विशेषतया श्रावस्ती की अपनी अनुयायिनी हाला नामक कुम्हारिन के यहां तथा इसी नगरी के आजीविक मठ में रहता था। गोशालक का आजीविक सम्प्रदाय राजमान्य भी हुआ। प्रियदर्शी राजा अशोक एवं उसके उत्तराधिकारी महाराजा दशरथ ने आजीविक सम्प्रदाय को दान दिया था, ऐसा उल्लेख शिलालेखों में आज भी उपलब्ध है। बौद्ध ग्रंथ महावंश की टीका में यह बताया गया है कि अशोक का पिता बिन्दुसार भी आजीविक सम्प्रदाय का आदर करता था। छठी शताब्दी में हुए वराहमिहिर के ग्रंथ में भी आजीविक भिक्षुओं का उल्लेख है। बाद में इस सम्प्रदाय का धीरे-धीरे ह्रास होता गया व अन्त में किसी अन्य भारतीय सम्प्रदाय में विलयन हो गया। फिर तो यहां तक हुआ कि आजीविक सम्प्रदाय, त्रैराशिकमत और दिगम्बर परम्परा—इन तीनों के बीच कोई भेद ही नहीं रहा। [1]शीलांकदेव व अभयदेव[2] जैसे विद्वान् वृत्तिकार तक इनकी भिन्नता न बता सके। कोशकार[3] हलायुध (दसवीं शताब्दी) ने इन तीनों को पर्यायवाची माना है। दक्षिण के तेरहवीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों में ये तीनों अभिन्न रूप से उल्लिखित हैं।

सांख्यमत :

प्रस्तुत सूत्र में अनेक मत-मतान्तरों की चर्चा आती है। इनके पुरस्कर्ताओं के विषय में नामपूर्वक कोई खास वर्णन मूल में उपलब्ध नहीं है। इन मतों में

---

1 "स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिकः निराकृतः। पुनः अन्येन प्रकारेण आह"—सूत्रकृत० २, श्रुत० ६ आर्द्रकीय अध्ययन गाथा १४ वीं का अवतरण—शीलाङ्कवृत्ति, पृ० ३९३.

2 "ते एव च आजीविका त्रैराशिका भणिताः"—समवायवृत्ति—अभयदेव, पृ० १३०.

3 "रजोहरणधारी च श्वेतवासाः सिताम्बरः ॥ ३४४ ॥
नाग्नाटो दिग्वासा क्षपणः श्रमणश्च जीवको जैनः।
आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः ॥ ३४५ ॥
—हलायुधकोश, द्वितीयकांड.

से बौद्धमत व नियतिवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों के प्रवर्तक भगवान् महावीर के समकालीन थे। सांख्यसम्मत आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं :

> जे ते उ वाइणो एवं लोगे तेसिं कओ सिया ?
> तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभनिस्सिआ ॥

अर्थात् इन वादियों के मतानुसार संसार की जो व्यवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसकी संगति कैसे होगी ? ये अंधकार से अंधकार में जाते हैं, मंद हैं, आरंभ-समारंभ में डूबे हुए हैं।

उपर्युक्त गाथा के शब्दों से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर के समय में अथवा सूत्रयोजक के युग में सांख्यमतानुयायी अहिंसाप्रधान अथवा अपरिग्रहप्रधान नहीं दिखाई देते थे।

अज्ञानवाद :

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की छठी गाथा से जिस वाद की चर्चा प्रारंभ होती है व चौदहवीं गाथा से जिसका खण्डन शुरू होता है उसे चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने 'अज्ञानवाद' नाम दिया है। निर्युक्तिकार ने कहा है कि नियतिवाद के बाद क्रमशः अज्ञानवाद, ज्ञानवाद एवं बुद्ध के कर्मचय की चर्चा आती है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट ज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि अथवा वृत्ति में कहीं भी दिखाई नहीं देती। समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में जिन मुख्य चार वादों का उल्लेख है उनमें अज्ञानवाद का भी समावेश है। इस वाद का स्वरूप वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है कि 'अज्ञानमेव श्रेयः' अर्थात् अज्ञान ही कल्याणरूप है। अतः कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने से उलटी हानि होती है। ज्ञान न होने पर बहुत कम हानि होती है। उदाहरणार्थ जानकर अपराध किये जाने पर अधिक दण्ड मिलता है जब कि अज्ञानवश अपराध होने की स्थिति में दण्ड बहुत कम मिलता है अथवा बिलकुल नहीं मिलता। वृत्तिकार शीलांकाचार्यनिर्दिष्ट अज्ञानवाद का यह स्वरूप मूल गाथा में दृष्टिगोचर नहीं होता। यह गाथा इस प्रकार है :

> माहणा समणा एगे सव्वे नाणं सयं वए।
> सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणंति किंचण ॥
>
> —अ. १, उ. २, गा. १४.

अर्थात् कई एक ब्राह्मण कहते हैं कि वे स्वयं ज्ञान को प्रतिपादित करते हैं, इस समस्त संसार में उनके अतिरिक्त कोई कुछ भी नहीं जानता।

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कुछ ब्राह्मणों एवं श्रमणों की दृष्टि से उनके अतिरिक्त सारा जगत् अज्ञानी है। यही अज्ञानवाद की भूमिका है। इसमें से 'अज्ञानमेव श्रेयः' का सिद्धान्त वृत्तिकार ने कैसे निकाला ? भगवान् महावीर के समकालीन छः तीर्थंकरों में से संजयबेलट्ठिपुत्त नामक एक तीर्थंकर अज्ञानवादी था। संभवतः उसी के मत को ध्यान में रखते हुए उक्त गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चयता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्यदर्शन के अज्ञेयवाद अथवा संशयवाद से मिलता-जुलता है।

कर्मचयवाद :

द्वितीय उद्देशक के अन्त में भिक्षुसमय अर्थात् बौद्धमत के कर्मचयवाद की चर्चा है। यहाँ बौद्धदर्शन को सूत्रकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने क्रियावादी अर्थात् कर्मवादी कहा है। सूत्रकार कहते हैं कि इस दर्शन की कर्मविषयक मान्यता दुःखस्कन्ध[1] को बढ़ाने वाली है :

अधावरं पुरक्खायं किरियावादिदरिसणं।
कम्मचिंतापणट्ठाणं दुक्खक्खंधविवद्धणं ॥२४॥

चूर्णिकार ने 'दुक्खक्खंध' का अर्थ 'कर्मसमूह' किया है एवं वृत्तिकार ने 'असातोदयपरम्परा' अर्थात् 'दुःखपरम्परा'। दोनों की व्याख्या में कोई तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि दुःखपरम्परा कर्मसमूहजन्य ही होती है। इस प्रसंग पर सूत्रकार ने बौद्धमतपरक एक गाथा इस आशय की भी दी है कि अमुक प्रकार की आपत्ति में फँसा हुआ असंयमी पिता यदि लाचारीवश अपने पुत्र को मार कर खा-जाय तो भी वह कर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार के मांस-सेवन से मेधावी अर्थात् संयमी साधु भी कर्मलिप्त नहीं होता। गाथा इस प्रकार है :

पुत्तं पिता समारंभ आहारट्ठमसंजते।
भुंजमाणो वि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते[2] ॥ २८ ॥

---

[1] बौद्धसम्मत चार आर्यसत्यों में से एक.

[2] चूर्णिकारसम्मत पाठ.

अथवा

पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी कम्मुणा नोवलिप्पइ[1] ।। २८ ।।

उपरोक्त ८ वीं गाथा में विशेष प्रकार के अर्थ का सूचक पाठभेद बहुत समय से चला आ रहा है, उस पाठ भेद के अनुसार गाथा के अर्थ में बड़ी भिन्नता होती है। देखिए चूर्णिकार का पाठ 'पि ता' ऐसा है, उसमें दो पद हैं तथा 'पिता' का अर्थ इस पाठ में नहीं है। इस पाठ के अनुसार 'पुत्र का भी वध करके' ऐसा अर्थ होता है। जब कि वृत्तिकार का पाठ 'पिया' अथवा पिता ऐसा है, इस पाठ में एक ही पद है 'पिया' अथवा 'पिता'। इस पाठ के अनुसार 'पिता पुत्र का वध करके' ऐसा अर्थ होता है और वृत्तिकार ने भी इसी अर्थ का निरूपण किया है, दो पद वाला पाठ जितना प्राचीन है उतना एक पद वाला 'पिता' पाठ प्राचीन नहीं। 'पि ता' ऐसा पृथक्-पृथक् न पढ कर 'पिता' ऐसा पढ़ने से संभव है कि ऐसा पाठ भेद हुआ हो। चूर्णिकार और वृत्तिकार दोनों ही पुत्र के वध करने इस आशय में एक मत हैं। चूर्णिकार 'पिता' का अर्थ स्वीकार नहीं करते और वृत्तिकार 'पिता' का अर्थ स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। पदच्छेद न करने की दृष्टि से ऐसा पाठभेद हो गया है परन्तु विशेष विचार करने से मालूम होता है कि बौद्धत्रिपिटक के अन्तर्गत आए हुए संयुत्तनिकाय में एक ऐसी रूपक कथा आती हैं जिसमें पिता पुत्र का वध करके उसका भोजन मे उपयोग करता है। संभव है कि वृत्तिकार की स्मृति में संयुत्तनिकाय की वह कथा रही हो और उसी कथा का आशय स्मृतिपथ में रखकर उन्होंने 'पिता पुत्र का वध करके' इस प्रकार के अर्थ का निरूपण किया हो।

भगवान् बुद्ध ने अपने संघ के भिक्षुओं को किस दृष्टि से और किस उद्देश से भोजन करना चाहिए इस बात को समझाने के लिए यह कथा कही है। कथा का सार यह है :—

एक आदमी अपने इकलौते पुत्र के साथ प्रवास कर रहा है, साथ में पुत्र की माता भी है। प्रवास करते-करते वे तीनों ऐसे दुर्गम गहन जंगल में आ पहुँचते हैं जहाँ शरीर के निर्वाह योग्य कुछ भी प्राप्य न था। बिना भोजन शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता और बिना जीवन-निर्वाह के यह शरीर काम भी नहीं दे सकता।

[1] वृत्तिकारसम्मत पाठ.

अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि उनसे चला ही नहीं जाता था और इस जंगल में तीनों ही खतम हो जायेंगे। तब पुत्र ने पिता से प्रार्थना की कि पिता जी, मुझे मार कर भोजन करें और शरीर को गतिशील बना लें। आप हैं तो सारा परिवार है, आप नहीं रहेंगे तो हमारा परिवार कैसे जीवित रह सकता है? अतः बिना संकोच आप अपने पुत्र के मांस का भोजन करके इस भयानक अरण्य को पार कर जायें और सारे परिवार को जीवित रखें। तब पिता ने पुत्र के मांस का भोजन में उपयोग किया और उस अरण्य से बाहर निकल आए।

इस कथा को कह कर तथागत ने भिक्षुओं से पूछा कि हे भिक्षुओ! क्या पुत्र के मांस का भोजन में उपयोग करने वाले पिता ने अपने स्वाद के लिए ऐसा किया है? क्या अपने शरीर की शक्ति बढ़े, बल का संचय हो, शरीर का रूप-लावण्य और सौंदर्य बढ़े, इस हेतु से उसने अपने पुत्र के मांस का भोजन में उपयोग किया है?

तथागत के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भिक्षुओं ने कहा कि भदंत! नहीं, नहीं। उसने एकमात्र अटवी पार करने के उद्देश्य से शरीर में चलने का सामर्थ्य आ सके इसी कारण से अपने पुत्र के मांस का भोजन में उपयोग किया है। तब श्रीतथागत ने कहा — हे भिक्षुओ! तुमने घरबार छोड़ा है और संसाररूपी अटवी को पार करने के हेतु से ही भिक्षु-व्रत लिया है, तुम्हें संसाररूप भीषण जंगल पार कर निर्वाण लाभ करना है तो इसी एक निमित्त को लक्ष्य में रखकर भोजन-पान लेते रहो वह भी परिमित और धर्मप्राप्त तथा कालप्राप्त। मिले तो ठीक है, न मिले तो भी ठीक समझो। स्वाद के लालच से, शरीर में बल बढ़े, शक्ति का संचय हो तथा अपना रूप लावण्य तथा सौंदर्य बढ़ता रहे इस दृष्टि से खान-पान लोगे तो तुम भिक्षुक-धर्म से च्युत हो जाओगे और मोघभिक्षु—पिंडोलक भिक्षु हो जाओगे।

तथागत बुद्ध ने इस रूपक कथा द्वारा भिक्षुओं को यह समझाया है कि भिक्षुगण किस उद्देश से खान-पान लेवें। मालूम होता है कि समय बीतने पर इस कथा का आशय विस्मृत हो गया — स्मृति से बाहर चला गया और केवल शब्द का अर्थ ही ध्यान में रहा और इस अर्थ का ही मांसभोजन के समर्थन में लोग क्या भिक्षुगण भी उपयोग करने लग गए हों। इसी परिस्थिति को देख कर चूर्णिकार ने अपने तरीके से और वृत्तिकार ने अपने तरीके से इस गाथा का विवरण

किया है ऐसा मालूम पड़ता है। विसुद्धिमग्ग और महायान के शिक्षासमुच्चय में भी इसी बात का प्ररूपण किया गया है।

सूत्रकृत की उक्त गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार व वृत्तिकार में मतभेद है। चूर्णिकार के अनुसार किसी उपासक अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा अपने पुत्र को मारकर उसके मांस द्वारा तैयार किया गया भोजन भी यदि कोई मेधावी भिक्षु खाने के काम में ले तो वह कर्मलिप्त नहीं होता। हां, मारने वाला अवश्य पाप का भागी होता है। वृत्तिकार के अनुसार आपत्तिकाल में निरुपाय हो अनासक्त भाव से अपने पुत्र को मारकर उसका भोजन करनेवाला गृहस्थ एवं ऐसा भोजन करने वाला भिक्षु इन दोनों में से कोई भी पापकर्म से लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि कर्मबन्ध का कारण ममत्वभाव—आसक्ति—रागद्वेष—कषाय है, न कि कोई क्रियाविशेष।

ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अंगसूत्र में सुंसुमा नामक एक अध्ययन है जिसमें पूर्वोक्त संयुत्तनिकायादिप्रतिपादित रूपक के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि आपत्तिकाल में आपवादिक रूप से मनुष्य अपनी खुद की संतान का भी मांस भक्षण कर सकता है। यहाँ मृत संतान के मांसभक्षण का उल्लेख है न कि मारकर उसका मांस खाने का। इस चर्चा का सार केवल यही है कि अनासक्त होकर भोजन करने वाला अथवा अन्य प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त होने वाला कर्मलिप्त नहीं होता।

बुद्ध का शूकर-मांसभक्षण :

बौद्ध परम्परा में एक कथा ऐसी प्रचलित है कि खुद बुद्ध ने शूकरमद्दव अर्थात् सूअर का मांस खाया था।[1] सूअर का मांस खाते हुए भी बुद्ध पापकर्म से लिप्त नहीं हुए। ऐसा मालूम होता है कि उपर्युक्त गाथा में सूत्रकार ने बौद्धसम्मत कर्मचय का स्वरूप समझाते हुए इसी घटना का निर्देश किया है। यह कैसे? गाथा के प्रारम्भ में जो 'पुत्तं' पाठ है वह किसी कारण से विकृत हुआ मालूम पड़ता है। मेरी दृष्टि से यहां 'पोत्तिं' पाठ होना चाहिए। अमरकोश तथा अभिधानचिन्तामणि में पोत्री (प्राकृत पोत्ति) शब्द शूकर के पर्याय के रूप में सुप्रसिद्ध है। अथवा संस्कृत पोत्र (प्राकृत पुत्त)

---

१. देखिये—बुद्धचर्या, पृ ५३५.

शब्द शूकर के मुख का सूचक माना गया है। यदि ऐसा समझा जाय कि इसी अर्थ वाला पुत्त शब्द इस गाथा में प्रयुक्त हुआ है तो भी शूकर का अर्थ संगत हो जाता है। अतः इस 'पुत्तं' पाठको विकृत करने की जरूरत नहीं रहती। संशोधक महानुभाव इस विषय में जरूर विचार करें। इसी प्रकार उक्त गाथा में प्रयुक्त 'मेहावी' अथवा 'मेधावी' शब्द भगवान् बुद्ध का सूचक है। इस दृष्टि से यह मानना उपयुक्त प्रतीत होता है कि उक्त गाथा में कर्मबन्ध की चर्चा करते हुए बुद्ध के शूकर-मांसभक्षण का उल्लेख किया गया है। मेरी यह प्ररूपणा कहाँ तक सत्य है, इसका निर्णय गवेषणाशील विद्वज्जन ही करेंगे। उपर्युक्त गाथा के पहले की तीन गाथाओं में भी बौद्ध संमत कर्मबन्धन का ही स्वरूप बताया गया है।

हिंसा का हेतु :

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आने वाले आर्द्रकीय नामक छठे अध्ययन में आर्द्रकुमार नामक प्रत्येक बुद्ध के साथ होने वाले बौद्ध सम्प्रदाय के वादियों के वाद-विवाद का उल्लेख है। उसमें भी कर्मबन्धन के स्वरूप की ही चर्चा है। बौद्धमत के समर्थक कहते हैं कि मानसिक संकल्प ही हिंसा का कारण है। तिल अथवा सरसों की खली का एक पिण्ड पड़ा हो और कोई उसे पुरुष समझ कर उसका नाश करे तो हमारे मत में वह हिंसा के दोष से लिप्त होता है। इसी प्रकार अलाबु को कुमार समझ कर उसका नाश करने वाला भी हिंसा का भागी होता है। इससे विपरीत पुरुष को खली समझ कर एवं कुमार को अलाबु समझ कर उसका नाश करने वाला, प्राणिवध का भागी नहीं होता। इतना ही नहीं, इस प्रकार की बुद्धि से पकाया हुआ पुरुष का अथवा कुमार का मांस बुद्धों के भोजन के लिए विहित है। इस प्रकार पकाये हुए मांस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करते हैं और उसके द्वारा आरोप्प (आरोप्य) नामक देवयोनि में जन्म लेते हैं। बौद्धवादियों की इस मान्यता का प्रतीकार करते हुए आर्द्रकुमार कहते हैं कि खली को पुरुष समझना अथवा अलाबु को कुमार समझना या पुरुष को खली समझना अथवा कुमार को अलाबु समझना कैसे संभव है ? जो ऐसा कहते हैं और उस कथन को स्वीकार करते हैं वे अज्ञानी हैं। जो ऐसा समझ कर भिक्षुओं को भोजन करवाते हैं वे असंयत हैं, अनार्य हैं, रक्तपाणि हैं। वे औद्देशिक मांस का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद में आसक्त हैं। समस्त प्राणियों की रक्षा के लिए ज्ञातपुत्र

महावीर तथा उनके अनुयायी भिक्षु औद्देशिक भोजन का सर्वथा त्याग करते हैं। यह निर्ग्रन्थधर्म है।

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक की पहली ही गाथा में औद्देशिक भोजन का निषेध किया गया है। किसी भिक्षुविशेष अथवा भिक्षुसमूह के लिए बनाया जाने वाला भोजन, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि आर्हत मुनि के लिए अग्राह्य है। बौद्ध भिक्षुओं के विषय में ऐसा नहीं है। खुद भगवान् बुद्ध निमन्त्रण स्वीकार करते थे। वे एवं उनका भिक्षुसंघ उन्हीं के लिए तैयार किया गया निरामिष अथवा सामिष आहार ग्रहण करते थे तथा विहारों व उद्यानों का दान भी स्वीकार करते थे।

जगत्-कर्तृत्व :

प्रस्तुत उद्देशक की पांचवीं गाथा से जगत्कर्तृत्व की चर्चा शुरू होती है। इसमें जगत् को देवउत्त (देवउप्त) अर्थात् देव का बोया हुआ, बंभउत्त (ब्रह्मउप्त) अर्थात् ब्रह्मा का बोया हुआ, इस्सरेण कत (ईश्वरेण कृत) अर्थात् ईश्वर का बनाया हुआ, सयंभुणा कत (स्वयंभुना कृत) अर्थात् स्वयंभू का बनाया हुआ कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यह कथन महर्षियों का है: इति वुत्तं महेसिणा। चूर्णिकार 'महर्षि' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं: 'महऋषी नाम स एव ब्रह्मा अथवा व्यासादयो महर्षयः' अर्थात् महर्षि का अर्थ है ब्रह्मा अथवा व्यास आदि ऋषि। यहां छठी गाथा में जगत् को प्रधानकारणिक भी बताया गया है। प्रधान का अर्थ है सांख्यसम्मत प्रकृति। सातवीं गाथा में बताया गया है कि माररचित माया के कारण यह जगत् अशाश्वत है अर्थात् संसार का प्रलयकर्ता मार है। चूर्णिकार ने 'मार' का अर्थ 'विष्णु' बताया है जबकि वृत्तिकार ने मार' शब्द का 'यम' अर्थ किया है। आठवीं गाथा में जगत् को अंडकृत अर्थात् अंडे में से पैदा होने वाला बताया गया है: अंडकडे जगे। इन सब वादों का खण्डन करने के लिए सूत्रकार ने कोई विशेष तर्क प्रस्तुत न करते हुए केवल इतना ही कहा है कि ऐसा मानने वाले अज्ञानी हैं, असत्यभाषी हैं, तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। इन गाथाओं का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने सातवीं गाथा के बाद नागार्जुनीय पाठान्तर के रूप में एक नई गाथा का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है:

अतिवड्ढीयजीवा णं मही विण्णवते पभुं।
ततो से मायासंजुत्ते करे लोगस्सऽभिद्दवा ॥

अर्थात् पृथ्वी अपने ऊपर जीवों का भार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रभु से विनती करती है। इससे प्रभु ने माया की रचना की और उसके द्वारा लोक का विनाश किया।

यह मान्यता वैदिक परम्परा में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। पुराणों में तो इसका सुन्दर आलंकारिक वर्णन भी मिलता है। ग्यारहवीं व बारहवीं गाथा में गीता के अवतारवाद का निर्देश है। इन गाथाओं का आशय यह है कि आत्मा शुद्ध है फिर भी क्रीडा एवं द्वेष के कारण पुनः अपराधी अर्थात् रजोगुणयुक्त बनती है एवं शरीर धारण करती है। ईश्वर अपने धर्म की प्रतिष्ठा एवं दूसरे के धर्म की अप्रतिष्ठा देख कर लीला करता है तथा अपने धर्म की अप्रतिष्ठा एवं दूसरे के धर्म की प्रतिष्ठा देख कर उसके मन में द्वेष उत्पन्न होता है और वह अपने धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुणयुक्त होकर अवतार धारण करता है। अपना कार्य पूरा करने के बाद पुनः शुद्ध एवं निष्पाप होकर अपने वास्तविक रूप में अवस्थित होता है। धर्म का विनाश एवं अधर्म की प्रतिष्ठा देख कर ईश्वर के अवतार लेने की यह मान्यता ब्राह्मणपरम्परा में सुप्रतीत है।

संयमधर्म :

प्रथम अध्ययन के अन्तिम उद्देशक में निर्ग्रन्थ को संयमधर्म के आचरण का उपदेश दिया गया है और विभिन्न वादों में न फंसने को कहा गया है। तीसरी गाथा में यह बताया गया है कि कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार परिग्रह एवं आरंभ --आलंभन--हिंसा आत्मशुद्धि व निर्वाण के लिए हैं। निर्ग्रंथों को यह मत स्वीकार नहीं करना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि अपरिग्रह तथा अपरिग्रही एवं अनारंभ तथा अनारंभी ही शरणरूप हैं।

पांचवीं गाथा से लोकवाद की चर्चा प्रारंभ होती हैं। इसमें लोकविषयक नित्यता व अनित्यता, सान्तता व अनन्तता, परिमितता व अपरिमितता आदि का विचार है। वृत्तिकार ने पौराणिकवाद को लोकवाद कहा है और बताया है कि ब्रह्मा अमुक समय तक सोता है व कुछ देखता नहीं, अमुक समय तक जागता है व देखता है—यह सब लोकवाद है।

वेयालिय :

द्वितीय अध्ययन का नाम वेयालिय है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इसका अर्थ वैदारिक तथा वैतालीय के रूप में करते हैं। विदार का अर्थ है विनाश। यहां रागद्वेषरूप संस्कारों का विनाश विवक्षित है; जिस

अध्ययन में रागद्वेष के विदार का वर्णन हो उसका नाम है वैदारिक। वैतालीय नामक एक छंद है। जो अध्ययन वैतालीय छंद में है उसका नाम है वैतालीय। प्रस्तुत अध्ययन के नाम के इन दो अर्थों में से वैतालीय छंद वाला अर्थ विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है। वैदारिक अर्थपरक नाम अतिव्याप्त है क्योंकि यह अर्थ तो अन्य अध्ययनों अथवा ग्रंथों से भी सम्बद्ध है अतः केवल इसी अध्ययन को वैदारिक नाम देना उपयुक्त नहीं।

प्रस्तुत अध्ययन में तीन उद्देशक हैं जिनमें वैराग्यपोषक वर्णन के साथ श्रमणधर्म का प्रतिपादन है। प्रथम उद्देशक की पांचवीं गाथा में बताया गया है कि देव, गांधर्व, राक्षस, नाग, राजा, सेठ, ब्राह्मण आदि सब दुःखपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मृत्यु के लिए सब जीव समान हैं। उसके सामने किसी का रोब काम नहीं करता। नवीं गाथा में सूत्रकार कहते हैं कि साधक भले ही नग्न रहता हो व निरन्तर मास-मास के उपवास करता हो किन्तु यदि वह दम्भी है तो उसका यह सब आचरण खोखला है।

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'पणया वीरा महावीहिं' ऐसा एक खण्डित वाक्य है। सूत्रकृतांग के प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक की इक्कीसवीं गाथा में इस वाक्यवाला पूरा पद्य है :—

तम्हा दवि इक्ख पंडिए पावाओ विरतेऽभिणिव्वुडे।
पणया वीरा महावीहिं सिद्धिपहं णेआउ धुवं॥

इस उद्देशक की वृत्तिसम्मत गाथाओं और चूर्णिसम्मत गाथाओं में अत्यधिक पाठभेद है। पाठभेद के कुछ नमूने ये हैं :—

वृत्तिगत पाठ	चूर्णिगत पाठ
सयमेव कडेहिं गाहइ	सयमेव कडेऽभिगाहए
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥ ४ ॥	णो तेणं मुच्चे अपुट्ठवं ॥ ४ ॥
कामेहि य संथवेहि गिद्धा	कामेहि य संथवेहि य
कम्मसहा कालेण जंतवो ॥ ६ ॥	कम्मसहे कालेण जंतवो ॥ ६ ॥
जे इह मायाइ मिज्जई	जइविह मायादि मिज्जती
आगंता गब्भायऽणंतसो ॥ १० ॥	आगंता गब्भादणंतसो ॥ ६ ॥

इन पाठभेदों के अतिरिक्त चूर्णिकार ने कई जगह अन्य पाठान्तर भी दिये हैं एवं नागार्जुनीय वाचना के पाठभेदों का भी उल्लेख किया है।

प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा के 'वेतालियमग्गमागतो' इस प्रथम चरण में अध्ययन के वेतालिय-वैतालीय नाम का भी निर्देश है। यहाँ 'वेतालिय' शब्द

वैतालीय छन्द का निर्देशक है। इसका दूसरा अर्थ वैदारिक अर्थात् रागद्वेष का विदारण करने वाले भगवान् महावीर के रूप में भी किया गया है। ये दोनों अर्थ चूर्णि में हैं।

प्रथम उद्देशक में २२, द्वितीय उद्देशक में ३२ और तृतीय उद्देशक में २२ गाथाएं हैं। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन में कुल मिलाकर ७६ गाथाएं हैं। इनमें हिंसा न करने के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है एवं महाव्रतों व अणुव्रतों का निरूपण करते हुए उनके अनुसरण पर भार दिया गया है। साधक श्रमण हो या गृहस्थ, उसे साधना में आने वाले प्रत्येक विघ्न का सामना करना चाहिए एवं वीतरागता की भूमिका पर पहुँचना चाहिए। इन सब उपदेशात्मक गाथाओं में उपमाएँ दे-देकर भाव को पूरी तरह स्पष्ट किया गया है। द्वितीय उद्देशक की अठारहवीं गाथा का आद्य चरण है 'उसिणोदगतत्तभोइणो' अर्थात् गरम पानी को बिना ठंडा किये ही पीने वाला। यह मुनि का विशेषण है। इस प्रकार के मुनि को राजा आदि के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र के तृतीय अध्ययन की छठी गाथा के उत्तरार्ध का प्रथम चरण 'तत्ताऽनिव्वुडभोइत्तं' भी गरम-गरम पानी पीने की परम्परा का समर्थक है। तृतीय उद्देशक की तीसरी गाथा में महाव्रतों की महिमा बताते हुए कहा गया है कि जैसे वणिकों द्वारा लाये हुए उत्तम रत्नों को राजा-महाराजा धारण करते हैं उसी प्रकार ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट रात्रिभोजनविरमणयुक्त रत्नसदृश महाव्रतों को उत्तम पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इस गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार ने दो मतों का उल्लेख किया है: पूर्वदिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का व पश्चिम दिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का। संभव है, चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्वदिशा अर्थात् मथुरा अथवा पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एवं पश्चिमदिशा अर्थात् वलभी के सम्बन्ध से नागार्जुन अथवा देवर्धिगणि आदि से हो। रात्रिभोजनविरमण का पृथक् उल्लेख एतद्विषयक शैथिल्य को दूर करने अथवा इसे व्रत के समकक्ष बनाने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इसी सूत्र के वीरस्तुति नामक छठे अध्ययन में भी रात्रिभोजन का पृथक् निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक की अन्तिम गाथा में भगवान् महावीर के लिए 'नायपुत्त' का प्रयोग हुआ है। साथ ही इन विशेषणों को भी उपयोग में लिया गया है: अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदंसी, अणुत्तरनाणदंसणधरे, अरहा, भगवं और वेसालिए अर्थात् श्रेष्ठतमज्ञानी, श्रेष्ठतमदर्शी, श्रेष्ठतमज्ञानदर्शनधर, अर्हत्, भगवान् और वैशालिक—विशाला नगरी में उत्पन्न।

उपसर्ग :

तृतीय अध्ययन का नाम उपसर्गपरिज्ञा है। साधक जब अपनी साधना के लिए तत्पर होता है तब से लगाकर साधना के अन्त तक उसे अनेक प्रकार के विघ्नों का सामना करना पड़ता है। साधनाकाल में आने वाले इन विघ्नों, बाधाओं, विपत्तियों को उपसर्ग कहते हैं। वैसे ये उपसर्ग गिने नहीं जासकते, फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में इनमें से कुछ प्रतिकूल एवं अनुकूल उपसर्ग गिनाये गये हैं। इनसे इन विघ्नों की प्रकृति का पता लग सकता है। सच्चा साधक इस प्रकार के उपसर्गों को जीत कर वीतराग अथवा स्थितप्रज्ञ बनता है। यही सम्पूर्ण अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में १७ गाथाएं हैं जिनमें भिक्षावृत्ति, शीत, ताप, भूख, प्यास, डांस, मच्छर, अस्नान, अपमान, प्रतिकूलशय्या, केशलोच, आजीवन-ब्रह्मचर्य आदि प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है। मनुष्य को जब तक संग्राम में जिसे जीतना है उसके बल का पता नहीं होता तब तक वह अपने को शूर समझता है और कहता है कि इसमें क्या? उसे तो मैं एक चुटकी में साफ कर दूंगा। मेरे सामने वह तो एक मच्छर है। किन्तु जब शत्रु सामने आता है तब उसके होश गायब होजाते हैं। सूत्रकार ने इस तथ्य को समझाने के लिए शिशुपाल और कृष्ण का उदाहरण दिया है। यहाँ कृष्ण के लिए 'महारथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार ने महारथ का अर्थ केशव (कृष्ण) किया है। साधक के लिये उपसर्गों को जीतना उतना ही कठिन है जितना कि शिशुपाल के लिए कृष्ण को जीतना। उपसर्गों की चपेट में आनेवाले ढीलेढाले व्यक्ति की तो श्रद्धा ही समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार निर्बल स्त्री अपने ऊपर आपत्ति आने पर अपने मा-बाप व पीहर के लोगों को याद करती है उसी प्रकार निर्बल साधक अपने ऊपर उपसर्गों का आक्रमण होने पर अपनी रक्षा के लिए स्वजनों को याद करने लगता है।

द्वितीय उद्देशक में २२ गाथाएं हैं। इनमें स्वजनों अर्थात् माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि द्वारा होने वाले उपसर्गों का वर्णन है। ये उपसर्ग प्रतिकूल नहीं अपितु अनुकूल होते हैं। जिस प्रकार साधक प्रतिकूल उपसर्गों से भयभीत होकर अपना मार्ग छोड़ सकता है उसी प्रकार अनुकूल उपसर्गों के आकर्षण के कारण भी पथभ्रष्ट हो सकता है। इस तथ्य को समझाने के लिए अनेक उपमाएं दी गई हैं।

तृतीय उद्देशक में सब मिल कर २१ गाथाएं हैं। इनमें इस प्रकार के उपसर्गों का वर्णन है जो निर्बल मनवाले श्रमण की वासना द्वारा उत्पन्न होते हैं

तथा अन्य मतवाले लोगों के आक्षेपों के पात्र होते हैं। निर्बल भिक्षु के मन में किस प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत उद्देशक में है। बुद्धिमान् भिक्षु इन सब संकल्प-विकल्पों से ऊपर उठ कर अपने मार्ग में स्थिर रहते हैं जबकि अज्ञानी व मूढ भिक्षु अपने मार्ग से च्युत हो जाते हैं। इस उद्देशक में आनेवाले अन्यमतियों से चूर्णिकार व वृत्तिकार का तात्पर्य आजीविकों एवं दिगम्बर परम्परा के भिक्षुओं से है (आजीविकप्रायाः अन्य-तीर्थिकाः, बोडिगा—चूर्णि)। जब संयत भिक्षुओं के सामने किसी के साथ वाद-विवाद करने का प्रसंग उपस्थित हो तब उन्हें किसी को विरोधभाव व क्लेश न हो इस ढंग से तर्क व युक्ति का बहुगुणयुक्त मार्ग स्वीकार करना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक की सोलहवीं गाथा में कहा गया है कि प्रतिवादियों की यह मान्यता है कि दानादि धर्म की प्रज्ञापना आरंभ-समारंभ में पड़े हुए गृहस्थों की शुद्धि के लिए है, भिक्षुओं के लिए नहीं, ठीक नहीं। पूर्वपुरुषों ने इसी दृष्टि से अर्थात् गृहस्थों की ही शुद्धि की दृष्टि से दानादिक की कोई निरूपणा नहीं की। चूर्णिकार ने यहां पर केवल इतना ही लिखा है कि इस प्रवृत्ति का पूर्व में कोई निषेध नहीं किया गया है जबकि वृत्तिकार ने इस कथन को थोड़ा सा बढ़ाया है और कहा है कि सर्वज्ञ पुरुषों ने प्राचीन काल में ऐसी कोई बात नहीं कही है। यह चर्चा वृत्तिकार के कथनानुसार दिगम्बरपक्षीय भिक्षुओं और श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं के बीच है। वृत्तिकार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

चतुर्थ उद्देशक में सब मिल कर २२ गाथाएं हैं। इस उद्देशक के विषय के सम्बन्ध में निर्युक्तिकार कहते हैं कि कुछ श्रमण कुतर्क अर्थात् हेत्वाभास द्वारा अनाचाररूप प्रवृत्तियों को आचार में समाविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं एवं जानबूझकर अनाचार में फंसने का उपसर्ग उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत उद्देशक में इसी प्रकार के उपसर्गों का वर्णन है।

प्रथम चार गाथाओं में बताया गया है कि कुछ शिथिल श्रमण यों कहने लगते हैं कि प्राचीन काल में कुछ ऐसे भी तपस्वी हुए हैं जो उपवासादि तप न करते, उष्ण पानी न पीते, फल-फूल आदि खाते फिर भी उन्हें जैन प्रवचन में महापुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, इन्हें मुक्त भी माना गया है। इनके नाम ये हैं: रामगुत्त, बाहुय, नारायणरिसि अथवा तारायणरिसि, आसिलदेवल, दीवायणमहारिसि और पारासर। इन पुरुषों का महापुरुष एवं अर्हत् के रूप में ऋषिभाषित नामक अति प्राचीन जैनप्रवचनानुसारी श्रुत में स्पष्ट उल्लेख है। इसके आधार पर कुछ शिथिल श्रमण यह कहने के लिए तैयार होते

हैं कि यदि ये लोग ठंडा पानी पीकर, निरंतरभोजी रहकर एवं फल-फूलादि खाकर महापुरुष बने हैं एवं मुक्त हुए हैं तो हम वैसा क्यों नहीं कर सकते ? इस प्रकार के हेत्वाभास द्वारा ये शिथिल श्रमण अपने आचार से भ्रष्ट होते हैं। उपर्युक्त सब तपस्वियों का वृत्तान्त वैदिक ग्रन्थों में विशेष प्रसिद्ध है। एतद्विषयक विशेष विवेचन 'पुरातत्त्व' नामक त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित 'सूत्रकृतांगमां आवतां विशेषनामों' शीर्षक लेख में उपलब्ध है।

कुछ शिथिल श्रमण यों कहते हैं कि सुख द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है अतः सुख प्राप्त करने के लिए कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग सुखप्राप्ति के लिए तपरूप कष्ट उठाते हैं वे भ्रम में हैं। चूर्णिकार ने यह मत शाक्यों अर्थात् बौद्धों का माना है। वृत्तिकार ने भी इसी का समर्थन किया है और कहा है कि लोच आदि के कष्ट से संतप्त कुछ स्वयूथ्य अर्थात् जैन श्रमण भी इस प्रकार कहने लगते हैं: एके शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिना उपतप्ताः। चूर्णिकार व वृत्तिकार की यह मान्यता कि 'सुख से सुख मिलता है' यह मत बौद्धों का है, सही है किन्तु बुद्ध के प्रवचन में भी तप, संवर, अहिंसा तथा त्याग की महिमा है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसमें घोरातिघोरतम तप का समर्थन नहीं है। विशुद्धिमग्ग व धम्मपद को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आगे की गाथाओं में तो इनसे भी अधिक भयंकर हेत्वाभासों द्वारा अनुकूल तर्क लगाकर वासना तृप्तिरूप सुखकर-अनुकूल उपसर्ग उपपन्न किये गये हैं। नवीं व दसवीं गाथा में बताया गया है कि कुछ अनार्य पासत्थ (पार्श्वस्थ अथवा पाशस्थ) जो कि स्त्रियों के वशीभूत हैं तथा जिनशासन से पराङ्मुख हैं, यों कहते हैं कि जैसे फोड़े को दबाकर साफ कर देने से शान्ति मिलती है वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ संभोग करने में कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार भेड़ अपने घुटनों को पानी में झुकाकर पानी को बिना गंदा किये धीरे-धीरे स्थिरतापूर्वक पीता है उसी प्रकार रागरहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री के साथ संभोग करता है। इसमें कोई दोष नहीं है। वृत्तिकार ने इस प्रकार की मान्यता रखने वालों में नीलवस्त्रवाले बौद्धविशेषों, नाथवादिक मंडल में प्रविष्ट शैवविशेषों एवं स्वयूथिक कुशील पार्श्वस्थों का समावेश किया है। इन गाथाओं से स्पष्ट है कि जैनेतर भिक्षुओं की भाँति कुछ जैन श्रमण—शिथिल चैत्यवासी भी स्त्रीसंसर्ग का सेवन करने लगे थे। इस प्रकार के लोगों को पूतना की उपमा देते हुए सूत्रकार ने कहा है कि जैसे पिशाचिनी पूतना छोटे बालकों में आसक्त रहती है वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि स्त्रियों में आसक्त रहते हैं।

स्त्री-परिज्ञा :

स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में ३१ एवं दूसरे में २२ गाथाएँ हैं। स्त्रीपरिज्ञा का अर्थ है स्त्रियों के स्वभाव का सब तरह से ज्ञान। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि स्त्रियाँ श्रमण को किस प्रकार फँसाती हैं और किस प्रकार उसे अपना गुलाम तक बना लेती हैं। इसमें यहाँ तक कहा गया है कि स्त्रियाँ विश्वसनीय नहीं हैं। वे मन में कुछ और ही सोचती हैं, मुँह से कुछ और ही बोलती हैं व प्रवृत्ति कुछ और ही करती हैं। इस प्रकार स्त्रियाँ अति मायावी हैं। श्रमण को स्त्रियों का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। इस विषय में तनिक भी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में स्त्रियों की जो निन्दा की गई है वह एकांगी है। वास्तव में श्रमण की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी खुद की वासना ही है। स्त्री उस वासना को उत्तेजित करने में निमित्त कारण अवश्य बन सकती है। वैसे सभी स्त्रियाँ एकसी नहीं होतीं। संसार में ऐसी अनेक स्त्रियाँ हुई हैं जो प्रातःस्मरणीय हैं। फिर जैसे स्त्रियों में दोष दिखाई देते हैं वैसे ही पुरुषों में भी दोषों की कमी नहीं है। ऐसी स्थिति में केवल स्त्री पर दोषारोपण करना उचित नहीं। निर्युक्तिकार ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और कहा है कि जो दोष स्त्रियों में हैं वेही पुरुषों में भी हैं। अतः साधक श्रमण को पूरी तरह से सावधान रहना चाहिए। पतन का मुख्य कारण तो खुद के दोष ही हैं। स्त्री अथवा पुरुष तो उसमें केवल निमित्त है। जैसे स्त्री के परिचय में आने पर पुरुष में दोष उत्पन्न होते हैं वैसे ही पुरुष के परिचय में आने पर स्त्री में भी दोष उत्पन्न होते हैं। अतः वैराग्यमार्ग में स्थित श्रमण व श्रमणी दोनों को सावधानी रखनी चाहिए। यदि ऐसा है तो फिर इस अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' ही क्यों रखा? 'पुरुषपरिज्ञा' भी तो रखना चाहिये था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार कहते हैं कि 'पुरिसोत्तरिओ धम्मो' अर्थात् धर्म पुरुषप्रधान है अतः पुरुष के दोष बताना ठीक नहीं। धर्मप्रवर्तक पुरुष होते हैं अतः पुरुष उत्तम माना जाता है। इस उत्तमता को लांछित न करने के लिए ही प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखते हुए 'स्त्रीपरिज्ञा' रखा गया। व्यावहारिक दृष्टि से टीकाकारों का यह समाधान ठीक है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन में प्रसंगवशात् गृहस्थोपयोगी अनेक वस्तुओं तथा बालोपयोगी अनेक खिलौनों के नाम भी गिनाये हैं।

नरक विभक्ति :

पंचम अध्ययन का नाम नरकविभक्ति है। चतुर्थ अध्ययनोक्त स्त्रीकृत उपसर्गों में फँसने वाला नरकगामी बनता है। नरकविभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में २७ गाथाएँ हैं और द्वितीय में २५। इनमें यह बताया गया है कि नरक के विभागों में अर्थात् नरक के भिन्न-भिन्न स्थानों में कैसे-कैसे भयंकर कष्ट भोगने पड़ते हैं एवं कैसी-कैसी असाधारण यातनाएँ सहनी पड़ती हैं? जो लोग पापी हैं—हिंसक हैं, असत्यभाषी हैं, चोर हैं, लुटेरे हैं, महापरिग्रही हैं, असदाचारी हैं उन्हें इस प्रकार के नरकावासों में जन्म लेना पड़ता है। नरक की इन भयंकर वेदनाओं को सुनकर धीर पुरुष जरा भी हिंसक प्रवृत्ति न करें, अपरिग्रही बनें एवं निर्लोभवृत्ति का सेवन करें—यही इस अध्ययन का उद्देश्य है। वैदिक, बौद्ध व जैन इन तीनों परम्पराओं में नरक के महाभयों का वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि नरकविषयक यह कल्पना अति प्राचीन काल से चली आ रही है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में छः महानरकों का वर्णन है। भागवत में अट्ठाईस नरक गिनाये गये हैं। बौद्ध परम्परा के पिटकग्रंथरूप सुत्तनिपात के कोकालिय नामक सुत्त में नरकों का वर्णन है। यह वर्णन प्रस्तुत अध्ययन के वर्णन से बहुतकुछ मिलता-जुलता है। अभिधर्मकोश के तृतीय कोश-स्थान के प्रारंभ में आठ नरकों के नाम दिये गये हैं। इन सब स्थलों को देखने से पता चलता है कि भारतीय परम्परा की तीनों शाखाओं का नरकवर्णन एक-दूसरे से काफी मिलता हुआ है। इतना ही नहीं, उनकी शब्दावली भी बहुत-कुछ समान है।

वीरस्तव :

षष्ठ अध्ययन में वीर वर्धमान की स्तुति की गई है इसलिए इस अध्ययन का नाम वीरस्तव रखा गया है। इसमें २९ गाथाएं हैं। भगवान् महावीर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु उनकी असाधारण वीरता के कारण उनकी ख्याति वीर अथवा महावीर के रूप में हुई है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन में प्रख्यात नाम 'महावीर' द्वारा स्तुति की गई है। इस अध्ययन की निर्युक्ति में स्तव अथवा स्तुति कैसी-कैसी प्रवृत्ति द्वारा होती है उसकी बाह्य व आभ्यन्तरिक दोनों रीतियां बताई गई हैं। इस अध्ययन में भी पहले के अध्ययनों की भांति चूर्णिसंमतवाचना एवं वृत्तिसंमतवाचना में काफी अन्तर है। तीसरी गाथा में महावीर को जिन विशेषणों द्वारा परिचित करवाया गया है वे ये हैं : खेयन्न, कुसल, आसुपन्न, अणंतनाणी, अणंतदंसी। खेयन्न अर्थात् क्षेत्रज्ञ अथवा खेदज्ञ। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है आत्मा के स्वरूप का यथावस्थित ज्ञान रखने वाला

आत्मज्ञ। अथवा क्षेत्र अर्थात् आकाश। उसे जानने वाला अर्थात् लोकालोकरूप आकाश के स्वरूप का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कहलाता है। खेदज्ञ का अर्थ है संसारियों के खेद अर्थात् दुःख को जानने वाला। भगवद्गीता में 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक एक पूरा अध्याय है। इसमें ३४ श्लोकों द्वारा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। भगवान् महावीर के लिए प्रयुक्त 'क्षेत्रज्ञ' विशेषण की व्याख्या यदि गीता के इस अध्याय के अनुसार की जाय तो विशेष उचित है। इस व्याख्या से ही भगवान् की खास विशेषता का पता लग सकता है। कुशल, आशुप्रज्ञ, अनन्तज्ञानी एवं अनन्तदर्शी का अर्थ सुप्रतीत है। पांचवीं गाथा में भगवान् के धृतिगुण का वर्णन है। भगवान् धृतिमान् हैं, स्थितात्मा हैं, निरामगंध हैं, ग्रंथातीत हैं, निर्भय हैं। धृतिमान् का अर्थ है धैर्यशाली। कैसा भी सुख अथवा दुःख का प्रसंग उपस्थित होने पर भगवान् सदा एकरूप रहते हैं। यही उनका धैर्य है। स्थितात्मा का अर्थ है स्थिर आत्मावाला। मानापमान की कैसी भी स्थिति में भगवान् स्थिरचित्त--निश्चल रहते हैं। निरामगंध का अर्थ है निर्दोषभोजी। भगवान् का भोजन आदि सर्व प्रकार से निर्दोष होता है। ग्रन्थातीत का अर्थ है परिग्रहरहित। भगवान् अपने पास किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते, किसी प्रकार की साधनसामग्री पर उनका अधिकार अथवा ममत्व नहीं होता और न वे किसी वस्तु की आकांक्षा ही रखते हैं। निर्भय का अर्थ है निडर। भगवान् सर्वत्र एवं सर्वदा सर्वथा निर्भय रहते हैं। आगे की गाथाओं में अन्य अनेक विशेषणों व उपमाओं द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। भगवान् भूतिप्रज्ञ अर्थात् मंगलमय प्रज्ञावाले हैं, अनिकेतचारी अर्थात् अनगार हैं, ओघंतर अर्थात् संसाररूप प्रवाह को तैरने वाले हैं, अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तदर्शी हैं, निरंतर धर्मरूप प्रकाश फैलानेवाले एवं अधर्मरूप अंधकार दूर करने वाले हैं, शक्र के समान द्युतिवाले, महोदधि के समान गंभीरज्ञानी, मेरु के समान अडिग हैं। जैसे वृक्षों में शाल्मलीवृक्ष, पुष्पों में अरविन्द कमल, वनों में नंदनवन, शब्दों में मेघशब्द, गंधों में चंदनगंध, दानों में अभयदान, वचनों में निर्दोष सत्यवचन, तपों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है वैसे ही निर्वाणवादी तीर्थंकरों में भगवान् महावीर श्रेष्ठ हैं। योद्धाओं में जैसे विश्वकसेन अर्थात् कृष्ण एवं क्षत्रियों में जैसे दंतवक्त्र श्रेष्ठ है वैसे ही ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ हैं। यहां चूर्णिकार व वृत्तिकार ने दंतवक्क--दंतवक्त्र का जो सामान्य अर्थ (चक्रवर्ती) किया है वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह शब्द एक विशिष्ट क्षत्रिय के नाम का सूचक है। जिसके मुख में जन्म से ही दांत हों उसका नाम है दंतवक्त्र। इस नाम के विषय में

महाभारत में भी ऐसी ही प्रसिद्धि है। वृत्तिकार ने तो विष्वक्सेन का भी सामान्य अर्थ (चक्रवर्ती) किया है जब कि अमरकोश आदि में इसका कृष्ण अर्थ प्रसिद्ध है।

वर्धमान महावीर ने जिस परम्परा का अनुसरण किया उसमें क्या सुधार किया ? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि उन्होंने स्त्रीसहवास एवं रात्रिभोजन का निषेध किया। भगवान् महावीर के पूर्व चली आने वाली भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा चतुर्यामप्रधान थी। उसमें मैथुनविरमण व्रत का स्पष्ट शब्दों में समावेश करने का कार्य भगवान् महावीर ने किया। इसी प्रकार उन्होंने उसमें रात्रि-भोजनविरमण व्रत का भी अलग से समावेश किया।

कुशील :

सातवां अध्ययन कुशीलविषयक है। इस अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं। कुशील का अर्थ है अनुपयुक्त अथवा अनुचित आचार वाला। जैन परम्परा की दृष्टि से जिनका आचार शुद्ध नहीं है अर्थात् जो असंयमी हैं उनमें से कुछ का थोड़ा-बहुत परिचय प्रस्तुत अध्ययन में मिलता है। इन कुशीलों में चूर्णिकार ने गौतम सम्प्रदाय, गोव्रतिक सम्प्रदाय, रंडदेवता सम्प्रदाय (चंडीदेवता सम्प्रदाय), वारिभद्रक सम्प्रदाय, अग्निहोमवादियों तथा जलशौचवादियों का समावेश किया है। वृत्तिकार ने भी इनकी मान्यताओं का उल्लेख किया है। औपपातिक सूत्र में इस प्रकार के अनेक कुशीलों का नामोल्लेख है। प्रस्तुत अध्ययन में सूत्रकार ने तीन प्रकार के कुशीलों की चर्चा की है : (१) आहारसंपज्जण अर्थात् आहार में मधुरता उत्पन्न करने वाले लवण आदि के त्याग से मोक्ष मानने वाले, (२) सीओदगसेवण अर्थात् शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले, (३) हुएण अर्थात् होम से मोक्ष मानने वाले। इनकी मान्यताओं का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने विविध दृष्टान्तों द्वारा इन मतों का खण्डन किया है एवं यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष के प्रतिबंधक कारणों—राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि का अंत करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

वीर्य अर्थात् पराक्रम :

आठवां अध्ययन वीर्यविषयक है। इसमें वीर्य अर्थात् पराक्रम के स्वरूप का विवेचन है। चूर्णि की वाचना के अनुसार इसमें २७ गाथाएँ हैं जबकि वृत्तिसंमत वाचना के अनुसार गाथासंख्या २६ ही है। चूर्णि में १९ वीं गाथा अधिक है। इस अध्ययन में चूर्णि की वाचना व वृत्ति की वाचना में बहुत अन्तर है। निर्युक्तिकार ने वीर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि वीर्य शब्द सामर्थ्य-पराक्रम-बल—शक्ति का सूचक है। वीर्य अनेक प्रकार का है। वह

वस्तु में भी वीर्य होता है एवं चेतन वस्तु में भी। चंदन, कंबल, शस्त्र, औषध आदि की विविध शक्तियों का अनुभव हम करते ही हैं। यह जड़ वस्तु का वीर्य है। शरीरबल, इंद्रियबल, मनोबल, उत्साह, धैर्य, क्षमा आदि चेतन वस्तु की शक्तियां हैं। सूत्रकार कहते हैं कि वीर्य दो प्रकार का है: अकर्मवीर्य अर्थात् पंडितवीर्य और कर्मवीर्य अर्थात् बालवीर्य। संयमपरायण का वीर्य पंडितवीर्य कहलाता है तथा असंयमपरायण का वीर्य बालवीर्य। 'कर्मवीर्य' का 'कर्म' शब्द प्रमाद एवं असंयम का सूचक है तथा 'अकर्मवीर्य' का 'अकर्म' शब्द अप्रमाद एवं संयम का निर्देशक है। कर्मवीर्य—बालवीर्य का विशेष परिचय देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि कुछ लोग प्राणियों के विनाश के लिए अस्त्रविद्या सीखते हैं एवं कुछ लोग प्राणियों की हिंसा के लिए मंत्रादि सीखते हैं। इसी प्रकार अकर्मवीर्य—पंडितवीर्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस वीर्य में संयम की प्रधानता है। ज्यों-ज्यों पंडितवीर्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों संयम बढ़ता जाता है एवं पूर्णसंयम प्राप्त होने पर निर्वाणरूप अक्षय सुख मिलता है। यही पंडितवीर्य अथवा अकर्मवीर्य का सार है। बालवीर्य अथवा कर्मवीर्य का परिणाम इससे विपरीत होता है। उससे दुःख बढ़ता है—संसार बढ़ता है।

धर्म :

धर्म नामक नवम अध्ययन का व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार आदि ने 'धर्म' शब्द का अनेक रूपों में प्रयोग किया है, यथा कुलधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म, गणधर्म, संघधर्म, पाखंडधर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, गृहस्थधर्म, पदार्थधर्म, दानधर्म आदि। अथवा सामान्यतया धर्म दो प्रकार का है: लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म। जैन परम्परा अथवा जैन प्रणाली के अतिरिक्त सब धर्म, मार्ग अथवा सम्प्रदाय लौकिक धर्म में समाविष्ट हैं। जैन प्रणाली की दृष्टि से प्रवर्तित समस्त आचार-विचार लोकोत्तर धर्म में समाविष्ट होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में लोकोत्तर धर्म का निरूपण है। इसमें चूर्णि की वाचना के अनुसार ३७ गाथाएँ हैं जबकि वृत्तिकी वाचना के अनुसार गाथाओं की संख्या ३६ है। गाथाओं की वाचना में भी चूर्णि व वृत्ति की दृष्टि से काफी भेद है।

प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में प्रश्न है कि मतिमान् ब्राह्मणों ने कौन-सा व कैसा धर्म बताया है? उत्तरार्ध में उत्तर है कि जिनप्रभुओं ने—अर्हतों ने जिस आर्जवरूप—अकपटरूप धर्म का प्रतिपादन किया है उसे मेरे द्वारा सुनो। आगे बताया है कि जो लोग आरंभ आदि दूषित प्रवृत्तियों में फँसे रहते हैं वे इस लोक तथा पर लोक में दुःख से मुक्ति नहीं पा सकते। अतः निर्ममतारूप एवं निरहंकाररूप

ऋजुधर्म का आचरण करना चाहिए जो परमार्थानुगामी है। श्रमणधर्म के दूषण-रूप कुछ आदान प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार गिनाये गये हैं :—

१. असत्य वचन
२. बहिद्धा अर्थात् परिग्रह एवं अब्रह्मचर्य
३. अदत्तादान अर्थात् चौर्य
४. वक्रता अर्थात् माया—कपट—परिकुंचन—पलिउंचण
५. लोभ—भजन—भयण
६. क्रोध—स्थंडिल—थंडिल
७. मान—उच्छ्रयण—उस्सयण

ये सब धूर्तादान अर्थात् धूर्तता के आयतन हैं। इनके अतिरिक्त धावन, रंजन, वमन, विरेचन, स्नान, दंतप्रक्षालन, हस्तकर्म आदि दूषित प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने आहारसम्बन्धी व अन्य प्रकार के कुछ दूषण भी गिनाये हैं। भिक्षुओं को इनका आचरण नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने कहा है। भाषा कैसी बोलनी चाहिए, इस पर भी सूत्रकार ने प्रकाश डाला है।

समाधि :

दसवें अध्ययन का नाम समाधि है। इस अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं। समाधि का अर्थ है तुष्टि - संतोष—प्रमोद— आनन्द। निर्युक्तिकार ने द्रव्यसमाधि, क्षेत्रसमाधि, कालसमाधि एवं भावसमाधि का स्वरूप बताया है। जिन गुणों द्वारा जीवन में समाधिलाभ हो वे भावसमाधि कहलाते हैं। भावसमाधि ज्ञानसमाधि, दर्शनसमाधि, चारित्रसमाधि एवं तपसमाधिरूप है। प्रस्तुत अध्ययन में इस भाव-समाधि अर्थात् आत्मप्रसन्नता की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण अध्ययन में किसी प्रकार का संचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, सब प्रकार की प्रवृत्ति में हाथ-पैर आदि को संयम में रखना, किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना आदि सदाचार के नियमों के पालन के विषय में बार-बार कहा गया है। सूत्रकार ने पुनः-पुनः इस बात का समर्थन किया है कि स्त्रियों में आसक्त रहने वाले एवं परिग्रह में ममत्व रखने वाले श्रमण समाधि प्राप्त नहीं कर सकते। अतः समाधिप्राप्ति के लिए यह अनिवार्य है कि स्त्रियों में आसक्ति न रखी जाय, मैथुनक्रिया से दूर रहा जाय एवं परिग्रह में ममत्व न रखा जाय। एकान्त क्रियावाद व एकान्त अक्रियावाद को अज्ञानमूलक बताते हुए सूत्रकार ने

कहा है कि एकान्त क्रियावाद का अनुसरण करनेवाले तथा एकान्त अक्रियावाद का अनुसरण करनेवाले दोनों ही वास्तविक धर्म अथवा समाधि से बहुत दूर हैं।

मार्ग :

मार्ग नामक ग्यारहवें अध्ययन का विषय समाधि नामक दसवें अध्ययन के विषय से मिलता-जुलता है। इसकी गाथा संख्या ३८ है। चूर्णिसंमत वाचना व वृत्तिसंमत वाचना में पाठभेद है। इस अध्ययन के विवेचन के प्रारंभ में निर्युक्तिकार ने 'मार्ग' शब्द का विविध प्रकार से अर्थ किया है एवं मार्ग के अनेक प्रकार बताये हैं, यथा फलकमार्ग (पट्टमार्ग), लतामार्ग, आंदोलकमार्ग (शाखामार्ग), वेत्रमार्ग, रज्जुमार्ग, दवनमार्ग (वाहन मार्ग), बिलमार्ग, पाशमार्ग, कीलकमार्ग, अजमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग, आकाशमार्ग। ये सब बाह्यमार्ग हैं। प्रस्तुत अध्ययन में इन मार्गों के विषय में कुछ नहीं कहा गया है किन्तु जिससे आत्मा को समाधि प्राप्त हो—शान्ति मिले उसी मार्ग का विवेचन किया गया है। ऐसा मार्ग ज्ञानमार्ग, दर्शनमार्ग, चारित्रमार्ग एवं तपोमार्ग कहलाता है। संक्षेप में उसका नाम संयममार्ग अथवा सदाचारमार्ग है। इस पूरे अध्ययन में आहारशुद्धि, सदाचार, संयम, प्राणातिपातविरमण आदि पर प्रकाश डाला गया है एवं कहा गया है कि प्राणों की परवाह किये बिना इन सबका पालन करना चाहिए। दानादि प्रवृत्तियों का श्रमण को न तो समर्थन करना चाहिए और न निषेध क्योंकि यदि वह कहता है कि इस प्रवृत्ति में धर्म है अथवा पुण्य है तो उसमें होने वाली हिंसा का समर्थन होता है जिससे प्राणियों की रक्षा नहीं हो सकती और यदि वह कहता है कि इस प्रवृत्ति में धर्म नहीं है अथवा पुण्य नहीं है तो जिसे सुख पहुँचाने के लिए वह प्रवृत्ति की जाती है उसे सुखप्राप्ति में अन्तराय पहुँचती है जिससे प्राणियों का कष्ट बढ़ता है। ऐसी स्थिति में श्रमण के लिए इस प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रति उपेक्षाभाव अथवा मौन रखना ही श्रेष्ठ है।

समवसरण :

बारहवें अध्ययन का नाम समवसरण है। इस अध्ययन में २२ गाथाएं हैं। चूर्णिसंमत वाचना एवं वृत्तिसंमत वाचना में पाठभेद है। देवादिकृत समवसरण अथवा समोसरण यहां विवक्षित नहीं है। उसका शब्दार्थ निर्युक्तिकार ने सम्मेलन अथवा मिलन अर्थात् एकत्र होना किया है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी इस अर्थ का समर्थन किया है। यही अर्थ

यहां अभीष्ट है। समवसरण नामक प्रस्तुत अध्ययन में विविध प्रकार के मतप्रवर्तकों अथवा मतों का सम्मेलन है। ये मतप्रवर्तक हैं क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। क्रिया को माननेवाले क्रियावादी कहलाते हैं। ये आत्मा, कर्मफल आदि को मानते हैं। अक्रिया को मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। ये आत्मा, कर्मफल आदि का अस्तित्व नहीं मानते। अज्ञान को माननेवाले अज्ञानवादी कहलाते हैं। ये ज्ञान की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। विनय को माननेवाले विनयवादी कहलाते हैं। ये किसी भी मत की निन्दा नहीं करते अपितु समस्त प्राणियों का विनयपूर्वक आदर करते हैं। विनयवादी लोग गधे से लेकर गाय तक तथा चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक सब स्थलचर, जलचर और खेचर प्राणियों को नमस्कार करते रहते हैं। यही उनका विनयवाद है। प्रस्तुत अध्ययन में केवल इन चार मतों अर्थात् वादों का ही उल्लेख है। स्थानांग सूत्र में अक्रियावादियों के आठ प्रकार बताये गये हैं: एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सातवादी, समुच्छेदवादी, नियतवादी तथा परलोकाभाववादी।[1] समवायांग में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए क्रियावादी आदि मतों के ३६३ भेदों का केवल एक संख्या के रूप में निर्देश कर दिया गया है। ये भेद कौन-से हैं, इसके विषय में वहाँ कुछ नहीं कहा है। सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयावादी के ३२—इस प्रकार कुल ३६३ भेदों की संख्या बताई गई है। ये भेद किस प्रकार हुए हैं एवं उनके नाम क्या है, इसके विषय में निर्युक्तिकार ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। चूर्णिकार एवं वृत्तिकार ने इन भेदों की नामपूर्वक गणना की है।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारंभ में क्रियावाद आदि से सम्बन्धित चार वादियों का नामोल्लेख है। यहाँ पर बताया गया है कि समवसरण चार ही हैं, अधिक नहीं। द्वितीय गाथा में अज्ञानवाद का निरसन है। सूत्रकार कहते हैं कि अज्ञानवादी वैसे तो कुशल हैं किन्तु धर्मोपाय के लिए अकुशल हैं। उनमें विचार करने की प्रवृत्ति का अभाव है। अज्ञानवाद क्या है अर्थात् अज्ञानवादियों की मान्यता का स्वरूप क्या है, इसका स्पष्ट एवं पूर्ण निरूपण न तो सूत्रकार ने किया है, न किसी टीकाकार ने। जैसे सूत्रकार ने निरसन को प्रधानता दी है वैसे ही टीकाकारों ने

---

[1] विशेष परिचय के लिए देखिये—स्थानांग-समवायांग (पं. दलसुख मालवणिया कृत गुजराती रूपान्तर), पृ. ४४८.

भी वही शैली अपनाई है। परिणामतः बौद्धों तक को अज्ञानवादियों की कोटि में गिना जाने लगा। तीसरी गाथा में विनयवादियों का निरसन है। चौथी गाथा का पूर्वार्ध विनयवाद से सम्बन्धित है एवं उत्तरार्ध अक्रियावादविषयक है। पाँचवीं गाथा में अक्रियावादियों पर आक्षेप किया गया है कि ये लोग हमारे द्वारा प्रस्तुत तर्क का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकते, मिश्रभाषा द्वारा छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं, उन्मत्त की भाँति बोलते हैं अथवा गूंगे की तरह साफ जवाब नहीं दे सकते। छठी गाथा में इस प्रकार के अक्रियावादियों को संसार में भ्रमण करने वाला बताया गया है। सातवीं गाथा में अक्रियावाद की मान्यता इस प्रकार बताई है: सूर्य उदित नहीं होता, सूर्य अस्त भी नहीं होता; चन्द्रमा बढ़ता नहीं, चन्द्रमा कम भी नही होता; नदियाँ पर्वतों से निकलती नहीं; वायु बहता नहीं। इस तरह यह सम्पूर्ण लोक नियत है, वंध्य है, निष्क्रिय है। ग्यारहवीं गाथा में कहा गया है कि यहाँ जो चार समवसरण अर्थात् वाद बताये गये हैं उनका तथागत पुरुषों अर्थात् तीर्थंकरों ने लोक का यथार्थ स्वरूप समझ कर ही प्रतिपादन किया है एवं अन्य वादों का निरसन करते हुए क्रियावाद की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने बताया है कि जो कुछ दुःख—कर्म है वह अन्यकृत नहीं अपितु स्वकृत है एवं 'विज्जा' अर्थात् ज्ञान तथा 'चरण' अर्थात् चारित्ररूप क्रिया इन दोनों द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस गाथा में केवल ज्ञान द्वारा अथवा केवल क्रिया द्वारा मुक्ति मानने वालों का निरसन है। आगे की गाथाओं में संसार एवं तद्गत आसक्ति का स्वरूप, कर्मनाश का उपाय, रागद्वेषरहितता, ज्ञानी पुरुषों का नेतृत्व, बुद्धत्व, अंतकरत्व, सर्वत्र समभाव, मध्यस्थवृत्ति, धर्मप्ररूपणा, क्रियावादप्ररूपकत्व आदि पर प्रकाश डाला गया है।

याथातथ्य :

तेरहवें अध्ययन का नाम आहत्तहिय—याथातथ्य है। इसमें २३ गाथाएँ हैं। याथातथ्य का अर्थ है यथार्थ—वास्तविक-परमार्थ-जैसा है वैसा। इस अध्ययन की प्रथम गाथा में ही आहत्तहिय—याथातथिक—याथातथ्य शब्द का प्रयोग हुआ है। अध्ययन के नाम से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें किसी व्यापक वस्तु का विवेचन किया गया है किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें शिष्य के गुण-दोषों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। शिष्य कैसे विनयी होते हैं व कैसे अविनयी होते हैं, कैसे अभिमानी होते हैं, व कैसे सरल होते हैं, कैसे क्रोधी होते हैं व कैसे शान्त होते हैं, कैसे कपटी होते हैं व कैसे सरल होते हैं, कैसे लोभी होते हैं व कैसे निःस्पृह रहते हैं—यह सब प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित है।

ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह :

चौदहवें अध्ययन का नाम ग्रंथ है। निर्युक्ति आदि के अनुसार ग्रन्थ का सामान्य अर्थ परिग्रह होता है। ग्रंथ दो प्रकार का है: बाह्यग्रन्थ और आभ्यन्तरग्रन्थ.। बाह्य-ग्रन्थ के मुख्य दस प्रकार हैं: १. क्षेत्र, २. वास्तु, ३. धन-धान्य, ४. ज्ञातिजन व मित्र, ५. वाहन, ६ शयन, ७. आसन, ८. दासी, ९. दास, १०. विविध सामग्री। इन दस प्रकार के बाह्य ग्रन्थों में मूर्छा रखना ही वास्तविक ग्रंथ है। आभ्यन्तर ग्रंथ के मुख्य चौदह प्रकार हैं: १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ, ५. स्नेह, ६. द्वेष, ७. मिथ्यात्व, ८. कामाचार, ९. संयम मे अरुचि, १०. असंयम में रुचि, ११. विकारी हास्य, १२. शोक, १३. भय, १४. घृणा। जो दोनों प्रकार के ग्रंथ से रहित हैं अर्थात् जिन्हें दोनों प्रकार के ग्रन्थ में रुचि नहीं है तथा जो संयममार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचारांग आदि ग्रन्थो का अध्ययन करने वाले है वे शैक्ष अथवा शिष्य कहलाते हैं। शिष्य दो प्रकार के होते हैं: दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। दीक्षा देकर बनाया हुआ शिष्य दीक्षाशिष्य कहलाता है। इसी प्रकार शिक्षा देकर अर्थात् सूत्रादि सिखाकर बनाया हुआ शिष्य शिक्षाशिष्य कहलाता है। आचार्य अर्थात् गुरु के भी शिष्य की ही तरह दो भेद हैं: दीक्षा देने वाला गुरु—दीक्षागुरु और शिक्षा देने वाला गुरु—शिक्षागुरु। प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि इस प्रकार के गुरु और शिष्य कैसे होने चाहिएं, उन्हें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए, उनके कर्तव्य क्या होने चाहिएं? इसमें २७ गाथाएं हैं। अध्ययन की प्रारंभिक गाथा में ही 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग है। बीसवीं गाथा में 'ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा' ऐसा उल्लेख है। इसका अर्थ यह है कि भिक्षु को किसी को आशीर्वाद नहीं देना चाहिए। यहाँ 'आशिष्' शब्द का प्राकृत रूप 'आसिया' अथवा 'आसिआ' हुआ है, जैसे 'सरित्' शब्द का प्राकृतरूप 'सरिया' अथवा 'सरिआ' होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसके लिए स्पष्ट नियम बनाया हुआ है जो 'स्त्रियाम् आत् अविद्युतः' (८.१.१५) सूत्र से प्रकट होता है। ऐसा होते हुए भी कुछ विद्वान् इसका अर्थ यों करते हैं कि भिक्षु को अस्याद्वादयुक्त वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह ठीक नहीं। प्रस्तुत गाथा मे स्याद्वाद अथवा अस्याद्वाद का कोई उल्लेख नहीं है और न वहां इस प्रकार का कोई प्रसंग ही है। वृत्तिकार ने भी इसका अर्थ आशीर्वाद के निषेध के रूप में ही किया है।

आदान अथवा आदानीय :

पंद्रहवें अध्ययन के तीन नाम हैं : आदान अथवा आदानीय, संकलिका अथवा शृंखला और जमतीत अथवा यमकीय। निर्युक्तिकार का कथन है कि इस अध्ययन की गाथाओं में जो पद पहली गाथा के अंत में आता है वही दूसरी गाथा के आदि में आता है अर्थात् जिस पद का आदान प्रथम पद्य के अन्त में है उसी का आदान द्वितीय पद्य के प्रारंभ में है अतएव इसका नाम आदान अथवा आदानीय है। वृत्तिकार कहते हैं कि कुछ लोग इस अध्ययन को संकलिका नाम से पुकारते हैं। इसके प्रथम पद्य का अन्तिम वचन एवं द्वितीय पद्य का आदि वचन शृंखला की भांति जुड़े हुए हैं अर्थात् उन दोनों की कड़ियां एक समान हैं अतएव इसका नाम संकलिका अथवा शृंखला है। अध्ययन का आदि शब्द जमतीत—जं अतीतं है अतः इसका नाम जमतीत है। अथवा इस अध्ययन में यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है अतः इसका नाम यमकीय है जिसका आर्षप्राकृतरूप जमईय है। निर्युक्तिकार ने इसका नाम आदान अथवा आदानीय ही बताया है। दूसरे दो नाम वृत्तिकार ने बताये हैं।

इस अध्ययन में विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर अथवा वीतराग पुरुष का स्वभाव, संयमी मनुष्य की जीवनपद्धति आदि का निरूपण है। इसमें विशेष नाम अर्थात् व्यक्तिवाचक नाम के रूप में तीन बार 'महावीर' शब्द का तथा एक बार 'काश्यप' शब्द का उल्लेख है। यह 'काश्यप' शब्द भी भगवान् महावीर का ही सूचक है। इसमें २५ गाथाएं हैं। अन्य अध्ययनों की भांति इसमें भी चूर्णिसंमत एवं वृत्तिसंमत वाचना में भेद है।

गाथा :

सोलहवें अध्ययन का नाम गाहा—गाथा है। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्तिम अध्ययन है। गाथा का अर्थ बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिसका मधुरता से गान किया जा सके वह गाथा है। अथवा जिसमें बहुत अर्थसमुदाय एकत्र कर समाविष्ट किया गया हो वह गाथा है। अथवा सामुद्र छंद द्वारा जिसकी योजना की गई हो वह गाथा है। अथवा पूर्वोक्त पंद्रह अध्ययनों को पिण्डरूप कर प्रस्तुत अध्ययन में समाविष्ट किया गया है इसलिए भी इसका नाम गाथा है।

निर्युक्तिकार ने ऊपर सामुद्र छंद का जो नाम दिया है उसका लक्षण छंदोनुशासन के छठे अध्याय में इस प्रकार बताया गया है : *ओजे सस समे नव*

सामुद्रकम्। यह लक्षण प्रस्तुत अध्ययन पर लागू नहीं होता अतः इस विषय में विशेष खोज की आवश्यकता है। वृत्तिकार ने इस छंद के विषय में इतना ही लिखा है कि 'तच्चेदं छन्दः—अनिबद्धं च यत् लोके गाथा इति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्' अर्थात् जो अनिबद्ध है—छंदोबद्ध नहीं है उसे संसार में पंडितों ने 'गाथा' नाम दिया है। इससे मालूम होता है कि यह अध्ययन किसी प्रकार के पद्य में नहीं है फिर भी गाया जा सकता है अतएव इसका नाम गाथा रखा गया है।

ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ :

इस अध्ययन में बताया गया है कि जो समस्त पापकर्म से विरत है, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परनिन्दा-अरति-रति-मायामृषावाद-मिथ्यादर्शनशल्य से रहित है, समितियुक्त है, ज्ञानादिगुण सहित है, सर्वदा प्रयत्नशील है, क्रोध नहीं करता, अहंकार नहीं रखता वह ब्राह्मण है। इसी प्रकार जो अनासक्त है, निदान रहित है, कषायमुक्त है, हिंसा-असत्य-बहिद्धा (अब्रह्मचर्य-परिग्रह) रहित है वह श्रमण है। जो अभिमानरहित है, विनयसम्पन्न है, परिषह एवं उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाला है, आध्यात्मिक वृत्तियुक्त है, परदत्तभोजी है वह भिक्षु है। जो ग्रंथ-रहित है—परिग्रहादिरहित एकाकी है, एकविदु है—केवल आत्मा का ही जानकार है, पूजा-सत्कार का अर्थी नहीं है वह निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु एवं निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है। यही समस्त अध्ययनों का सार है।

सात महाअध्ययन :

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने इन सात अध्ययनों को महाअध्ययन कहा है। वृत्तिकार ने इन्हें महाअध्ययन कहने का कारण बताते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें संक्षेप में कही गई हैं वे ही इन अध्ययनों में विस्तार से बताई गई हैं अतएव इन्हें महाअध्ययन कहा गया है। इन सात अध्ययनों के नाम ये हैं : १. पुण्डरीक, २. क्रियास्थान, ३. आहारपरिज्ञा, ४. प्रत्याख्यानक्रिया, ५. आचारश्रुत अथवा अनगारश्रुत, ६. आर्द्रकीय, ७. नालंदीय। इनमें से आचारश्रुत व आर्द्रकीय ये दो अध्ययन पद्यरूप हैं, शेष पाँच गद्यरूप। केवल आहारपरिज्ञा में चारेक पद्य आते हैं, बाकी का सारा अध्ययन गद्यरूप है।

पुण्डरीक :

जिस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में भूतवादी, तज्जीवतच्छरीर-वादी, आत्मषष्ठवादी, ईश्वरवादी, नियतिवादी आदि वादियों के मतों का उल्लेख

है उसी प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पुण्डरीक नामक प्रथम अध्ययन में इन वादियों में से कुछ वादियों के मतों की चर्चा है। पुण्डरीक का अर्थ है सौ पंखुड़ियों वाला उत्तम श्वेत कमल। प्रस्तुत अध्ययन में पुण्डरीक के रूपक की कल्पना की गई है एवं उस रूपक का भावार्थ समझाया गया है। रूपक इस प्रकार है: एक विशाल पुष्करिणी है। उसमें चारों ओर सुन्दर-सुन्दर कमल खिले हुए हैं। उसके ठीक मध्य में एक पुण्डरीक खिला हुआ है। वहाँ पूर्व दिशा से एक पुरुष आया और उसने इस पुण्डरीक को देखा। देखकर वह कहने लगा—मैं क्षेत्रज्ञ (अथवा खेदज्ञ) हूँ, कुशल हूं, पंडित हूँ, व्यक्त हूँ, मेधावी हूँ, अबाल हूँ, मार्गस्थ हूं, मार्गविद् हूँ एवं मार्ग पर पहुँचने के गतिपराक्रम का भी ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम कमल को तोड़ सकूंगा। यों कहते-कहते वह पुष्करिणी में उतरा एवं ज्यों-ज्यों आगे बढ़ने लगा त्यों-त्यों गहरा पानी एवं भारी कीचड़ आने लगा। परिणामतः वह किनारे से दूर कीचड़ में फँस गया और न इस ओर वापिस आ सका, न उस ओर जा सका। इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर व दक्षिण से आये हुए तीन और पुरुष उस कीचड़ में फँसे। इतने में एक संयमी, निःस्पृह एवं कुशल भिक्षु वहां आ पहुँचा। उसने उन चारों पुरुषों को पुष्करिणी में फंसा हुआ देखा और सोचा कि ये लोग अकुशल, अपंडित एवं अमेधावी मालूम होते हैं। इस प्रकार कहीं कमल प्राप्त किया जा सकता है? मैं इस कमल को प्राप्त कर सकूंगा। यों सोच कर वह पानी में न उतरते हुए किनारे पर खड़ा रह कर ही कहने लगा—हे उत्तम कमल! मेरे पास उड़ आ, मेरे पास उड़ आ। यों कहते ही वह कमल वहां से उठकर भिक्षु के पास आ गया।

इस रूपक का परमार्थ – सार बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यह संसार पुष्करिणी के समान है। इसमें कर्मरूप पानी एवं कामभोगरूप कीचड़ भरा हुआ है। अनेक जनपद चारों ओर फैले हुए कमल के समान हैं। मध्य में रहा हुआ पुण्डरीक राजा के समान है। पुष्करिणी में प्रविष्ट होने वाले चारों पुरुष अन्यतीर्थिकों के समान हैं। कुशल भिक्षु धर्मरूप है, किनारा धर्मतीर्थरूप है, भिक्षु द्वारा उच्चारित शब्द धर्मकथारूप हैं एवं पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है।

उपर्युक्त चार पुरुषों में से प्रथम पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी है। उसके मत से शरीर और जीव एक हैं—अभिन्न हैं। यह अनात्मवाद है। इसका दूसरा नाम नास्तिकवाद भी है। प्रस्तुत अध्ययन में इस वाद का वर्णन है।

यह वर्णन दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आने वाले भगवान् बुद्ध के समकालीन अजितकेशकंबल के उच्छेदवाद के वर्णन से हूबहू मिलता है। इतना ही नहीं, इनके शब्दों में भी समानता दृष्टिगोचर होती है।

दूसरा पुरुष पंचभूतवादी है। उसके मत से पांच भूत ही यथार्थ हैं जिनसे जीव की उत्पत्ति होती है। तज्जीवतच्छरीरवाद एवं पंचभूतवाद में अन्तर यह है कि प्रथम के मत से शरीर और जीव एक ही हैं अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं है जब कि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पांच महाभूतों के सम्मिश्रण से शरीर के बनने पर होती है एवं शरीर के नष्ट होने के साथ जीव का भी नाश हो जाता है। पंचभूतवादी भी आचार-विचार में तज्जीवतच्छरीरवादी के ही समान है। पंचभूतवादी की चर्चा में आत्मषष्ठवादी के मत का भी उल्लेख किया गया है। जो पांच भूतों के अतिरिक्त छठे आत्मतत्त्व की भी सत्ता स्वीकार करता है वह आत्मषष्ठवादी है। वृत्तिकार ने इस वादी को सांख्य का नाम दिया है।

तृतीय पुरुष ईश्वरकारणवादी है। उसके मत से यह लोक ईश्वरकृत है अर्थात् संसार का कारण ईश्वर है।

चतुर्थ पुरुष नियतिवादी है। नियतिवाद का स्वरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की प्रथम तीन गाथाओं में बताया गया है। उसके अनुसार जगत् की सारी क्रियाएं नियत हैं—अपरिवर्तनीय हैं। जो क्रिया जिस रूप में नियत है वह उसी रूप में पूरी होगी। उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता।

अन्त में आने वाला भिक्षु इन चारों पुरुषों से भिन्न प्रकार का है। वह संसार को असार समझ कर भिक्षु बना है एवं धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ कर त्यागधर्म का उपदेश देता है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह धर्म जिनप्रणीत है, वीतरागकथित है। जो अनासक्त हैं, निःस्पृह हैं, अहिंसादि को जीवन में मूर्तरूप देने वाले हैं वे निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इससे विपरीत आचरण वाले मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। यही प्रथम अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के कुछ वाक्य एवं शब्द आचारांग के वाक्यों एवं शब्दों से मिलते-जुलते हैं।

क्रियास्थान :

क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन में विविध क्रियास्थानों का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का अर्थ है प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रकार की

प्रवृत्तियों के विविध कारण होते हैं। इन्हीं कारणों को प्रवृत्तिनिमित्त अथवा क्रियास्थान कहते हैं। इन क्रियास्थानों के विषय में प्रस्तुत अध्ययन में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। क्रियास्थान प्रधानतया दो प्रकार के हैं: धर्मक्रियास्थान और अधर्मक्रियास्थान। अधर्मक्रियास्थान के बारह प्रकार हैं:—

१. अर्थदण्ड, २. अनर्थदण्ड, ३ हिंसादण्ड, ४. अकस्मात्‌दण्ड, ५. दृष्टिविपर्यासदण्ड, ६. मृषाप्रत्ययदण्ड, ७. अदत्तादानप्रत्ययदण्ड, ८. अध्यात्मप्रत्ययदण्ड, ९. मानप्रत्ययदण्ड, १०. मित्रदोषप्रत्ययदण्ड, ११. मायाप्रत्ययदण्ड, १२. लोभप्रत्ययदण्ड। धर्मक्रियास्थान में धर्महेतुक प्रवृत्ति का समावेश होता है। इस प्रकार १२ अधर्मक्रियास्थान एवं १ धर्मक्रियास्थान इन १३ क्रियास्थानों का निरूपण प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

१. हिंसा आदि दूषणयुक्त जो प्रवृत्ति किसी प्रयोजन के लिए की जाती है वह अर्थदण्ड है। इसमें अपनी जाति, कुटुम्ब, मित्र आदि के लिए की जाने वाली त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा का समावेश होता है।

२. बिना किसी प्रयोजन के केवल आदत के कारण अथवा मनोरंजन के हेतु की जानेवाली हिंसादि दूषणयुक्त प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है।

३. अमुक प्राणियों ने मुझे अथवा मेरे किसी संबंधी को मारा था, मारा है अथवा मारने वाला है---ऐसा समझ कर जो मनुष्य उन्हें मारने की प्रवृत्ति करता है वह हिंसादण्ड का भागी होता है।

४. मृगादि को मारने की भावना से बाण आदि छोड़ने पर अकस्मात् किसी अन्य पक्षी आदि का वध होने का नाम अकस्मात्‌दण्ड है।

५. दृष्टि में विपरीतता होने पर मित्र आदि को अमित्र आदि की बुद्धि से मार देने का नाम दृष्टिविपर्यासदण्ड है।

६ अपने लिए, अपने कुटुम्ब के लिए अथवा अन्य किसी के लिए झूठ बोलना, झूठ बुलवाना अथवा झूठ बोलने वाले का समर्थन करना मृषाप्रत्ययदण्ड है।

७. इसी प्रकार चोरी करना, करवाना अथवा करने वाले का समर्थन करना अदत्तादानप्रत्ययदण्ड है।

८. हमेशा चिन्ता में डूबे रहना, उदास रहना, भयभीत रहना, संकल्प-विकल्प में मग्न रहना अध्यात्मप्रत्ययदण्ड है। इस प्रकार के मनुष्य के मन में क्रोधादि कषायों की प्रवृत्ति चलती ही रहती है।

९. जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, ज्ञानमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, प्रज्ञामद आदि के कारण दूसरों को हीन समझना मानप्रत्ययदण्ड है।

१०. अपने साथ रहने वालों में से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर उसे भारी दण्ड देना मित्रदोषप्रत्ययदण्ड है। इस प्रकार का दण्ड देने वाला महापाप का भागी होता है।

११. कपटपूर्वक अनर्थकारी प्रवृत्ति करने वाले मायाप्रत्ययदण्ड के भागी होते हैं।

१२. लोभ के कारण हिंसक प्रवृत्ति में फँसने वाले लोभप्रत्ययदण्ड का उपार्जन करते हैं। ऐसे लोग इस लोक व पर लोक दोनों में दुःखी होते हैं।

१३. तेरहवाँ क्रियास्थान धर्महेतुकप्रवृत्ति का है। जो इस प्रकार की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ाते हैं वे यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करने वाले, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही, पंचसमिति एवं त्रिगुप्तियुक्त होते हैं एवं अन्ततोगत्वा निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निर्वाण के इच्छुकों के लिए यह तेरहवाँ क्रियास्थान आचरणीय है। शुरू के बारह क्रियास्थान हिंसापूर्ण हैं। इनसे साधक को दूर रहना चाहिए।

बौद्ध दृष्टि से हिंसा :

बौद्ध परम्परा में हिंसक प्रवृत्ति की परिभाषा भिन्न प्रकार की है। वे ऐसा मानते हैं कि निम्नोक्त पांच अवस्थाओं की उपस्थिति में ही हिंसा हुई कही जा सकती है, एवं इसी प्रकार की हिंसा कर्मबन्धन का कारण होती है :—

१. मारा जाने वाला प्राणी होना चाहिए।

२. मारने वाले को 'यह प्राणी है' ऐसा स्पष्ट भान होना चाहिए।

३. मारने वाला यह समझता हुआ होना चाहिए कि 'मैं इसे मार रहा हूँ'।

४. साथ ही शारीरिक क्रिया होनी चाहिए।

५. शारीरिक क्रिया के साथ प्राणी का वध भी होना चाहिए।

इन शर्तों को देखते हुए बौद्ध परम्परा में अकस्मात्दण्ड, अनर्थदण्ड वगैरह हिंसारूप नहीं गिने जा सकते। जैन परिभाषा के अनुसार राग-द्वेषजन्य प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति हिंसारूप होती है जो वृत्ति अर्थात् भावना की तीव्रता-मंदता के अनुसार कर्मबंध का कारण बनती है।

प्रसंगवशात् सूत्रकार ने अष्टांगनिमित्तों एवं अंगविद्या आदि विविध विद्याओं का भी उल्लेख किया है। दीघनिकाय के सामञ्‍ञफलसुत्त में भी अंगविद्या, उत्पातविद्या, स्वप्नविद्या आदि के लक्षणों का इसी प्रकार उल्लेख है।

आहारपरिज्ञा :

आहारपरिज्ञा नामक तृतीय अध्ययन में समस्त स्थावर एवं त्रस प्राणियों के जन्म तथा आहार के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। इस अध्ययन का प्रारंभ बीजकायों—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एवं स्कन्धबीज—के आहार की चर्चा से होता है।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति स्थावर हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग त्रस हैं। मनुष्य भी त्रस है। मनुष्य की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका निरूपण भी प्रस्तुत अध्ययन में है। मनुष्य के आहार के विषय में इस अध्ययन में यों बताया गया है : ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे अर्थात् मनुष्य का आहार ओदन, कुल्माष एवं त्रस व स्थावर प्राणी हैं। इस सम्पूर्ण अध्ययन में सूत्रकार ने देव अथवा नारक के आहार की कोई चर्चा नहीं की है। निर्युक्ति एवं वृत्ति में एतद्विषयक चर्चा है। उनमें आहार के तीन प्रकार बताये गये हैं : ओजआहार रोमआहार और प्रक्षेपआहार। जहाँ तक दृश्य शरीर उत्पन्न न हो वहाँ तक तैजस एवं कार्मण शरीर द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है वह ओजआहार है। अन्य आचार्यों के मत से जब तक इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन आदि का निर्माण न हुआ हो तब तक केवल शरीरपिण्ड द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है वह ओजआहार कहलाता है। रोमकूप-द्वारा चमड़ी द्वारा गृहीत आहार का नाम रोमाहार है। कवल द्वारा होने वाला आहार प्रक्षेपाहार है। देवों व नारकों का आहार रोमाहार अथवा लोमाहार कहलाता है। यह निरन्तर चालू रहता है। इस विषय में अन्य आचार्यों का मत यह है—जो स्थूल पदार्थ जिह्वा द्वारा इस शरीर में पहुँचाया जाता है वह प्रक्षेपाहार है। जो नाक, आँख, कान द्वारा ग्रहण किया जाता है एवं धातुरूप से परिणत होता है वह ओजआहार है तथा जो केवल चमड़ी द्वारा ग्रहण किया जाता है वह रोमाहार—लोमाहार है।

बौद्ध परम्परा में आहार का एक प्रकार कवलीकार आहार माना गया है जो गंध, रस एवं स्पर्शरूप है। इसके अतिरिक्त स्पर्शआहार, मनस्संचेतना एवं विज्ञानरूप तीन प्रकार के आहार और माने गये हैं। कवलीकार आहार दो प्रकार का है: औदारिक—स्थूल आहार और सूक्ष्म आहार। जन्मान्तर प्राप्त करते समय गति में रहे हुए जीवों का आहार सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म प्राणियों का आहार भी सूक्ष्म ही होता है। कामादि तीन धातुओं में स्पर्श, मनस्संचेतना एवं विज्ञानरूप आहार है।[1]

आहारपरिज्ञा नामक प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट बताया गया है कि जीवकी हिंसा किये बिना आहार की प्राप्ति अशक्य है। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति एवं आहार को दृष्टि में रखते हुए यह बात आसानी से फलित की जा सकती है। इस अध्ययन के अन्त में संयमपूर्वक आहार प्राप्त करने के प्रयास पर भार दिया गया है जिससे जीवहिंसा कम से कम हो।

प्रत्याख्यान :

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रत्याख्यानक्रिया है। प्रत्याख्यान का अर्थ है अहिंसादि मूलगुणों एवं सामायिकादि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार की प्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध में निरूपण है। यह प्रत्याख्यानक्रिया निरवद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए साधक है। इससे विपरीत अप्रत्याख्यानक्रिया सावद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए बाधक है। प्रत्याख्यान न करने वाले को भगवान् ने असंयत, अविरत, पापक्रिय, असंवृत, बाल एवं सुप्त कहा है। ऐसा पुरुष विवेकहीन होने के कारण सतत कर्मबन्ध करता रहता है। यद्यपि इस अध्ययन का प्रारंभ भी पिछले अध्ययनों की ही भांति 'हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि भगवान् ने यों कहा है' इससे होता है तथापि यह अध्ययन संवादरूप है। इसमें एक पूर्वपक्षी अथवा प्रेरक शिष्य है और दूसरा उत्तरपक्षी अथवा समाधानकर्ता आचार्य है। इस अध्ययन का सार यह है कि जो आत्मा षट्काय के जीवों के वध के त्याग की वृत्तिवाली नहीं है तथा जिसने उन जीवों को किसी भी समय मार देने की छूट ले रखी है वह आत्मा इन छहों प्रकार के जीवों के साथ अनिवार्यतया मित्रवत्

[1] देखिये—अभिधर्मकोश, तृतीय कोशस्थान, श्लो० ३८-४४.

व्यवहार करने की वृत्ति से बंधा हुआ नहीं है। वह जब चाहे, जिस किसी का वध कर सकता है। उसके लिए पापकर्म के बंधन की निरंतर संभावना रहती है और किसी सीमा तक वह नित्य पापकर्म बांधता भी रहता है क्योंकि प्रत्याख्यान के अभाव में उसकी भावना सदा सावद्यानुष्ठानरूप रहती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति वधक है—वध करने वाला है। उसने यह सोचा कि अमुक गृहस्थ, गृहस्थपुत्र, राजा अथवा राजपुरुष की हत्या करनी है। अभी थोड़ी देर सो जाऊं और फिर उसके घर में घुस कर मौका पाते ही उसका काम तमाम कर दूंगा। ऐसा सोचने वाला सोया हुआ हो अथवा जगता हुआ, चलता हुआ हो अथवा बैठा हुआ, निरन्तर उसके मन में हत्या की भावना बनी ही रहती है। वह किसी भी समय अपनी हत्या की भावना को क्रियारूप में परिणत कर सकता है। अपनी इस दुष्ट मनोवृत्ति के कारण वह प्रतिक्षण कर्मबन्ध करता रहता है। इसी प्रकार जो जीव सर्वथा संयमहीन हैं, प्रत्याख्यान रहित हैं वे समस्त षड्जीवनिकाय के प्रति हिंसक भावना रखने के कारण निरन्तर कर्मबंध करते रहते हैं। अतएव संयमी के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान आवश्यक है। जितने अंश में सावद्यवृत्ति का त्याग किया जाता है उतने ही अंश में पापकर्म का बन्धन रुकता है। यही प्रत्याख्यान की उपयोगिता है। असंयत एवं अविरत के लिए अमर्यादित मनोवृत्ति के कारण पाप के समस्त द्वार खुले रहते हैं अतः उसके लिए सर्वप्रकार के पापबंधन की संभावना रहती है। इस संभावना को अल्प अथवा मर्यादित करने के लिए प्रत्याख्यानरूप क्रिया की आवश्यकता है।

प्रस्तुत अध्ययन की वृत्ति में वृत्तिकार ने नागार्जुनीय वाचना का पाठान्तर दिया है। यह पाठान्तर माथुरी वाचना के मूल पाठ की अपेक्षा अधिक विशद एवं सुबोध है।

आचारश्रुत :

पांचवें अध्ययन के दो नाम हैं: आचारश्रुत व अनगारश्रुत। निर्युक्तिकार ने इन दोनों नामों का उल्लेख किया है। यह सम्पूर्ण अध्ययन पद्यमय है। इसमें ३३ गाथाएँ हैं। निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन का सार 'अनाचारों का त्याग करना' है। जब तक साधक को आचार का पूरा ज्ञान नहीं होता तब तक वह उसका सम्यक्तया पालन नहीं कर सकता। अबहुश्रुत साधक को आचार-अनाचार के भेद का पता कैसे लग सकता है? इस प्रकार के

मुमुक्षु द्वारा आचार की विराधना होने की बहुत संभावना रहती है। अतः आचार की सम्यगाराधना के लिए साधक को बहुश्रुत होना आवश्यक है।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम ग्यारह गाथाओं में अमुक प्रकार के एकान्तवाद को अनाचरणीय बताते हुए उसका निषेध किया गया है। आगे लोक नहीं है, अलोक नहीं है, जीव नहीं हैं, अजीव नहीं हैं, धर्म नहीं है, अधर्म नहीं है, बंध नहीं है, मोक्ष नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, आस्रव नहीं है, संवर नहीं है, वेदना नहीं है, निर्जरा नहीं है, क्रिया नहीं है, अक्रिया नहीं है, क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-संसार-देव-देवी-सिद्धि-असिद्धि नहीं है, साधु-असाधु-कल्याण-अकल्याण नहीं है—इत्यादि मान्यताओं को अनाचरणीय बताते हुए लोकादि के अस्तित्व पर श्रद्धा रखने एवं तदनुरूप आचरण करने के लिए कहा गया है। अन्तिम कुछ गाथाओं में अनगार को अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का उपदेश दिया गया है।

आर्द्रकुमार :

आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन भी पूरा पद्यमय है। इसमें कुल ५५ गाथाएँ हैं। अध्ययन के प्रारम्भ में ही 'पुराकडं अद्द! इमं सुणेह' अर्थात् 'हे आर्द्र! तू इस पूर्वकृत को सुन' इस प्रकार आर्द्र को संबोधित किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वाद-विवाद का सम्बन्ध 'आर्द्र' के साथ है। निर्युक्तिकार ने इस आर्द्र को आर्द्रनामक नगर का राजकुमार बताया है। यह राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का मित्र था। अनुश्रुति यह है कि आर्द्रपुर अनार्यदेश में था। कुछ लोगों ने तो 'अद्द-आर्द्र' शब्द की तुलना 'अदन' के साथ भी की है। आर्द्रपुर के राजा और मगधराज श्रेणिक के बीच स्नेहसम्बन्ध था। इसीलिए अभयकुमार से भी आर्द्रकुमार का परिचय हुआ। निर्युक्तिकार ने लिखा है कि अभयकुमार ने अपने मित्र आर्द्रकुमार के लिए जिन भगवान् की प्रतिमा भेंट भेजी थी। इससे उसे बोध हुआ और यह अभयकुमार से मिलने के लिए उत्सुक हुआ। पूर्व जन्म का ज्ञान होने के कारण आर्द्रकुमार का मन कामभोगों से विरक्त हो गया और उसने अपने देश से भागकर स्वयमेव प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। संयोगवशात् उसे एक बार साधुवेश छोड़कर गृहस्थधर्म में प्रविष्ट होना पड़ा। पुनः साधुवेश स्वीकार कर वह जहाँ भगवान् महावीर उपदेश दे रहे थे वहाँ जाने के लिए निकला। मार्ग में उसे गोशालक के अनुयायी भिक्षु, बौद्धभिक्षु, ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डी), हस्तितापस आदि मिले।

आर्द्रकुमार व इन भिक्षुओं के बीच जो वाद-विवाद हुआ वही प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित है।

इस अध्ययन की प्रारंभिक पचीस गाथाओं में आर्द्रकुमार का गोशालक के भिक्षुओं के साथ वाद-विवाद है। इनमें इन भिक्षुओं ने भगवान् महावीर की बुराई की है और बताया है कि यह महावीर पहले तो त्यागी था, एकान्त में रहता था, प्रायः मौन रखता था किन्तु अब आराम में रहता है, सभा में बैठता है, मौन का सेवन नहीं करता। इस प्रकार के और भी आक्षेप इन भिक्षुओं ने भगवान् महावीर पर लगाये हैं। आर्द्रमुनि ने इन तमाम आक्षेपों का उत्तर दिया है। इस वाद-विवाद के मूल में कहीं भी गोशालक का नाम नहीं है। निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार ने इसका सम्बन्ध गोशालक के साथ जोड़ा है। इस वाद-विवाद को पढ़ने से यह मालूम पड़ता है कि पूर्वपक्षी महावीर का पूरी तरह से परिचित व्यक्ति होना चाहिए। यह व्यक्ति गोशालक के सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता। इसीलिए इस वाद-विवाद का सम्बन्ध गोशालक के अनुयायी भिक्षुओं के साथ जोड़ा गया है जो उचित ही है। आगे बौद्धभिक्षुओं के साथ वाद-विवाद है। इसमें तो 'बुद्ध' शब्द ही आया है। साथ ही बौद्धपरिभाषा के पदों का प्रयोग भी हुआ है। यह वाद-विवाद बयालीसवीं गाथा तक है। इसके बाद ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डी) का वाद-विवाद आता है। यह इकावनवीं गाथा तक है। अन्तिम चार गाथाओं में हस्तितापस का वाद-विवाद है। ब्रह्मव्रती को निर्युक्तिकार ने त्रिदण्डी कहा है जब कि वृत्तिकार ने एकदण्डी भी कहा है। त्रिदण्डी हो अथवा एकदण्डी सभी ब्रह्मव्रती वेदवादी हैं। इन्होंने आर्हतमत को वेदबाह्य होने के कारण अग्राह्य माना है। हस्तितापस सम्प्रदाय का समावेश प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत कुशील नामक सातवें अध्ययन में वर्णित असंयमियों में होता है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिदिन खाने के लिए अनेक जीवों की हिंसा करने के बजाय एक बड़े हाथी को मारकर उसे पूरे वर्ष तक खाना अच्छा है। ये तापस इसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह करते हैं अतः इनका 'हस्तितापस' नाम प्रसिद्ध हुआ।

नालंदा :

सातवें अध्ययन का नाम नालंदीय है। यह सूत्रकृतांग का अन्तिम अध्ययन है। राजगृह के बाहर उत्तर-पूर्व अर्थात् ईशानकोण में स्थित नालंदा की प्रसिद्धि जितनी जैन आगमों में है उतनी ही बौद्ध पिटकों में भी है। निर्युक्तिकार ने

'नालंदा' पद का अर्थ बताते हुए कहा है कि न+अलं + दा इस प्रकार तीन शब्दों से बनने वाला नालंदा नाम स्त्रीलिंग का है। दा अर्थात् देना—दान देना, न अर्थात् नहीं और अलं अर्थात् बस। इन तीनों अर्थों का संयोग करने पर जो अर्थ निकलता है वह यह है कि जहाँ पर दान देने की बात पर किसी की ओर से बस नहीं है—मना नहीं है अर्थात् जिस जगह दान देने के लिए कोई मना नहीं करता उस जगह का नाम नालंदा है। लेने वाला चाहे श्रमण हो अथवा ब्राह्मण, आजीविक हो अथवा परिव्राजक सबके लिए यहाँ दान सुलभ है। किसी के लिए किसी को मनाही नहीं है। कहा जाता है कि राजा श्रेणिक तथा अन्य बड़े-बड़े सामंत, सेठ आदि नरेन्द्र यहां रहते थे अतः इसका नाम 'नारेन्द्र' प्रसिद्ध हुआ। मागधी उच्चारण की प्रक्रिया के अनुसार 'नारेन्द्र' का 'नालेन्द्र' और बाद में ह्रस्व होने पर नालिंद तथा 'इ' का 'अ' होने पर नालंद होना स्वाभाविक है। नालंदा की यह व्युत्पत्ति विशेष उपयुक्त मालूम होती है।

उदय पेढालपुत्त :

नालंदा में लेव नामक एक उदार एवं विश्वासपात्र गृहस्थ रहता था। वह जैन-परम्परा एवं जैनधर्म का असाधारण श्रद्धालु था। उसके परिचय के लिए सूत्र में अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वह जैन श्रमणोपासक होने के कारण जैन-तत्त्वज्ञान से पूर्ण परिचित था एवं तद्विषयक सारी बातें निश्चिततया समझता था। उसका द्वार दान के लिए हमेशा खुला रहता था। उसे राजा के अन्तःपुर में भी जाने-आने की छूट थी अर्थात् वह इतना विश्वासपात्र था कि राजभंडार में तो क्या रानियों के निवास-स्थान में भी उसका प्रवेश अनुमत था।

नालंदा के ईशानकोण में लेवद्वारा निर्मापित सेसदविया—शेषद्रव्या नामक एक विशाल उदकशाला—प्याऊ थी। शेषद्रव्या का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि लेवने जब अपने रहने के लिए मकान बंधवाया तब उसमें से बची हुई सामग्री (शेष द्रव्य) द्वारा इस उदकशाला का निर्माण करवाया। अतएव इसका नाम शेषद्रव्या रखा। इस उदकशाला के ईशानकोण में हत्थिजाम—हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। यह वनखण्ड बहुत ठंडा था। इस वनखण्ड में एक समय गौतम इन्द्रभूति ठहरे हुए थे। उस समय मेयज्जगोत्रीय पेढालपुत्त उदयनामक एक पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ गौतम के पास आया और बोला—हे आयुष्मान् गौतम! मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप उसका यथाश्रुत एवं यथादर्शित उत्तर दीजिए। गौतम ने कहा—हे आयुष्मन्! प्रश्न सुनने व समझने के बाद तद्विषयक चर्चा करूँगा।

उदय निर्ग्रन्थ ने पूछा—हे आयुष्मान् गौतम ! आपके प्रवचन का उपदेश देने वाले कुमारपुत्तिय—कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रावक को जब प्रत्याख्यान—त्याग करवाते हैं तब यों कहते हैं कि अभियोग[1] को छोड़कर गृहपतिचौरविमोक्षण-न्याय[2] के अनुसार तुम्हारे त्रसप्राणियों की हिंसा का त्याग है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इससे प्रत्याख्यान कराने वाला व प्रत्याख्यान करने वाला दोनों दोष के भागी होते हैं। यह कैसे ? संसार में जन्म धारण करने वाले प्राणी स्थावररूप से भी जन्म ग्रहण करते हैं और त्रसरूप से भी। जो स्थावररूप से जन्म लेते हैं वे ही त्रसरूप से भी जन्म लेते हैं तथा जो त्रसरूप से जन्म लेते हैं वे ही स्थावररूप से भी जन्म लेते हैं अतः स्थावर और त्रस प्राणियों की समझ में बहुत उलझन होती है। कौन-सा प्राणी स्थावर है और कौन-सा त्रस, इसका निपटारा अथवा निश्चय नहीं हो सकता। अतः त्रस प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान व उसका पालन कैसे संभव है ? ऐसी स्थिति में केवल त्रस प्राणी को हिंसा का प्रत्याख्यान करवाने के बजाय त्रसभूत प्राणी की अर्थात् जो वर्तमान में त्रसरूप है उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान करवाना चाहिए। इस प्रकार प्रत्याख्यान में 'त्रस' के बजाय 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा। इससे न प्रत्याख्यान देने वाले को कोई दोष लगेगा, न लेने वाले को। उदय पेढालपुत्त की इस शंका का समाधान करते हुए गौतम इन्द्रभूति मुनि ने कहा कि हमारा मत 'त्रस' के बजाय 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करने का समर्थन इसलिए नहीं करता कि आपलोग जिसे 'त्रसभूत' कहते हैं उसी अर्थ में हम लोग 'त्रस' शब्द का प्रयोग

---

१. अभियोग अर्थात् राजा की आज्ञा, गण की आज्ञा—गणतंत्रात्मक राज्य की आज्ञा, बलवान् की आज्ञा, माता-पिता आदि की आज्ञा तथा आजीविका का भय। इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में त्रस प्राणियों की हिंसा का त्याग करना।

२. गृहपतिचौरविमोक्षणन्याय इस प्रकार है :—किसी गृहस्थ के छः पुत्र थे। वे छहों किसी अपराध में फंस गये। राजा ने उन छहों को फांसी का दण्ड दिया। यह जानकर वह गृहस्थ राजा के पास आया और निवेदन करने लगा—महाराज ! यदि मेरे छहों पुत्रों को फांसी होगी तो मैं अपुत्र हो जाऊँगा। मेरा वंश आगे कैसे चलेगा ? मेरे वंश का समूल नाश हो जायगा। कृपया पांच को छोड़ दीजिये। राजा ने उसकी यह बात नहीं मानी। तब उसने चार को छोड़ने की बात कही। जब राजा ने यह भी स्वीकार नहीं किया तब उसने क्रमशः तीन, दो और अन्त में एक पुत्र को छोड़ देने की विनती की। राजाने उनमें से एक को छोड़ दिया। इसी न्याय से छः कायों में से स्थूल प्राणातिपात का त्याग किया जाता है अर्थात् त्रस प्राणियों की हिंसा न करने का नियम स्वीकार किया जाता है।

करते हैं। जिस जीव के त्रस नामकर्म तथा त्रस आयुष्यकर्म का उदय हो उसी को त्रस कहते हैं। इस प्रकार के उदय का सम्बन्ध वर्तमान से ही है, न कि भूत अथवा भविष्य से।

उदय पेढालपुत्त ने गौतम इन्द्रभूति से दूसरा प्रश्न यह पूछा है कि मान लीजिये इस संसार में जितने भी त्रसजीव हैं सबके सब स्थावर हो जायं अथवा जितने भी स्थावर जीव हैं सबके सब त्रस हो जायं तो आप जो प्रत्याख्यान करवाते हैं वह क्या व्यर्थ नहीं हो जायगा? सब जीवों के स्थावर हो जाने पर त्रस की हिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। इसी प्रकार सब जीवों के त्रस हो जाने पर त्रस की हिंसा का त्याग कैसे संभव हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि सब स्थावरों का त्रस हो जाना अथवा सब त्रसों का स्थावर हो जाना असंभव है। ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। इस तथ्यको समझाने के लिए सूत्रकार ने अनेक उदाहरण दिए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में इसी प्रकार की चर्चा है। इसमें कुछ शब्द एवं वाक्य ऐसे हैं जो पूरी तरह से समझ में नहीं आते। वृत्तिकार ने तो अपनी पारंपरिक अनुश्रुति के अनुसार उनका अर्थ कर दिया है किन्तु मूल शब्दों का जरा गहराई से विचार करने पर मन को पूरा संतोष नहीं होता। इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदय पेढालपुत्त एवं भगवान् महावीर के मुख्य गणधर गौतम इन्द्रभूति के बीच जो वाद-विवाद अथवा चर्चा हुई है उसकी पद्धति को दृष्टि में रखते हुए यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा वाले भगवान् महावीर की परम्परा को अपने से भिन्न परम्परा के रूप में ही मानते थे एवं महावीर की अथवा गौतम आदि की विनययुक्त प्रतिपत्ति नहीं करते थे, भले ही बाद में पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में मिल गई। इस अध्ययन में एक जगह स्पष्ट लिखा है कि जब गौतम उदय पेढालपुत्त को मैत्री एवं विनयप्रतिपत्ति के लिए समझाने लगे तो उदय ने गौतम के इस कथन का अनादर कर अपने स्थान पर लौट जाने का विचार किया: तएणं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए।

प्रकरण ५

स्थानांग व समवायांग

शैली

विषय-सम्बद्धता

विषय-वैविध्य

प्रव्रज्या

स्थविर

लेखन-पद्धति

अनुपलब्ध शास्त्र

गर्भधारण

भूकम्प

नदियाँ

राजधानियाँ

वृष्टि

पंचम प्रकरण

स्थानांग व समवायांग

गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा संचालित पूंजाभाई जैन ग्रंथमाला के २३ वें पुष्प के रूप में स्थानांग[1] तथा समवायांग[2] का पं० दलसुख मालवणियाकृत जो सुंदर, सुबोध एवं सुस्पष्ट अनुवाद प्रस्तावना व तुलनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है उससे इन दोनों अंगग्रंथों का परिचय प्राप्त हो जाता है। अतः इनके विषय में यहां विशेष लिखना अनावश्यक है। फिर भी इनके सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

---

1 (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२०; माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७.

(आ) आगमसंग्रह, बनारस, सन् १८८०.

(इ) अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—अष्टकोटि बृहत्पक्षीय संघ, मुंद्रा (कच्छ), वि. सं. १९९९.

(ई) गुजराती अनुवादसहित—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९३१.

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(ऊ) गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सन् १९५५.

2 (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१९; मफतलाल झवेरचंद्र, अहमदाबाद, सन् १९३८.

अंगसूत्रों में विशेषतः उपदेशात्मक एवं आत्मार्थी मुमुक्षुओं के लिए विध्यात्मक व निषेधात्मक वचन उपलब्ध हैं। कुछ सूत्रों में इस प्रकार के वचन सीधे रूप में हैं तो कुछ में कथाओं, संवादों एवं रूपकों के रूप में। स्थानांग व समवायांग में ऐसे वचनों का विशेष अभाव है। इन दोनों सूत्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये संग्रहात्मक कोश के रूप में निर्मित किये गये हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा इनके नाम एवं विषय सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। इन अंगों की विषयनिरूपणशैली से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि अन्य सब अंग पूर्णतया बन गये होंगे तब स्मृति अथवा धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषयों की खोज की सुगमता की दृष्टि से पीछे से इन दोनों अंगों की योजना की गई होगी तथा इन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने के हेतु इनका अंगों में समावेश कर दिया गया होगा। इन अंगों की उपलब्ध सामग्री व शैली को देख कर वृत्तिकार अभयदेवसूरि के मन में जो भावना उत्पन्न हुई उसका थोड़ा सा परिचय प्राप्त करना अनुपयुक्त न होगा। वे लिखते हैं :

सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥

वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धतः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यात् मतभेदाश्च कुत्रचित् ॥२॥

—स्थानांगवृत्ति के अन्त में प्रशस्ति.

यस्य ग्रन्थवरस्य वाक्यजलधेर्लक्षं सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो चतुर्भिरधिका मानं पदानामभूत्।

(आ) आगमसंग्रह, बनारस, सन् १८८०.

(इ) अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जेठालाल हरिभाई, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९९५.

(ई) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

(उ) गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद सन् १९५५.

(ऊ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६२.

तस्योच्चैश्चुलुकाकृतिं निदधतः कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलतां गतस्य कुधियः कुर्वन्तु किं मादृशाः ॥१॥
वरगुरुविरहात् वाऽतीतकाले मुनीशैर्गणधरवचनानां श्रस्तसंघातनात् वा।

× × ×

संभाव्योऽस्मिंस्तथापि क्वचिदपि मनसो मोहतोऽर्थादिभेदः ॥५॥

—समवायांगवृत्ति के अन्त में प्रशस्ति.

अर्थात् ग्रंथ को समझने की परम्परा का अभाव है, अच्छे तर्क का वियोग है, सब स्वपर शास्त्र देखे न जा सके और न उनका स्मरण ही हो सका, वाचनाएँ अनेक हो गई हैं, उपलब्ध पुस्तकें अशुद्ध हैं तथा ये सूत्र अति गम्भीर हैं। ऐसी स्थिति में उनकी व्याख्या में मतभेद होना संभव है।

इस ग्रन्थ की जो पदसंख्या बताई गई है उसे देखते हुए यह मालूम होता है कि काल आदि के दोष से यह ग्रन्थ बहुत छोटा हो गया है। लेखन ठीक न होने से ग्रन्थ छिन्न-भिन्न हो गया प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में इसकी व्याख्या करने में तत्पर मेरे जैसा दुर्बुद्धि क्या कर सकता है? फिर योग्य गुरु का विरह है अर्थात् शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले उत्तम गुरु की परम्परा नष्ट हो गई। गणधरों के वचन छिन्न-भिन्न हो गये। उन खंडित वचनों का आधार लेकर प्राचीन मुनिवरों ने शास्त्रसंयोजना की। अतः संभव है प्रस्तुत व्याख्या में कहीं अर्थ आदि की भिन्नता हो गई हो।

अभयदेवसूरि को इन दोनों ग्रंथों की व्याख्या करने में जिस कठिनाई का अनुभव हुआ है उसका हूबहू चित्रण उपर्युक्त पद्यों में उपलब्ध है। जिस युग में शास्त्रों के प्रामाण्य के विषय में शंका होते हुए भी एक अक्षर भी बोलना कठिन था उस युग में वृत्तिकार इससे अधिक क्या लिख सकता था? स्थानांग आदि को देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सम्यग्दृष्टिसम्पन्न गीतार्थ पुरुषों ने पूर्व परम्परा से चली आने वाली सूत्रसामग्री में महावीर के निर्वाण के बाद यत्र-तत्र वृद्धि-हानि की है जिसका कि उन्हें पूरा अधिकार था।

उदाहरण के लिए स्थानांग के नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर के नौ गणों के नाम आते हैं। ये नाम इस प्रकार हैं: गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उडुवातितगण, विस्सवातितगण, कामड्ढितगण, माणवगण और कोडितगण। कल्पसूत्र की स्थविरावली में इन गणों की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है:—

प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु के चार स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम गोदास था। इन काश्यप गोत्रीय गोदास स्थविर से गोदास नामक गण की उत्पत्ति हुई। एलावच्च गोत्रीय आर्य महागिरि के आठ स्थविर शिष्य थे। इनमें से एक का नाम उत्तरबलिस्सह था। इनसे उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। वासिष्ठगोत्रीय आर्य सुहस्ती के बारह स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम आर्यरोहण था। इन्हीं काश्यपगोत्रीय रोहण से उद्देहगण निकला। उन्हीं गुरु के शिष्य हारितगोत्रीय सिरिगुत्त से चारणगण की उत्पत्ति हुई, भारद्वाजगोत्रीय भद्दजस से उडुवाडियगण उत्पन्न हुआ एवं कुंडिल (कुंडलि अथवा कुडिल) गोत्रीय कामिड्ढि स्थविर से वेसवाडिय गण निकला। इसी प्रकार काकंदी नगरी निवासी वासिष्ठगोत्रीय इसिगुत्त से माणवगण एवं वग्घावच्चगोत्रीय सुस्थित व सुप्रतिबद्ध से कोडिय नामक गण निकला।

उपर्युक्त उल्लेख में कामड्ढित गण की उत्पत्ति का कोई निर्देश नहीं है। संभव है आर्य सुहस्ती के शिष्य कामड्ढि स्थविर से ही यह गण भी निकला हो। कल्पसूत्र की स्थविरावली में कामड्ढितगणविषयक उल्लेख नहीं है किन्तु कामड्ढित कुलसम्बन्धी उल्लेख अवश्य है। यह कामड्ढित कुल उस वेसवाडिय-विस्सवातित गण का ही एक कुल है जिसकी उत्पत्ति कामड्ढि स्थविर से बतलाई गई है। उपर्युक्त सभी गण भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष के बाद के काल के हैं। बाद के कुछ गण महावीर-निर्वाण के पांच सौ वर्ष के बाद के भी हो सकते हैं।

स्थानांग में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल इन सात निह्नवों का भी उल्लेख आता है। इनमें से प्रथम दो के अतिरिक्त सब निह्नवों की उत्पत्ति भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के समय में हुई है। अतएव यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इस सूत्र की अंतिम योजना वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ पुरुष ने अपने समय तक की घटनाओं को पूर्व परम्परा से चली आने वाली घटनाओं के साथ मिलाकर की है। यदि ऐसा न माना जाय तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि भगवान् महावीर के बाद घटित होने वाली उक्त सभी घटनाओं को किसी गीतार्थ स्थविर ने इस सूत्र में पीछे से जोड़ा है।

इसी प्रकार समवायांग में भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो महावीर के निर्वाण के बाद में हुई हैं। उदाहरण के लिए १०० वें सूत्र में इन्द्रभूति व सुधर्मा

के निर्वाण का उल्लेख। इन दोनों का निर्वाण महावीर के बाद हुआ है। अतः यह कथन कि यह सूत्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को कहा, अथवा सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी ने सुना, किस अर्थ में व कहाँ तक ठीक है, विचारणीय है। ऐसी स्थिति में आगमों को ग्रंथबद्ध करने वाले आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ही यदि इन दोनों अंगों के अंतिमरूप देनेवाले माने जायं तो भी कोई हर्ज नहीं।

शैली :

इन सूत्रों की शैली के विषय में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्थानांग के प्रथम प्रकरण में एक-एक पदार्थ अथवा क्रिया आदि का निरूपण है, द्वितीय में दो-दो का, तृतीय में तीन तीन का, यावत् अन्तिम प्रकरण में दस-दस पदार्थों अथवा क्रियाओं का वर्णन है। जिस प्रकरण में एकसंख्यक वस्तु का विचार है उसका नाम एकस्थान अथवा प्रथमस्थान है। इसी प्रकार द्वितीयस्थान यावत् दशमस्थान के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार स्थानांग में दस स्थान, अध्ययन अथवा प्रकरण हैं। जिस प्रकरण में निरूपणीय सामग्री अधिक है उसके उपविभाग भी किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण में ऐसे चार-चार उपविभाग हैं तथा पंचम प्रकरण में तीन उपविभाग हैं। इन उपविभागों का पारिभाषिक नाम 'उद्देश' है।

समवायांग की शैली भी इसी प्रकार की है किन्तु उसमें दस से आगे की संख्या वाली वस्तुओं का भी निरूपण है अतः उसकी प्रकरणसंख्या स्थानांग की तरह निश्चित नहीं है अथवा यों समझना चाहिए कि उसमें स्थानांग की तरह कोई प्रकरणव्यवस्था नहीं की गई है। इसीलिए नंदीसूत्र में समवायांग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें एक ही अध्ययन है।

स्थानांग व समवायांग की कोशशैली बौद्धपरम्परा एवं वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय, पुग्गलपञ्ञत्ति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्मसंग्रह में इसी प्रकार की शैली में विचारणाओं का संग्रह किया गया है। वैदिक परम्परा के ग्रंथ महाभारत के वनपर्व (अध्याय १३४) में भी इसी शैली में विचार संगृहीत किये गये हैं।

स्थानांग व समवायांग में संग्रहप्रधान कोशशैली होते हुए भी अनेक स्थानों पर इस शैली का सम्यक्तया पालन नहीं किया जा सका। इन स्थानों पर

या तो शैली खंडित हो गई है या विभाग करने में पूरी सावधानी नहीं रखी गई है। उदाहरण के लिए अनेक स्थानों पर व्यक्तियों के चरित्र आते हैं, पर्वतों का वर्णन आता है, महावीर और गौतम आदि के संवाद आते हैं। ये सब खंडित शैली के सूचक हैं। स्थानांग के सू० २४४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय चार प्रकार के हैं, सू० ४३१ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय पाँच प्रकार के हैं और सू० ४८४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय छः प्रकार के हैं। यह अन्तिम सूत्र तृणवनस्पतिकाय के भेदों का पूर्ण निरूपण करता है जबकि पहले के दोनों सूत्र इस विषय में अपूर्ण हैं। अन्तिम सूत्र की विद्यमानता में ये दोनों सूत्र व्यर्थ हैं। यह विभाजन की असावधानी का उदाहरण है।

समवायांग में एकसंख्यक प्रथम सूत्र के अन्त में इस आशय का कथन है कि कुछ जीव एकभव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद द्विसंख्यक सूत्र से लेकर तैंतीससंख्यक सूत्र तक इस प्रकार का कथन है कि कुछ जीव दो भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, कुछ जीव तीन भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, यावत् कुछ जीव तैंतीस भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद इस आशय का कथन बंद हो जाता है। इससे क्या समझा जाय? क्या कोई जीव चौंतीस भव अथवा इससे अधिक भव में सिद्धि प्राप्त नहीं करेगा? इस प्रकार के सूत्र विभाजन की शैली को दोषयुक्त बनाते हैं एवं अनेक प्रकार की विसंगति उत्पन्न करते हैं।

विषय-सम्बद्धता :

संकलनात्मक स्थानांग-समवायांग में वस्तु का निरूपण संख्या की दृष्टि से किया गया है अतः उनके अभिधेयों—प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर सम्बद्धता होना आवश्यक नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने खींचतान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमुक विषय के बाद अमुक विषय का कथन क्यों किया गया है? उदाहरणार्थ पहले के सूत्र में जम्बूद्वीपनामक द्वीप का कथन आता है और बाद के सूत्र में भगवान् महावीरविषयक वर्णन। इन दोनों का सम्बन्ध बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जम्बूद्वीप का यह प्ररूपण भगवान् महावीर ने किया है अतः जम्बूद्वीप के बाद महावीर का वर्णन असम्बद्ध नहीं है। पहले के सूत्र में महावीर का वर्णन आता है और बाद के सूत्र में अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले देवों का वर्णन। इन दोनों सूत्रों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि भगवान् महावीर निर्वाण प्राप्त कर जिस स्थान पर रहते हैं वह स्थान और

अनुत्तर विमान पास-पास ही हैं अतः महावीर के निर्वाण के बाद अनुत्तर विमान का कथन सुसंबद्ध है। इस प्रकार वृत्तिकार ने सब सूत्रों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध बैठाने का भारी प्रयास किया है। वास्तव में शब्दकोश के शब्दों की भाँति इन सूत्रों में परस्पर कोई अर्थसम्बन्ध नहीं है। संख्या की दृष्टि से जो कोई भी विषय सामने आया, सबका उस संख्यावाले सूत्र में समावेश कर दिया गया।

विषय-वैविध्य :

स्थानांग व समवायांग दोनों में जैन प्रवचनसंमत तथ्यों के साथ ही साथ लोकसंमत बातों का भी निरूपण है। इनके कुछ नमूने ये हैं :

स्थानांग, सू० ७१ में श्रुतज्ञान के दो भेद बताये गये हैं : अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगबाह्य के पुनः दो भेद हैं : आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकव्यतिरिक्त फिर दो प्रकार का है : कालिक और उत्कालिक। यहां उपांग नामक भेद का कोई उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि यह भेद विशेष प्राचीन नहीं है। इसी सूत्र में अन्यत्र केवलज्ञान के अवस्था, काल आदि की दृष्टि से अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। सर्वप्रथम केवलज्ञान के दो भेद बताये गये हैं : भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थकेवलज्ञान दो प्रकार का है : सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान। सयोगिभवस्थकेवलज्ञान पुनः दो प्रकार का है : प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अप्रथमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान अथवा चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अचरमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थकेवलज्ञान के भी दो-दो भेद समझने चाहिए। सिद्धकेवलज्ञान भी दो प्रकार का है : अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान व परम्पर-सिद्धकेवलज्ञान। इन दोनों के पुनः दो-दो भेद किये गये हैं।

इसी अंग के सू० ७५ में बताया गया है कि जिन जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियां होती हैं उनका शरीर अस्थि, मांस व रक्त से निर्मित होता है। इसी प्रकार जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियां अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इंद्रियां होती हैं उनका शरीर भी अस्थि, मांस व रक्त से बना होता है। जिनके श्रोत्र सहित पांच इंद्रियां होती हैं उनका शरीर अस्थि, मांस, रक्त, स्नायु व शिरा से निर्मित होता है। सूत्रकार के इस कथन की जांच प्राणिविज्ञान के आधार पर की जा सकती है।

सू० ४४६ में रजोहरण के पांच प्रकार बताये गये हैं : १. ऊन का रजोहरण, २. ऊंट के बाल का रजोहरण, ३. सन का रजोहरण, ४. बल्वज (तृणविशेष) का रजोहरण, ५. मूंज का रजोहरण। वर्तमान में केवल प्रथम प्रकार का रजोहरण ही काम में लाया जाता है।

इसी सूत्र में निर्ग्रन्थों व निर्ग्रन्थियों के लिए पांच प्रकार के वस्त्र के उपयोग का निर्देश किया गया है : १. जांगमिक—ऊनका, २. भांगिक—अलसी का, ३. शाणक—सन का, ४. पोत्तिक—सूतका, ५. तिरीडवट्ट—वृक्ष की छाल का। वृत्तिकार ने इन वस्त्रों का विशेष विवेचन किया है एवं बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए उत्सर्ग की दृष्टि से कपास व ऊन के ही वस्त्र ग्राह्य हैं और वे भी बहुमूल्य नहीं अपितु अल्पमूल्य। बहुमूल्य का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में प्रचलित मुद्रा के अठारह रुपये से अधिक मूल्य का वस्त्र बहुमूल्य समझना चाहिए।

प्रव्रज्या :

सू० ३५५ में प्रव्रज्या के विविध प्रकार बताये गये हैं जिन्हें देखने से प्राचीन समय के प्रव्रज्यादाताओं एवं प्रव्रज्याग्रहणकर्ताओं की परिस्थिति का कुछ पता लग सकता है। इसमें प्रव्रज्या चार प्रकार की बताई गई है : १. इहलोक-प्रतिबद्धा, २. परलोकप्रतिबद्धा, ३. उभयलोकप्रतिबद्धा, ४. अप्रतिबद्धा। १. केवल जीवन निर्वाह के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना इहलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। २. जन्मान्तर में कामादि सुखों की प्राप्ति के लिए प्रव्रज्या लेना परलोक-प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ३. उक्त दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रख कर प्रव्रज्या ग्रहण करना उभयलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ४. आत्मोन्नति के लिए प्रव्रज्या स्वीकार करना अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। अन्य प्रकार से प्रव्रज्या के चार भेद ये बतलाये गये हैं : १. पुरतः प्रतिबद्धा, २. मार्गतः प्रतिबद्धा, ३. उभयतः प्रतिबद्धा, ४. अप्रतिबद्धा। १. शिष्य व आहारादि की प्राप्ति के उद्देश्य से लीजाने वाली प्रव्रज्या पुरतः प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। २. प्रव्रज्या लेने के बाद स्वजनों में विशेषप्रतिबद्ध होना अर्थात् स्वजनों के लिए भौतिकसामग्री प्राप्त करने की भावना रखना मार्गतः प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ३. उक्त दोनों प्रकार की प्रव्रज्याओं का सम्मिश्रित रूप उभयतः प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ४ आत्मशुद्धि के लिए ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। प्रकारान्तर से प्रव्रज्या के चार भेद इस प्रकार बताये गये हैं : १. तुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात्

किसी को पीड़ा पहुँचाकर अथवा मंत्रादि द्वारा प्रव्रज्या की ओर मोड़ना एवं प्रव्रज्या देना। २. पुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को भगाकर प्रव्रज्या देना। आर्य रक्षित को इसी प्रकार प्रव्रज्या दी गई थी। ३. बुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् अच्छी तरह संभाषण करके प्रव्रज्या की ओर झुकाव पैदा करना एवं प्रव्रज्या देना अथवा मोयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को मुक्त कर अथवा मुक्त करने का लोभ देकर अथवा मुक्त करवाकर प्रव्रज्या की ओर झुकाना एवं प्रव्रज्या देना। ४. परिपुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को भोजन सामग्री आदि का प्रलोभन देकर अर्थात् उसमें भोजनादि की पर्याप्तता का आकर्षण उत्पन्न कर प्रव्रज्या देना।

सू० ७१२ में प्रव्रज्या के दस प्रकार बताये गये हैं: १. छंदप्रव्रज्या, २. रोषप्रव्रज्या, ३. परिद्यूनप्रव्रज्या, ४. स्वप्नप्रव्रज्या, ५. प्रतिश्रुतप्रव्रज्या, ६. स्मारणिकाप्रव्रज्या, ७. रोगिणिकाप्रव्रज्या, ८. अनादृतप्रव्रज्या, ९. देवसंज्ञप्ति-प्रव्रज्या, १०. वत्सानुबंधिताप्रव्रज्या।

१. स्वेच्छापूर्वक ली जाने वाली प्रव्रज्या छन्दप्रव्रज्या है। २. रोष के कारण ली जानेवाली प्रव्रज्या रोषप्रव्रज्या है। ३. दीनता अथवा दरिद्रता के कारण ग्रहण की जानेवाली प्रव्रज्या परिद्यूनप्रव्रज्या है। ४. स्वप्न द्वारा सूचना प्राप्त होने पर ली जाने वाली प्रव्रज्या को स्वप्नप्रव्रज्या कहते हैं। ५. किसी प्रकार की प्रतिज्ञा अथवा वचन के कारण ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या का नाम प्रतिश्रुतप्रव्रज्या है। ६. किसी प्रकार की स्मृति के कारण ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या स्मारणिकाप्रव्रज्या है। ७. रोगों के निमित्त से ली जाने वाली प्रव्रज्या रोगिणिकाप्रव्रज्या है। ८. अनादर के कारण ली जाने वाली प्रव्रज्या अनादृतप्रव्रज्या कहलाती है। ९. देव के प्रतिबोध द्वारा ली जाने वाली प्रव्रज्या का नाम देवसंज्ञप्तिप्रव्रज्या है। १०. पुत्र के प्रव्रजित होने के कारण माता-पिता द्वारा ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या को वत्सानुबंधिताप्रव्रज्या कहते हैं।

स्थविर :

सू० ७६१ में दस प्रकार के स्थविरों का उल्लेख है: १. ग्रामस्थविर, २. नगरस्थविर, ३. राष्ट्रस्थविर, ४. प्रशास्तास्थविर, ५. कुलस्थविर, ६. गणस्थविर, ७. संघस्थविर, ८. जातिस्थविर, ९. श्रुतस्थविर, १०. पर्यायस्थविर।

ग्राम को व्यवस्था करने वाला अर्थात् जिसका कहना सारा गांव माने वैसा शक्तिशाली व्यक्ति ग्रामस्थविर कहलाता है। इसी प्रकार नगरस्थविर एवं राष्ट्रस्थविर की व्याख्या समझनी चाहिए। लोगों को धर्म में स्थिर रखने वाले धर्मोपदेशक प्रशास्तास्थविर कहलाते हैं। कुल, गण एवं संघ की व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर, गणस्थविर एवं संघस्थविर कहलाते हैं। साठ अथवा साठ से अधिक वर्ष की आयु वाले वयोवृद्ध जातिस्थविर कहे जाते हैं। स्थानांग आदि श्रुत के धारक को श्रुतस्थविर कहते हैं। जिसका दीक्षा-पर्याय बीस वर्ष का हो गया हो वह पर्यायस्थविर कहलाता है। अन्तिम दो भेद जैन परिभाषा-सापेक्ष हैं। ये दस भेद प्राचीन काल की ग्राम, नगर, राष्ट्र, कुल, गण आदि की व्यवस्था के सूचक हैं।

लेखन-पद्धति :

समवायांग, सू० १८ में लेखन-पद्धति के अठारह प्रकार बताये गये हैं जो ब्राह्मी लिपि के अठारह भेद हैं। इन भेदों में ब्राह्मी को भी गिना गया है जिसके कारण भेदों की संख्या उन्नीस हो गई है। इन भेदों के नाम इस प्रकार हैं : १. ब्राह्मी, २. यावनी, ३. दोषोपकरिका, ४. खरोष्ट्रिका, ५. खरश्राविता, ६. पकारादिका, ७. उच्चत्तरिका, ८. अक्षरपृष्ठिका, ९. भोगवतिका, १०. वैणयिका, ११. निह्नविका, १२. अंकलिपि, १३. गणित-लिपि, १४. गांधर्वलिपि, १५. भूतलिपि, १६. आदर्शलिपि, १७. माहेश्वरी-लिपि, १८. द्राविडलिपि, १९. पुलिंदलिपि। वृत्तिकार ने इस सूत्र की टीका करते हुए लिखा है कि इन लिपियों के स्वरूप के विषय में किसी प्रकार का विवरण उपलब्ध नहीं हुआ अतः यहां कुछ न लिखा गया : *एतत्स्वरूपं न दृष्टं, इति न दर्शितम्।*

वर्तमान में उपलब्ध साधनों के आधार पर लिपियों के विषय में इतना कहा जा सकता है कि अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि का नाम ब्राह्मीलिपि है। यावनीलिपि अर्थात् यवनों की लिपि। भारतीय लोगों से भिन्न लोगों की लिपि यावनीलिपि कहलाती है, यथा अरबी, फारसी आदि। खरोष्ठी लिपि दाहिनी ओर से प्रारंभ कर बाईं ओर लिखी जाती है। इस लिपि का प्रचार गांधार देश में था। इस लिपि में भी उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश में अशोक के एक-दो शिलालेख मिलते हैं। गधे के होठ को खरोष्ठ कहते हैं। कदाचित् इस लिपि के मोड़ का सम्बन्ध गधे के होठ के साथ हो और इसीलिए इसका नाम खरोष्ठी खरोष्ठिका अथवा खरोष्ट्रिका पड़ा हो। खरश्राविता अर्थात् सुनने में कठोर लगने

वाली। संभवतः इस लिपि का उच्चारण कर्ण के लिए कठोर हो जिससे इसका नाम खरश्राविता प्रचलित हुआ हो। पकारादिका जिसका प्राकृत रूप पहाराइमा अथवा पआराइआ है, संभवतः पकार से प्रारंभ होती हो जिससे इसका यह नाम पड़ा हो। निह्नविका का अर्थ है सांकेतिक अथवा गुप्तलिपि। कदाचित् यह लिपि विशेष प्रकार के संकेतों से निर्मित हुई हो। अंकों से निर्मित लिपि का नाम अंकलिपि है। गणितशास्त्र सम्बन्धी संकेतों की लिपि को गणितलिपि कहते हैं। गांधर्वलिपि अर्थात् गंधर्वों की लिपि एवं भूतलिपि अर्थात् भूतों की लिपि। संभवतः गंधर्व जाति में काम में आनेवाली लिपि का नाम गांधर्वलिपि एवं भूतजाति में अर्थात् भोट याने भोटिया लोगों में अथवा भूतान के लोगों में प्रचलित लिपि का नाम भूतलिपि पड़ा हो। कदाचित् पैशाची भाषा की लिपि भूतलिपि हो। आदर्शलिपि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हुआ है। माहेश्वरों की लिपि का नाम माहेश्वरीलिपि है। वर्तमान में माहेश्वरी नामक एक जाति है। उसके साथ इस लिपि का कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह अन्वेषणीय है। द्रविड़ों की लिपि का नाम द्राविड़लिपि है। पुलिंदलिपि शायद भील लोगों की लिपि हो। शेष लिपियों के विषय में कोई विशेष बात मालूम नहीं हुई है। लिपिविषयक मूल पाठ की अशुद्धि के कारण भी एतद्विषयक विशेष कठिनाई सामने आती है। बौद्धग्रंथ ललितविस्तर में चौसठ लिपियों के नाम बताये गये हैं। इन एवं इस प्रकार के अन्यत्र उल्लिखित नामों के साथ इस पाठ को मिलाकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

समवायांग, सू. ४६ में ब्राह्मी लिपि में उपयोग में आने वाले अक्षरों की संख्या ४६ बताई गई है। वृत्तिकार ने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि ये ४६ अक्षर अकार से लगाकर क्ष सहित हकार तक के होने चाहिए। इनमें ऋ, ॠ, लृ, ॡ और ळ ये पाँच अक्षर नहीं गिनने चाहिए। यह ४६ की संख्या इस प्रकार है: ऋ, ॠ, लृ और ॡ इन चार स्वरों के अतिरिक्त अ से लगाकर अः तक के १२ स्वर; क से लगाकर म तक के २५ स्पर्शाक्षर; य, र, ल और व ये ४ अंतस्थ; श, ष, स और ह ये ४ ऊष्माक्षर; १क्ष = १२ + २५ + ४ + ४ + १ = ४६।

अनुपलब्ध शास्त्र :

स्थानांग व समवायांग में कुछ ऐसे जैनशास्त्रों के नाम भी मिलते हैं जो वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। इसी प्रकार इनमें अंतकृद्दशा एवं अनुत्तरौपपातिक नामक अंगों के ऐसे प्रकरणों का भी उल्लेख है जो इन ग्रन्थों के उपलब्ध संस्करण में

अनुपलब्ध हैं। मालूम होता है या तो नामों में कुछ परिवर्तन हो गया है या वाचना में अन्तर हुआ है।

गर्भधारण :

स्थानांग, सू. ४१६ में बताया गया है कि पुरुष के संसर्ग के बिना भी निम्नोक्त पाँच कारणों से स्त्री गर्भ धारण कर सकती है। (१) जिस स्थान पर पुरुष का वीर्य पड़ा हो उस स्थान पर स्त्री इस ढंग से बैठे कि उसकी योनि में वीर्य प्रविष्ट हो जाय, (२) वीर्यसंसक्त वस्त्रादि द्वारा वीर्य के अणु स्त्री की योनि में प्रविष्ट हो जायं, (३) पुत्र की आकांक्षा से नारी स्वयं वीर्याणुओं को अपनी योनि में रखे अथवा अन्य से रखवावे, (४) वीर्याणुयुक्त पानी पीये, (५) वीर्याणुयुक्त पानी में स्नान करे।

भूकम्प :

स्थानांग, सू. १९८ में भूकम्प के तीन कारण बताये गये हैं : (१) पृथ्वी के नीचे के घनवात के व्याकुल होने पर घनोदधि में तूफान आने पर, (२) किसी महासमर्थ महोरग देव[1] द्वारा अपना सामर्थ्य दिखाने के लिए पृथ्वी को चालित करने पर, (३) नागों एवं सुपर्णों–गरुडों[2] में संग्राम होने पर।

नदियाँ :

स्थानांग, सू. ८८ में भरतक्षेत्र में बहनेवाली दो महानदियों के नामों का उल्लेख है : गंगा और सिंधु। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि गंगा नाम आर्यभाषाभाषियों के उच्चारण का है। इसका वास्तविक नाम तो 'खोंग' है। 'खोंग' शब्द तिब्बती भाषा का है जिसका अर्थ होता है नदी। इस शब्द का भारतीय उच्चारण गंगा है। यह शब्द अति लंबे काल से अपने मूल अर्थ को छोड़ कर विशेष नदी के नाम के रूप में प्रचलित हो गया है। सू० ४१२ में गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही—ये पांच नदियां महार्णवरूप अर्थात् समुद्र के समान कही गई हैं। इन्हें जैन श्रमणों व श्रमिणियों को महीने में दो-तीन बार पार न करने के लिए कहा गया है।

राजधानियाँ :

स्थानांग, सू० ७१८ में भरतक्षेत्र की निम्नोक्त दस राजधानियों के नाम गिनाये गये हैं : चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर,

१. एक प्रकार का व्यन्तर देव.

२. भवनपति देवों की दो जातियाँ.

कांपिल्य, मिथिला, कौशांबी और राजगृह। वृत्तिकार ने इनसे सम्बन्धित देशों के नाम इस प्रकार बताये हैं : अंग, शूरसेन, काशी, कुणाल, कोशल, कुरु, पांचाल, विदेह, वत्स और मगध। वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि श्रमण-श्रमणियों को ऐसी राजधानियों में उत्सर्ग के तौर पर अर्थात् सामान्यतया महीने में दो-तीन बार अथवा इससे अधिक प्रवेश नहीं करना चाहिए क्योंकि वहां यौवनसम्पन्न रमणीय वारांगनाओं एवं अन्य मोहक तथा वासनोत्तेजक सामग्री के दर्शन से अनेक प्रकार के दूषणों की संभावना रहती है। वृत्तिकार ने यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात लिखी है जिसकी ओर वर्तमानकालीन श्रमणसंघ का ध्यान आकृष्ट होना अत्यावश्यक है। राजधानियां तो अनेक हैं किन्तु यहाँ दस की विवक्षा के कारण दस ही नाम गिनाये गये हैं।

वृष्टि :

इसी अंग के सू० १७६ में अल्पवृष्टि एवं महावृष्टि के तीन-तीन कारण बतलाये गये हैं : १. जिस देश अथवा प्रदेश में जलयोनि के जीव अथवा पुद्गल अल्प मात्रा में हों वहां अल्पवृष्टि होती है। २. जिस देश अथवा प्रदेश में देव, नाग, यक्ष, भूत आदि की सम्यग् आराधना न होती हो वहां अल्पवृष्टि होती है। ३. जहां से जलयोनि के पुद्गलों अर्थात् बादलों को वायु अन्यत्र खींच ले जाता है अथवा बिखेर देता है वहां अल्पवृष्टि होती है। इनसे ठीक विपरीत तीन कारणों से बहुवृष्टि अथवा महावृष्टि होती है। यहां बताये गये देव, नाग, यक्ष, भूत आदि की आराधना रूप कारण का वृष्टि के साथ क्या कार्यकारण सम्बन्ध है, यह समझ में नहीं आता। सम्भव है, इसका सम्बन्ध वैदिक परम्परा की उस मान्यता से हो जिसमें यज्ञ द्वारा देवों को प्रसन्न कर उनके द्वारा मेघों का प्रादुर्भाव माना जाता है।

इस प्रकार इन दोनों अंगों में अनेक विषयों का परिचय प्राप्त होता है। वृत्तिकार ने अति परिश्रमपूर्वक इन पर विवेचन लिखा है। इससे सूत्रों को समझने में बहुत सहायता मिलती है। यदि यह वृत्ति न होती तो इन अंगों को सम्पूर्णतया समझना अशक्य नहीं तो भी दुःशक्य तो अवश्य होता। इस दृष्टि से वृत्तिकार की बहुश्रुतता, प्रवचनभक्ति एवं अन्य परम्परा के ग्रन्थों का उपयोग की वृत्ति विशेष प्रशंसनीय है।

प्रकरण ६

व्याख्याप्रज्ञप्ति

मंगल

प्रश्नकार गौतम

प्रश्नोत्तर

देवगति

कांक्षामोहनीय

लोक का आधार

पार्श्वापत्य

वनस्पतिकाय

जीव की समानता

केवली

श्वासोच्छ्वास

जमालि-चरित

शिवराजर्षि

परिव्राजक तापस

स्वर्ग

देवभाषा

गोशालक

वायुकाय व अग्निकाय

जरा व शोक

सावद्य व निरवद्य भाषा

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव

स्वप्न

कोणिक का प्रधान हाथी

कम्प

नरकस्थ एवं स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक आदि जीव

प्रथमता-अप्रथमता

कार्तिक सेठ

माकंदी अनगार

युग्म

पुद्गल

मद्रुक श्रमणोपासक

पुद्गल-ज्ञान

यापनीय

मास

विविध

उपसंहार

षष्ठ प्रकरण

व्याख्याप्रज्ञप्ति

पांचवें अंग का नाम वियाहपण्णत्ति --व्याख्याप्रज्ञप्ति[1] है। अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक विशाल एवं इसीलिए अधिक पूज्य होने के कारण इसका दूसरा

---

1 (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२१; धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८२; ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वे० संस्था, रतलाम, सन् १९३७-१९४० (१४ शतक तक).

(आ) १५वें शतक का अंग्रेजी अनुवाद—Hoernle, Appendix to उपासकदशा, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1885-1888.

(इ) षष्ठ शतक तक अभयदेवकृत वृत्ति व उसके गुजराती अनुवाद के साथ—बेचरदास दोशी, जिनागम प्रकाशक सभा, बम्बई, वि. सं. १९७४-१९७९; शतक ७-१५ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, वि. सं. १९८५; शतक १६-४१ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, वि सं. १९८८.

(ई) भगवतीसार : गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३८.

(उ) हिन्दी विषयानुवाद (शतक १-२०)—मदनकुमार मेहता, श्रुत-प्रकाशन-मंदिर, कलकत्ता, वि. सं. २०११.

(ऊ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६१.

(ऋ) हिन्दी अनुवाद के साथ—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

नाम भगवती भी प्रसिद्ध है। विद्यमान व्याख्याप्रज्ञप्ति का ग्रंथाग्र १५००० श्लोक प्रमाण है। इसका प्राकृत नाम वियाहपण्णत्ति है किन्तु लेखकों—प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण कहीं-कहीं विवाहपण्णत्ति तथा विबाहपण्णत्ति पाठ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार वियाहपण्णत्ति, विवाहपण्णत्ति एवं विबाहपण्णत्ति इन तीन पाठों में वियाहपण्णत्ति पाठ ही प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित है। जहां-कहीं यह नाम संस्कृत में आया है, सर्वत्र व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द का ही प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इन तीनों पाठों में से वियाहपण्णत्ति पाठ की व्याख्या सर्वप्रथम करके इस पाठ को विशेष महत्व दिया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द की व्याख्या वृत्तिकार ने अनेक प्रकार से की है :

१. वि+आ + ख्या + प्र + ज्ञप्ति अर्थात् विविध प्रकार से समग्रतया कथन का प्रकृष्ट निरूपण। जिस ग्रंथ में कथन का विविध ढंग से सम्पूर्णतया प्रकृष्ट निरूपण किया गया हो वह ग्रंथ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है : वि विविधाः, आ अभिविधिना, ख्याः ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्याः ताः प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।

२. वि + आख्या + प्रज्ञप्ति अर्थात् विविधतया कथन का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध रूप से कथन का प्रतिपादन किया गया हो उसका नाम है व्याख्याप्रज्ञप्ति। वृत्तिकार ने इस व्याख्या को यों बताया है : वि विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्ते इति व्याख्याः ताः प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम्।

३. व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति अथवा आत्ति अर्थात् व्याख्यान की कुशलता से प्राप्त होने वाला अथवा ग्रहण किया जाने वाला श्रुतविशेष व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञात्ति कहलाता है।

४. व्याख्याप्रज्ञ + आप्ति अथवा आत्ति अर्थात् व्याख्या करने में प्रज्ञ अर्थात् कुशल भगवान् से गणधर को जिस ग्रंथ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो अथवा कुछ ग्रहण करने का अवसर मिले उसका नाम व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञात्ति है।

विवाहप्रज्ञप्ति की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है : वि + वाह + प्रज्ञप्ति अर्थात् विविध प्रवाहों का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध अथवा विशिष्ट अर्थप्रवाहों का प्ररूपण किया गया हो उसका नाम है विवाहप्रज्ञप्ति—विवाहपण्णत्ति।

इसी प्रकार विबाधप्रज्ञप्ति का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि वि अर्थात् रहित, बाध अर्थात् बाधा एवं प्रज्ञप्ति अर्थात् निरूपण यानी जिस ग्रंथ में

बाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित निरूपण उपलब्ध हो उसका नाम विबाध-प्रज्ञप्ति—विबाहपण्णत्ति है। इन शब्दों में भी प्राप्ति एवं आप्ति जोड़ कर पूर्ववत् अर्थ समझ लेना चाहिए।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में जो शैली विद्यमान है वह गौतम के प्रश्नों एवं भगवान् महावीर के उत्तरों के रूप में है। यह शैली अति प्राचीन प्रतीत होती है। अचेलक परम्परा के ग्रंथ राजवार्तिक में भट्ट अकलंक ने व्याख्याप्रज्ञप्ति में इस प्रकार की शैली होने का स्पष्ट उल्लेख किया है: एवं हि व्याख्या-प्रज्ञप्तिदंडकेषु उक्तम्......इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम् (अ० ४, सू० २६, पृ० २४५)।

इस अंग के प्रकरणों को 'सय'—'शत' नाम दिया गया है। जैन परम्परा में 'शतक' शब्द प्रसिद्ध ही है। यह 'शत' का ही रूप है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में 'सयं समत्तं' ऐसा पाठ मिलता है। शत अथवा शतक में उद्देशक रूप उपविभाग हैं। ऐसे उपविभाग कुछ शतकों में दस-दस हैं और कुछ में इससे भी अधिक हैं। इकतालीसवें शतक में १९६ उद्देशक हैं। कुछ शतकों में उद्देशकों के स्थान पर वर्ग हैं जब कि कुछ में शतनामक उपविभाग भी हैं एवं इनकी संख्या १२४ तक है। केवल पंद्रहवें शतक में कोई उपविभाग नहीं है। शत अथवा शतक का अर्थ सौ होता है। इन शतकों में सौ का कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। यह शत अथवा शतक नाम प्रस्तुत ग्रन्थ में रूढ है। कदाचित् कभी यह नाम अन्वर्थ रहा हो। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार ने कोई विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया है।

मंगल :

भगवती के अतिरिक्त अंग अथवा अंगबाह्य किसी भी सूत्र के प्रारंभ में मंगल का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नहीं होता। इस पांचवें अंग के प्रारंभ में 'नमो अरिहंताणं' आदि पांच पद देकर शास्त्रकार ने मंगल किया है। इसके बाद 'नमो बंभीए लिवीए' द्वारा ब्राह्मी लिपि को भी नमस्कार किया है। तदनन्तर प्रस्तुत अंग के प्रथम शतक के उद्देशकों में वर्णित विषयों का निर्देश करनेवाली एक संग्रह-गाथा दी गई है। इस गाथा के बाद 'नमो सुअस्स' रूप एक मंगल और आता है। इसे प्रथम शतक का मंगल कह सकते हैं। शतक के प्रारंभ में उपोद्घात है जिसमें राजगृह नगर, गुणशिलक चैत्य, राजा श्रेणिक तथा रानी

चिल्लणा का उल्लेख है। इसके बाद भगवान् महावीर तथा उनके गुणों का विस्तृत वर्णन है। तदनन्तर भगवान् के प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम, उनके गुण, शरीर आदि का विस्तृत परिचय है। इसके बाद 'इंद्रभूति ने भगवान् से यों कहा' इस प्रकार के उल्लेख के साथ इस सूत्र में आने वाले प्रथम प्रश्न की शुरुआत होती है। वैसे तो इस सूत्र में अनेक प्रकार के प्रश्न व उनके उत्तर हैं किन्तु अधिक भाग स्वर्गों, सूर्यों, इन्द्रों, असुरकुमारों, असुरकुमारेन्द्रों, उनकी अग्रमहिषियों, उनके लोकपालों, नरकों आदि से सम्बन्धित है। कुछ प्रश्न एक ही समान हैं। उनके उत्तर पूर्ववत् समझ लेने का निर्देश किया गया है। कुछ स्थानों पर पन्नवणा, जीवाभिगम, नंदी आदि के समान तद्-तद् विषयों को समझ लेने का भी उल्लेख किया गया है। वैसे देखा जाय तो प्रथम शतक विशेष महत्त्वपूर्ण है। आगे के शतकों में किसी न किसी रूप में प्रायः प्रथम शतक के विषयों की ही चर्चा की गई है। कुछ स्थानों पर अन्यतीर्थिकों के मत दिये गये हैं किन्तु उनका कोई विशेष नाम नहीं बताया गया है। इस अंग में भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों की चर्चा भी आती है। उन्हें पार्श्वापत्य कहा गया है। इसमें श्रावकों द्वारा की गई चर्चा भी आती है। श्राविका के रूप में तो एकमात्र जयंती श्राविका की ही चर्चा दिखाई देती है। इस सूत्र में भगवान् महावीर के समकालीन मंखलिपुत्र गोशाल के विषय में विस्तृत विवेचन है। गोशाल के कुछ सहायकों को 'पासत्थ' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। चूर्णिकार ने इन्हें पार्श्वनाथ के अनुयायी कहा है।

प्रश्नकार गौतम :

सूत्र के प्रारंभ में जहां प्रश्नों की शुरुआत होती है वहां वृत्तिकार के मन में यह प्रश्न उठता है कि प्रश्नकार गौतम स्वयं द्वादशांगी के विधाता हैं, श्रुत के समस्त विषयों के ज्ञाता हैं तथा सब प्रकार के संशयों से रहित हैं। इतना ही नहीं, ये सर्वज्ञ के समान हैं तथा मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान के धारक हैं। ऐसी स्थिति में उनका संशययुक्त सामान्य जन की भांति प्रश्न पूछना कहां तक युक्तिसंगत है? इसका उत्तर वृत्तिकार इस प्रकार देते हैं :—

१. गौतम कितने ही अतिशययुक्त क्यों न हों, उनसे भूल होना असंभव नहीं क्योंकि आखिर वे हैं तो छद्मस्थ ही।

२. खुद जानते हुए भी अपने ज्ञान की अविसंवादिता के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं।

३. खुद जानते हुए भी अन्य अज्ञानियों के बोध के लिए पूछ सकते हैं।
४. शिष्यों को अपने वचन में विश्वास बैठाने के लिए पूछ सकते हैं।
५. सूत्ररचना की यही पद्धति है—शास्त्ररचना का इसी प्रकार का आचार है।

इन पांच हेतुओं में से अन्तिम हेतु विशेष युक्तियुक्त मालूम होता है।

प्रश्नोत्तर :

प्रथम शतक में कुछ प्रश्न व उनके उत्तर इस प्रकार हैं :—

प्रश्न—क्या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति जीवरूप हैं? इन जीवों की आयु कितनी होती है?

उत्तर—पृथ्वीकायरूप आदि जीव हैं और उनमें से पृथ्वीकायरूप जीवों की आयु कम से कम अन्तर्मुहूर्त व अधिक से अधिक बाईस हजार वर्ष की होती है। जलकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक सात हजार वर्ष, अग्निकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक तीन अहोरात्रि, वायुकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक तीन हजार वर्ष एवं वनस्पतिकाय के जीवों की आयु अधिक से अधिक दस हजार वर्ष की होती है। इन सब की कम से कम आयु अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न—पृथ्वीकाय यावत् वनस्पतिकाय के जीव कितने समय में श्वास लेते हैं।

उत्तर—विविध समय में अर्थात् विविध रीति से श्वास लेते हैं।

प्रश्न—क्या ये सब जीव आहार लेते हैं?

उत्तर—हां, ये सभी जीव आहार लेते हैं।

प्रश्न—ये सब जीव कितने समय में आहार ग्रहण करते हैं?

उत्तर—ये सब जीव निरन्तर आहार ग्रहण करते हैं।

ये जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं वे काले, नीले, पीले, लाल एवं सफेद होते हैं। ये सब सुगंधी भी होते हैं और दुर्गंधी भी। स्वाद में सब प्रकार के स्वादों से युक्त होते हैं एवं स्पर्श में सब प्रकार के स्पर्शवाले होते हैं।

इसी प्रकार के प्रश्न द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी भी हैं।

प्रश्न—जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं अथवा अनारंभी हैं?

उत्तर—कुछ जीव आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं उभयारंभी भी हैं तथा कुछ जीव आत्मारंभी भी नहीं हैं, परारंभी भी नहीं हैं और उभयारंभी भी नहीं हैं किन्तु केवल अनारंभी हैं।

यहां आरम्भ का अर्थ आस्रवद्वार सम्बन्धी प्रवृत्ति है। यतनारहित आचरण करने वाले समस्त जीव आरंभी हो हैं। यतनासहित एवं शास्त्रोक्त विधान के अनुसार आचरण करनेवाले जीव भी वैसे तो आरंभी हैं किन्तु यतना की अपेक्षा से अनारंभी हैं। सिद्ध आत्माएं अशरीरी होने के कारण अनारंभी ही हैं।

प्रश्न—क्या असंयत अथवा अविरत जीव भी मृत्यु के बाद देव होते हैं ?

उत्तर—हां, होते हैं।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर – जिन्होंने भूख, प्यास, डांस, मच्छर आदि के उपसर्ग अनिच्छा से भी सहे हैं वे वाणव्यन्तर नामक देवों की गति प्राप्त करते हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य का अनिच्छा से भी पालन किया है इस प्रकार की कुलीन बालविधवाएं अथवा अश्व आदि प्राणी देवगति प्राप्त करते हैं। जिन्होंने अनिच्छापूर्वक भी शीत, ताप आदि सहन किया है वे भी देवगति प्राप्त करते हैं।

प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक के प्रारंभ में इस प्रकार का उपोद्घात है कि भगवान् महावीर राजगृह में आये तथा देशना दी। इसके बाद स्वकृत कर्म के वेदन की चर्चा है। जीव जिस किसी सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है वह सब स्वकृत ही होता है, परकृत नहीं। इस कथन से ईश्वरादिकर्तृत्व का निरसन होता है।

देवगति :

जो असंयत हैं अर्थात् ऊपर-ऊपर से संयम के उग्र अनुष्ठानों का आचरण करने वाले हैं एवं भीतर से केवल मान-पूजा-प्रतिष्ठा के ही अभिलाषी हैं वे मर कर कम से कम भवनवासी नामक देवगति में उत्पन्न होते हैं व अधिक से अधिक ग्रैवेयक नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। जो संयम की अधिकांशतया निर्दोष आराधना करते हैं वे कम से कम सौधर्म नामक स्वर्ग में व अधिक से अधिक सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में देव होते हैं। जिन्होंने संयम की विराधना की हो अर्थात् संयम का दूषित ढंग से पालन किया हो वे कम से कम भवनवासी देवयोनि में व अधिक से अधिक सौधर्म देवलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। जो श्रावकधर्म का अधिकांशतया निर्दोष ढंग से पालन करते हैं वे कम से कम सौधर्म देवलोक में व अधिक से अधिक अच्युत विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने श्रावकधर्म का दूषित ढंग से पालन किया हो वे कम से कम भवनवासी व अधिक

से अधिक ज्योतिष्क देव होते हैं। जो जीव असंज्ञी हैं अर्थात् मन-रहित हैं वे परवशता के कारण दुःख सहन कर भवनवासी देव होते हैं अथवा वाणव्यन्तर की गति प्राप्त करते हैं। तापस लोग अर्थात् जो जिनप्रवचन का पालन करने वाले नहीं हैं वे घोर तप के कारण कम से कम भवनवासी एवं अधिक से अधिक ज्योतिष्क देवों की गति प्राप्त करते हैं। जो कांदर्पिक हैं अर्थात् बहुरूपादि द्वारा दूसरों को हँसाने वाले हैं वे केवल बाह्यरूप से जैन संयम की आराधना कर कम से कम भवनवासी एवं अधिक से अधिक सौधर्म देव होते हैं। चरक अर्थात् जोर से आवाज लगाकर भिक्षा प्राप्त करने वाले त्रिदंडी, लंगोटधारी तथा परिव्राजक अर्थात् कपिलमुनि के शिष्य कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग तक पहुँचते हैं। किल्विषिक अर्थात् बाह्यतया जैन संयम की साधना करते हुए भी जो ज्ञान का, ज्ञानी का, धर्माचार्य का, साधुओं का अवर्णवाद याने निन्दा करने वाले हैं वे कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक लांतक नामक स्वर्ग तक पहुँचते हैं। जिनमार्गानुयायी तिर्यञ्च अर्थात् गाय, बैल, घोड़ा आदि कम से कम भवनवासी देवरूप से उत्पन्न होते हैं एवं अधिक से अधिक लांतक से भी आगे आये हुए सहस्रार नामक स्वर्ग तक जाते हैं। वृत्तिकार ने बताया है कि तिर्यञ्च भी अपनी मर्यादा के अनुसार श्रावकधर्म का पालन कर सकते हैं। आजीविक अर्थात् आजीविक मत के अनुयायी कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक सहस्रार से भी आगे आये हुए अच्युत नामक स्वर्ग तक जा सकते हैं। आभियोगिक अर्थात् जो जैन वेषधारी होते हुए भी मंत्र, तंत्र, वशीकरण आदि का प्रयोग करने वाले हैं, सिर पर विभूति अर्थात् वासक्षेप डालने वाले हैं, प्रतिष्ठा के लिए निमित्तशास्त्र आदि का उपयोग करने वाले हैं वे कम से कम भवनवासी देव होते हैं एवं अधिक से अधिक अच्युत नामक स्वर्ग में जाते हैं। स्वलिंगी अर्थात् केवल जैन वेष धारण करने वाले सम्यग्दर्शनादि से भ्रष्ट साधु कम से कम भवनवासी देवरूप से उत्पन्न होते हैं व अधिक से अधिक ग्रैवेयक विमान में देव बनते हैं। यह सब देवगति प्राप्त होने की अवस्था में ही समझना चाहिए, अनिवार्य रूप में अर्थात् सामान्य नियम के तौर पर नहीं।

उपर्युक्त उल्लेख में महावीर के समकालीन आजीविकों, वैदिक परम्परा के तापसों एवं परिव्राजकों तथा जैन श्रमण-श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं का निर्देश है। इसमें केवल एक बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं का कोई नामनिर्देश नहीं है। ऐसा

क्यों ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह भी विचारणीय है कि जो केवल जैन वेषधारी हैं व बाह्यतया जैन अनुष्ठान करने वाले हैं किन्तु वस्तुतः सम्यग्दर्शनरहित हैं वे ऊँचे से ऊँचे स्वर्ग तक कैसे पहुँच सकते हैं जबकि उसी प्रकार के अन्य वेषधारी मिथ्यादृष्टि वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। तात्पर्य यह जान पड़ता है कि जैन बाह्य आचार की कठिनता और उग्रता अन्य श्रमणों और परिव्राजकों की अपेक्षा अधिक संयमप्रधान थी जिसमें हिंसा आदि पापाचार की बाह्यरीति से संभावना कम थी। अतएव दर्शनविशुद्धि न होने पर भी अन्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा जैनश्रमणों को उच्च स्थान दिया गया है।

कांक्षामोहनीय:

निर्ग्रंथ श्रमण कांक्षामोहनीय कर्म का किस प्रकार वेदन करते हैं—अनुभव करते हैं। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने आगे बताया है कि ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर एवं प्रमाणान्तररूप कारणों से शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, बुद्धिभेद तथा चित्त की कलुषितता को प्राप्त नग्रंन्थ श्रमण कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं। इन कारणों की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है:—

ज्ञानान्तर—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय व केवल रूप पाँच ज्ञानों—ज्ञान के प्रकारों के विषय में शंका करना।

दर्शनान्तर—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि दर्शन के अवान्तर भेदों के विषय में श्रद्धा न रखना अथवा सम्यक्त्वरूप दर्शन के औपशमिकादि भेदों के विषय में शंका करना।

चारित्रान्तर—सामायिक, छेदोपस्थापनीय आदि रूप चारित्र के प्रति संशय रखना।

प्रवचनान्तर—चतुर्याम एवं पंचयाम के भेद के विषय में शंका करना।

प्रावचनिकान्तर – प्रावचनिक अर्थात् प्रवचन का ज्ञाता। प्रावचनिकों के भिन्न-भिन्न आचार-प्रकारों के प्रति शंका करना।

कल्पान्तर—कल्प अर्थात् आचार। आचार के सचेलकत्व, अचेलकत्व आदि भेदों के प्रति संशय रखना।

मार्गान्तर—मार्ग अर्थात् परम्परा से चली आने वाली सामाचारी। विविध प्रकार की सामाचारी के विषय में अश्रद्धा रखना।

मतान्तर—परम्परा से चले आने वाले मत-मतांतरों के प्रति अश्रद्धा रखना।

नियमान्तर—एक नियम के अन्तर्गत अन्य नियमान्तरों के प्रति अविश्वास रखना।

प्रमाणान्तर—प्रत्यक्षरूप एक प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के प्रति विश्वास न रखना।

इसी प्रकार अन्य कारणों के स्वरूप के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

रोह अनगार के इस प्रश्न के उत्तर में कि जीव पहले है या अजीव, भगवान् ने बताया है कि इन दोनों में से अमुक पहले है और अमुक बाद में, ऐसा कोई क्रम नहीं है। ये दोनों पदार्थ शाश्वत हैं—नित्य हैं।

लोक का आधार :

गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में कि समग्र लोक किसके आधार पर रहा हुआ है, भगवान् ने बताया है कि आकाश के आधार पर वायु, वायु के आधार पर समुद्र, समुद्र के आधार पर पृथ्वी तथा पृथ्वी के आधार पर समस्त त्रस एवं स्थावर जीव रहे हुए हैं। समस्त अजीव जीवों के आधार पर रहे हुए हैं। लोक का ऐसा आधार-आधेय भाव है, यह किस आधार पर कहा जा सकता है? इसके उत्तर में निम्न उदाहरण दिया गया है :—

एक बड़ी मशक में हवा भर कर ऊपर से बांध दी जाय। बाद में उसे बीच से बांध कर ऊपर का मुंह खोल दिया जाय। इससे ऊपर के भाग की हवा निकल जायगी। फिर उस खाली भाग में पानी भर कर ऊपर से मुंह बांध दिया जाय व बीच की गांठ खोल दी जाय। इससे ऊपर के भाग में भरा हुआ पानी नीचे भरी हुई हवा के आधार पर टिका रहेगा। इसी प्रकार लोक पवन के आधार पर रहा हुआ है। अथवा जैसे कोई मनुष्य अपनी कमर पर हवा से भरी हुई मशक बांध कर पानी के ऊपर तैरता रहता है, डूबता नहीं उसी प्रकार वायु के आधार पर समग्र लोक टिका हुआ है। इन उदाहरणों की परीक्षा आसानी से की जा सकती है।

पार्श्वापत्य :

पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों अर्थात् पार्श्वापत्यों द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्न प्रस्तुत सूत्र में संगृहीत हैं। कालासवेसियपुत्त नामक पार्श्वापत्य भगवान् महावीर के शिष्यों से कहते हैं कि हे स्थविरो ! आप लोग सामायिक नहीं जानते, सामायिक का अर्थ नहीं जानते, प्रत्याख्यान नहीं जानते, प्रत्याख्यान का अर्थ नहीं जानते, संयम नहीं जानते, संयम का अर्थ नहीं जानते, संवर व संवर का अर्थ नहीं जानते, विवेक व विवेक का अर्थ नहीं जानते, व्युत्सर्ग व व्युत्सर्ग का अर्थ नहीं जानते। यह सुन कर महावीर के शिष्य कालासवेसियपुत्त से कहते हैं कि हे आर्य ! हम लोग सामायिक आदि व सामायिक आदि का अर्थ जानते हैं। यह सुन कर पार्श्वापत्य अनगार ने उन स्थविरों से पूछा कि यदि आप लोग यह सब जानते हैं तो बताइए कि सामायिक आदि क्या हैं व सामायिक आदि का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर देते हुए वे स्थविर कहने लगे कि अपनी आत्मा सामायिक है व अपनी आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार आत्मा ही प्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान का अर्थ है, इत्यादि। यह सुन कर पार्श्वापत्य अनगार ने पूछा कि यदि ऐसा है तो फिर आप लोग क्रोध, मान, माया व लोभ का त्याग करने के बाद इनकी गर्हा—निन्दा क्यों करते हैं ? इसके उत्तर में स्थविरों ने कहा कि संयम के लिए हम क्रोधादि की गर्हा करते हैं। यह सुन कर कालासवेसियपुत्त ने पूछा कि गर्हा संयम है या अगर्हा ? स्थविरों ने कहा कि गर्हा संयम है, अगर्हा संयम नहीं। गर्हा समस्त दोषों को दूर करती है एवं उसके द्वारा हमारी आत्मा संयम में स्थापित होती है। इससे आत्मा में संयम का उपचय अर्थात् संग्रह होता है। यह सब सुन कर कालासवेसियपुत्त को संतोष हुआ और उन्होंने महावीर के स्थविरों को वंदन किया, नमन किया व यह स्वीकार किया कि सामायिक से लेकर व्युत्सर्ग तथा गर्हा तक के सब पदों का मुझे ऐसा ज्ञान नहीं है। मैंने इस विषय में ऐसा विवेचन भी नहीं सुना है। इन सब पदों का मुझे ज्ञान नहीं है, अभिगम नहीं है अतः ये सब पद मेरे लिए अदृष्ट हैं, अश्रुतपूर्व हैं, अस्मृतपूर्व हैं, अविज्ञात हैं, अव्याकृत हैं, अपृथक्कृत हैं, अनुद्धृत हैं, अनवधारित हैं। इसीलिए जैसा आपने कहा वैसी मुझे श्रद्धा न थी, प्रतीति न थी, रुचि न थी। अब आपकी बताई हुई सारी बातें मेरी समझ में आ गई हैं एवं वैसी ही मेरी श्रद्धा, प्रतीति व रुचि हो गई है। यों कह कर कालासवेसियपुत्त ने उन स्थविरों की परम्परा में मिल जाने का अपना विचार व्यक्त किया। स्थविरों

की अनुमति से वे उनमें मिल गये एवं नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, अदंतधावन, अछत्र, अनुपानहता (जूते का त्याग), भूमिशय्या, ब्रह्मचर्यवास, केशलोच, भिक्षाग्रहण आदि नियमों का पालन कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट मालूम होता है कि श्रमण भगवान् महावीर व श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की परम्पराओं के बीच विशेष भेद था। इनके साधु एक-दूसरे की मान्यताओं से अपरिचित थे। इनमें परस्पर वंदनव्यवहार भी न था। सूत्रकृतांग के वीरस्तुति अध्ययन में स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् महावीर ने स्त्रीत्याग एवं रात्रिभोजनविरमण रूप दो नियम नये बढ़ाये थे।

पांचवें शतक में भी पार्श्वापत्य स्थविरों की चर्चा आती है। उसमें यह बताया गया है कि पार्श्वापत्य भगवान् महावीर के पास आकर बिना वंदना-नमस्कार किये ही अथवा अन्य किसी प्रकार से विनय का भाव दिखाये बिना ही उनसे पूछते हैं कि असंख्येय लोक में रात्रि व दिवस अनन्त होते हैं अथवा परिमित ? भगवान् दोनों विकल्पों का उत्तर हाँ में देते हैं। इसका अर्थ यह है कि असंख्येय लोक में रात्रि व दिवस अनन्त भी होते हैं और परिमित भी। तब वे पार्श्वापत्य भगवान् से पूछते हैं कि यह कैसे ? इसके उत्तर में महावीर कहते हैं कि आपके पुरुषादानीय पार्श्व अर्हत् ने लोक को शाश्वत कहा है, अनादि कहा है, अनन्त कहा है तथा परिमित भी कहा है। इसलिए उसमें रात्रि-दिवस अनन्त भी होते हैं तथा परिमित भी। यह सुनकर उन पार्श्वापत्यों ने भगवान् महावीर को सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी के रूप में पहचाना, उन्हें वन्दना-नमस्कार किया एवं उनकी परम्परा को स्वीकार किया।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर व पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर हैं, यह तथ्य पार्श्वापत्यों को ज्ञात न था।

इसी प्रकार का एक उल्लेख नवें शतक में भी आता है। गांगेय नामक पार्श्वापत्य अनगार ने बिना वंदना-नमस्कार किये ही भगवान् महावीर से नरकादि विषयक कुछ प्रश्न पूछे जिनका महावीर ने उत्तर दिया। इसके बाद ही गांगेय ने भगवान् को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के रूप में पहचाना। इसके पूर्व उन्हें इस बात का पता न था अथवा निश्चय न था कि महावीर तीर्थंकर हैं, केवली हैं।

वनस्पतिकाय :

शतक सातवें व आठवें में वनस्पतिसम्बन्धी विवेचन है। सातवें शतक के तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि वनस्पतिकाय के जीव किस ऋतु में अधिक

से अधिक आहार ग्रहण करते हैं व किस ऋतु में कम से कम आहार लेते हैं ? प्रावृट्‌ऋतु में अर्थात् श्रावण-भाद्रपद में तथा वर्षाऋतु में अर्थात् आश्विन-कार्तिक में वनस्पतिकायिक जीव अधिक से अधिक आहार लेते हैं। शरद्‌ऋतु, हेमंतऋतु, वसन्तऋतु एवं ग्रीष्मऋतु में इनका आहार उत्तरोत्तर कम होता जाता है अर्थात् ग्रीष्मऋतु में वनस्पतिकायिक जीव कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। यह कथन वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से विचारणीय है। इसी उद्देशक में आगे बताया गया है कि आलू आदि अनन्त जीववाले वनस्पतिकायिक हैं। यहाँ मूल में 'आलुअ' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह आलू अथवा आलुक नामक वनस्पति वर्तमान में प्रचलित आलू से मिलती-जुलती एक भिन्न प्रकार की वनस्पति मालूम पड़ती है क्योंकि उस समय भारत में आलू की खेती होती थी अथवा नहीं, यह निश्चित नहीं है। प्रसंगवशात् यह कहना भी अनुचित न होगा कि आलू मूंगफली की ही तरह डालियों पर लगने के कारण कंदमूल में नहीं गिने जा सकते। भगवान् ऋषभदेव के जमाने में युगलिक लोग कंदाहारी-मूलाहारी होते थे फिर भी वे स्वर्ग में जाते थे। क्या वे कंद और मूल वर्तमान कंद व मूल से भिन्न तरह के होते थे ? वस्तुतः सद्‌गति का संबंध मूलगुणों के पालन से अर्थात् जीवनशुद्धि से है, न कि कंदादि के भक्षण और अभक्षण से।

जीव की समानता :

सातवें शतक के आठवें उद्देशक में भगवान् ने बताया है कि हाथी और कुंथु का जीव समान है। विशेष वर्णन के लिए सूत्रकार ने रायपसेणइज्ज सूत्र देखने की सूचना दी है। रायपसेणइज्ज में केशिकुमार श्रमण ने राजा पएसी के साथ आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में चर्चा की है। उस प्रसंग पर एक प्रश्न के उत्तर में दीपक के प्रकाश का उदाहरण देकर हाथी और कुंथु के जीव की समानता समझाई गई है। इससे जीव की संकुचन-प्रसारणशीलता सिद्ध होती है।

केवली :

छठे शतक के दसवें उद्देशक में एक प्रश्न है कि क्या केवली इंद्रियों द्वारा जानता है, देखता है ? उत्तर में बताया गया है कि नहीं, ऐसा नहीं होता। अठारहवें शतक के सातवें उद्देशक में एक प्रश्न है कि जब केवली के शरीर में यक्ष का आवेश आता है तब क्या वह अन्यतीर्थिकों के कथनानुसार दो भाषाएँ—असत्य

और सत्यासत्य बोलता है ? इसका उत्तर देते हुए बताया गया है कि अन्य-तीर्थिकों का यह कथन मिथ्या है। केवली के शरीर में यक्ष का आवेश नहीं आता अतः यक्ष के आवेश से आवेष्टित होकर वह इस प्रकार की दो भाषाएं नहीं बोलता। केवली सदा सत्य और असत्यमृषा—इस प्रकार की दो भाषाएं बोलता है।

श्वासोच्छ्वास :

द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक में प्रश्न है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की तरह क्या पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव भी श्वासोच्छ्वास लेते हैं ? उत्तर में बताया गया है कि हां, लेते हैं। क्या वायुकाय के जीव भी वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं ? हां, वायुकाय के जीव भी वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं। यहां पर वृत्तिकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो वायुकाय श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण किया जाता है वह चेतन नहीं अपितु जड अर्थात् पुद्गलरूप होता है। उसकी स्वतन्त्र वर्गणाएं होती हैं जिन्हें श्वासोच्छ्वास-वर्गणा कहते हैं।

जमालि-चरित :

नवें शतक के तैंतीसवें उद्देशक में जमालि का पूरा चरित्र है। उसमें उसे ब्राह्मणकुंडग्राम से पश्चिम में स्थित क्षत्रियकुंडग्राम का निवासी क्षत्रियकुमार बताया गया है तथा उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया है। भगवान् महावीर के उसके नगर में आने पर वह उनके दर्शन के लिए गया एवं बोध प्राप्त कर भगवान् का शिष्य बना। बाद में उसका भगवान् के अमुक विचारों से विरोध होने पर उनसे अलग हो गया। इस पूरे वर्णन में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि जमालि महावीर का जामाता था अथवा उनकी कन्या से उसका विवाह हुआ था। जब वह दीक्षा ग्रहण करता है तब रजोहरण व पडिग्गह अर्थात् पात्र ये दो उपकरण ही लेता है। मुहपत्ती आदि किन्हीं भी अन्य उपकरणों का इनके साथ उल्लेख नहीं है। जब जमालि भगवान् से अलग होता है और उनके अमुक विचारों से भिन्न प्रकार के विचारों का प्रचार करता है तब वह अपने आप को जिन एवं केवली कहता है तथा महावीर के अन्य छद्मस्थ शिष्यों से खुद को भिन्न मानता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'जिन' और 'केवली' शब्द का प्रयोग उस समय के विचारक किस ढंग से करते थे। महावीर से

अलग होकर अपनी भिन्न विचारधारा का प्रचार करने वाला गोशालक भी महावीर से यही कहता था कि मैं जिन हूँ, केवली हूँ एवं आपके शिष्य गोशालक से भिन्न हूँ। जब जमालि यों कहता है कि अब मैं जिन हूँ, केवली हूँ तब महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम जमालि से कहते हैं कि केवली का ज्ञान-दर्शन तो पर्वतादि से निरुद्ध नहीं होता। यदि तुम सचमुच केवली अथवा जिन हो तो मेरे इन दो प्रश्नों के उत्तर दो—यह लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत? यह जीव शाश्वत है अथवा अशाश्वत? ये प्रश्न सुनकर जमालि निरुत्तर हो गया। यह देख कर भगवान् महावीर जमालि से कहने लगे कि मेरे अनेक शिष्य जो कि छद्मस्थ हैं, इन प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं। फिर भी वे तुम्हारी तरह यों नहीं कहते कि हम जिन हैं, अरिहंत हैं, केवली हैं। अन्त में जब जमालि मृत्यु को प्राप्त होता है तब गौतम भगवान् से पूछते हैं कि आपका जमालि नामक कुशिष्य मरकर किस गति में गया? इसका उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं कि मेरा कुशिष्य अनगार जमालि मरकर अधम जाति की देवगति में गया है। वह संसार में घूमता-घूमता अन्त में सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा।

शिवराजर्षि :

ग्यारहवें शतक के नवें उद्देशक में हस्तिनागपुर के राजा शिव का वर्णन है। इस राजा को इतिहास की दृष्टि से देखा जाय अथवा केवल दंतकथा की दृष्टि से, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके सामंत राजा भी थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कोई विशिष्ट राजा रहा होगा। इसे तापस होने की इच्छा होती है अतः अपने पुत्र शिवभद्र को गद्दी पर बैठाकर स्वयं दिशाप्रोक्षक परम्परा की दीक्षा स्वीकार करने के लिए गंगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापसों के पास आता है एवं उनसे दीक्षा लेता है। दीक्षा लेते ही वह निरंतर षष्ठ तप करते रहने की प्रतिज्ञा करता है। इस तप के साथ वह रोज आतापनाभूमि पर आतापना लेता है। उसकी नित्य की चर्या इस प्रकार बताई गई है: षष्ठ तप के पारणा के दिन वह आतापना-भूमि से उतर कर नीचे आता है, वृक्ष की छाल के कपड़े पहनता है, अपनी झोंपड़ी में आता है फिर किढिण अर्थात् बांस का पात्र एवं संकाइय—संकायिक अर्थात् कावड़ ग्रहण करता है। बाद में पूर्वदिशा का प्रोक्षण (पानी का छिड़काव) करता है एवं 'पूर्वदिशा के सोम महाराज धर्म-साधना में प्रवृत्त शिवराज की रक्षा करें व पूर्व में रहे हुए कंद, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि लेने की

अनुमति दें' यों कहकर पूर्व में जाकर कंदादि से अपना कावड़ भरता है। बाद में शाखा, कुश, समिधा, पत्र आदि लेकर अपनी झोंपड़ी में आता है। आकर कावड़ आदि रखकर वेदिका को साफ कर पानी व गोबर से पुताई करता है। बाद में हाथ में शाखा व कलश लेकर गंगानदी में उतरता है, स्नान करता है, देवकर्म-पितृकर्म करता है, शाखा व पानी से भरा कलश लेकर अपनी झोंपड़ी में आता है, कुश आदि द्वारा वेदिका बनाता है, अरणि को घिसकर अग्नि प्रकट करता है, समिधा आदि जलाता है व अग्नि को दाहिनी ओर निम्नोक्त सात वस्तुएं रखता है : सकथा (तापस का एक उपकरण), वल्कल, ठाण अर्थात् दीप, शय्योपकरण, कमंडल, दंड और सातवां वह खुद। तदनंतर मधु, घी और चावल अग्नि में होम करता है, चरुबलि तैयार करता है, चरुबलि द्वारा वैश्वदेव बनाता है, अतिथि की पूजा करता है और बाद में भोजन करता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा के यम महाराज की, पश्चिम दिशा के वरुण महाराज की एवं उत्तर दिशा के वैश्रमण महाराज की अनुमति लेकर उपर्युक्त सब क्रियाएँ करता है।

ये शिवराजर्षि यों कहते थे कि यह पृथ्वी सात द्वीप व सात समुद्रवाली है। इसके बाद कुछ नहीं है। जब इन्हें भगवान् महावीर के आगमन का पता लगता है तब ये उनके पास जाकर उनका उपदेश सुनकर उनके शिष्य हो जाते हैं। ग्यारह अंग पढ़कर अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

परिव्राजक तापस :

जैसे इस सूत्र में कई तापसों का वर्णन आता है वैसे ही औपपातिक सूत्र में परिव्राजक तापसों के अनेक प्रकार बताये गये हैं, यथा—अग्निहोत्रीय, पोत्तिय—लुंगी पहनने वाले, कोत्तिय—जमीन पर सोने वाले, जण्णई—यज्ञ करने वाले, हुंबउट्ठ—कुंडी रखने वाले श्रमण, दंतुक्खलिय—दांतों से कच्चे फल खाने वाले, उम्मज्जग—केवल डुबकी लगाकर स्नान करने वाले, संमज्जग—बार-बार डुबकी लगाकर स्नान करने वाले, निमज्जग—स्नान के लिए पानी में लंबे समय तक पड़े रहने वाले, संपक्खालग—शरीर पर मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले, दक्खिणकूलग—गंगा के दक्षिणी किनारे रहने वाले, उत्तरकूलग—गंगा के उत्तरी किनारे रहने वाले, संखधमग—अतिथि को खाने के लिए निमन्त्रित करने के हेतु शंख फूँकने वाले, कूलधमग—किनारे पर खड़े रह कर अतिथि के लिए आवाज लगाने वाले, मियलुद्धय—मृगलुब्धक, हस्तितापस—हाथी को मार कर उससे जीवन-निर्वाह करने वाले, उद्दंडक—दंड ऊँचा रखकर फिरने वाले, दिशाप्रोक्षक—पानी द्वारा

दिशा का प्रोक्षणकर फल लेने वाले, वल्कवासी—वल्कल पहनने वाले, चेलवासी—कपड़ा पहनने वाले, वेलवासी—समुद्र-तट पर रहने वाले, जलवासी—पानी में बैठे रहने वाले, बिलवासी—बिलों में रहने वाले, बिना स्नान किए न खाने वाले, वृक्षमूलिक—वृक्ष के मूल के पास रहने वाले, जलभक्षी—केवल पानी पीते वाले, वायुभक्षी—केवल हवा खाने वाले, शैवालभक्षी, मूलाहारी, कंदाहारी, त्वगाहारी फलाहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, पंचाग्नि तपने वाले आदि। यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि ये कंदाहारी तापस भी मर कर स्वर्ग में जाते हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में शिवराजर्षि की ही तरह स्कंदक, तामिल, पूरण, पुद्गल आदि तापसों का भी वर्णन आता है। इसमें दानामा और प्राणामा रूप दो तापसी दीक्षाओं का भी उल्लेख है। दानामा अर्थात् भिक्षा लाकर दान करने के आचारवाली प्रव्रज्या और प्राणामा अर्थात् प्राणिमात्र को प्रणाम करते रहने की प्रव्रज्या। इन तापसों में से कुछ ने स्वर्ग प्राप्त किया है तथा कुछ ने इन्द्रपद भी पाया है। इससे यह फलित होता है कि स्वर्ग प्राप्ति के लिए कष्टमय तप की आवश्यकता है न कि यज्ञयागादि की। यह बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में बार-बार देवों व असुरों का वर्णन दिया गया है। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने देवासुर संग्राम का वर्णन भी किया है। इस संग्राम में देवेन्द्र शक्र से भयभीत हुआ असुरेन्द्र चमर भगवान् महावीर की शरण में जाने के कारण बच जाता है। यह संग्राम वैदिक देवासुर संग्राम का अनुकरण प्रतीत होता है। संग्राम का जो कारण बताया गया है वह अत्यन्त विलक्षण है। इससे यह भी फलित होता है कि इन्द्र जैसा सबल एवं समर्थ व्यक्ति भी किस प्रकार काषायिक वृत्तियों का शिकार बनकर पामर प्राणी की भांति आचरण करने लगता है। स्वर्ग की जो घटनाएं बार-बार आती हैं उन्हें पढ़ने से यह मालूम होता है कि स्वर्ग के प्राणी कितने अधम, चोर, असदाचारी एवं कलहप्रिय होते हैं। इन सब घटनाओं का अभीष्ट अर्थ यही है कि स्वर्ग वांछनीय नहीं है अपितु मोक्ष वांछनीय है। शुद्ध संयम का फल निर्वाण है जबकि दूषित संयम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग का कारण यज्ञादि न होकर अहिंसाप्रधान आचरण ही है। स्वर्ग भी निर्वाणप्राप्ति में एक बाधा है जिसे दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार जैन निर्ग्रन्थों ने स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को प्रतिष्ठित कर हिंसा अथवा भोग के बजाय अहिंसा अथवा त्याग की प्रतिष्ठा की है।

स्वर्ग :

स्वर्ग के वर्णन में वस्त्र, अलंकार, ग्रंथ, पात्र, प्रतिमाएँ आदि उल्लिखित हैं।

विमानों की रचना में विविध रत्नों, मणियों एवं अन्य बहुमूल्य पदार्थों का उपयोग बताया गया है। इसी प्रकार स्तम्भ, वेदिका, छप्पर, द्वार, खिड़की, झूला, खूँटी आदि का भी उल्लेख किया गया है। ये सब चीजें स्वर्ग में कहां से आती हैं? क्या यह इसी संसार के पदार्थों की कल्पित नकल नहीं है? स्वर्ग लौकिक आनन्दोपभोग एवं विषयविलास की उत्कृष्टतम सामग्री की उच्चतम कल्पना का श्रेष्ठतम नमूना है।

भगवान् महावीर के समय में एक मान्यता यह थी कि युद्ध करने वाले स्वर्ग में जाते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति (शतक ७, उद्देशक ९) में इस सम्बन्ध में बताया गया है कि संग्राम करने वाले को संग्राम करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता अपितु न्यायपूर्वक संग्राम करने के बाद जो संग्रामकर्ता अपने दुष्कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करता है तथा उस पश्चात्ताप के कारण जिसकी आत्मा शुद्ध होती है वह स्वर्ग में जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि केवल संग्राम करने से किसी को स्वर्ग मिल जाता है। गीता (अध्याय २, श्लोक ३७) के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' का रहस्योद्घाटन व्याख्याप्रज्ञप्ति के इस कथन में कितने सुंदर ढंग से किया गया है।

देवभाषा :

महावीर के समय में भाषा के सम्बन्ध में भी बहुत मिथ्याधारणा फैली हुई थी। अमुक भाषा देवभाषा है और अमुक भाषा अपभ्रष्ट भाषा है तथा देवभाषा बोलने से पुण्य होता है और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है, इस प्रकार की मान्यता ने लोगों के दिलों में घर कर रखा था। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि भाषा का पुण्य व पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा तो केवल बोल-चाल के व्यवहार का एक साधन अर्थात् माध्यम है। मनुष्य चाहे कोई भी भाषा बोले, यदि उसका चारित्र—आचरण शुद्ध होगा तो उसके जीवन का विकास होगा। व्याख्याप्रज्ञप्ति के पांचवें शतक के चौथे उद्देशक में यह बताया गया है कि देव अर्धमागधी भाषा बोलते हैं। देवों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में अर्धमागधी भाषा विशिष्ट है यद्यपि यहां यह प्रतिपादित नहीं किया गया है कि अर्धमागधी भाषा बोलने से पुण्य होता है अथवा जीवन की शुद्धि होती है। वैदिकों एवं जैनों की तरह अन्य सम्प्रदायवाले भी देवों की विशिष्ट भाषा मानते हैं। ईसाई देवों की भाषा हिब्रू मानते हैं जबकि मुसलमान देवों की भाषा अरबी मानते हैं। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक सम्प्रदायवाले अपने-अपने शास्त्र की भाषा को देवभाषा कहते हैं।

गोशालक :

पंद्रहवें शतक में मंखलिपुत्र गोशालक का विस्तृत वर्णन है। गोशालक के लिए मंखलिपुत्र एवं मक्खलिपुत्र इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता रहा है। जैन शास्त्रों में मंखलिपुत्र शब्द प्रचलित है जबकि बौद्ध परम्परा में मक्खलिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। हाथ में चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगों को उपदेश देकर अपनी आजीविका चलाने वाले भिक्षुक जैन परम्परा में 'मंख' कहे गये हैं। प्रस्तुत शतक के अनुसार गोशालक[1] का जन्म सरवण नामक ग्राम में रहने वाले वेदविशारद गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में हुआ था और इसीलिए उसके पिता मंखलि मंख एवं माता भद्रा ने अपने पुत्र का नाम गोशालक रखा। गोशालक जब युवा हुआ एवं ज्ञान-विज्ञान द्वारा परिपक्व हुआ तब उसने अपने पिता का धंधा मंखपना स्वीकार किया। गोशालक स्वयं गृहस्थाश्रम में था या नहीं, इसके विषय में प्रस्तुत प्रकरण में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। चूंकि वह नग्न रहता था इससे मालूम होता है कि वह गृहस्थाश्रम में न रहा हो। जब महावीर दीक्षित होने के बाद दूसरे चातुर्मास में घूमते-फिरते राजगृह के बाहर नालंदा में आये एवं बुनकर-वास में ठहरे तब वहीं उनके पास ही मंखलिपुत्र गोशालक भी ठहरा हुआ था। इससे मालूम होता है कि मंख भिक्षुओं की परम्परा महावीर के दीक्षित होने के पूर्व भी विद्यमान थी।

महावीर दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष पर्यन्त कठोर तपःसाधना करते रहे। इसके बाद अर्थात् बयालीस वर्ष की आयु में वीतराग हुए—केवली हुए। इसके बाद घूमते-घूमते चौदह वर्ष में श्रावस्ती नगरी में आये। इसी समय मंखलिपुत्र गोशालक भी घूमता-फिरता वहां आ पहुँचा। इस प्रकार गोशालक का भगवान् महावीर के साथ छप्पन वर्ष की आयु में पुनः मिलाप हुआ।

इस शतक में यह भी बताया गया है कि केवली होने के पूर्व राजगृह में महावीर के चमत्कारिक प्रभाव से आकर्षित होकर जब गोशालक ने उनसे खुद अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की तब वे मौन रहे। बाद में जब महावीर घूमते-घूमते कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचे तब वह फिर उन्हें ढूंढता-ढूंढता वहां जा पहुँचा एवं उनसे पुनः अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना

[1] महावीरचरियं में गोशालक के वृत्तांत के लिए एक नई ही कल्पना बताई है। देखिए—महावीरचरियं, षष्ठ प्रस्ताव.

की। इस बार महावीर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में वे दोनों छः वर्ष तक साथ फिरते रहे। इस समय एक प्रसंग पर गोशालक ने महावीर के पास शीतलेश्या होने की बात जानी एवं तेजोलेश्या के विषय में भी जानकारी प्राप्त की। उसने महावीर से तेजोलेश्या की लब्धि प्राप्त करने का उपाय पूछा। महावीर से एतद्विषयक विधि जान कर उसने वह लब्धि प्राप्त की। बाद में वह महावीर से अलग होकर विचरने लगा।

मंखलिपुत्र गोशालक जब श्रावस्ती में अपनी अनन्य उपासिका हालाहला कुम्हारिन के यहां ठहरा हुआ था उस समय उसको दीक्षापर्याय चौबीस वर्ष की थी। यह दीक्षापर्याय कौन-सी समझनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में मूल सूत्र में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। सम्भवतः यह दीक्षापर्याय महावीर से अलग होने के बाद की है जबकि इसने अपने नये मत का प्रचार शुरू किया। इस दीक्षा-पर्याय की स्पष्टता के विषय में पं० कल्याणविजयजीकृत 'श्रमण भगवान् महावीर' देखना आवश्यक है।

मालूम होता है भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को इस मंखपरम्परा एवं मंखलिपुत्र गोशालक का विशेष परिचय न था। इसीलिए वे भगवान् से मंखलिपुत्र का अथ से इति तक वृत्तान्त कहने की प्रार्थना करते हैं। उस समय नियतिवादी गोशालक जिन, केवली एवं अर्हत् के रूप में प्रसिद्ध था। वह आजीविक परम्परा का प्रमुख आचार्य था। उसका शिष्यपरिवार तथा उपासकवर्ग भी विशाल था।

गोशालक के विषय में यह भी कहा गया है कि निम्नोक्त छः दिशाचर गोशालक से मिले एवं उसके साथी के रूप में रहने लगे : शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन। इन दिशाचरों के विषय में टीकाकार कहते हैं कि ये भगवान् महावीर के पथभ्रष्ट शिष्य थे। चूर्णिकार का कथन है कि ये छः दिशाचर पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। आवश्यकचूर्णि में जहां महावीर के चरित्र का वर्णन है वहां गोशालक का चरित्र भी दिया हुआ है। यह चरित्र बहुत ही हास्यास्पद एवं विलक्षण है।

वायुकाय व अग्निकाय :

सोलहवें शतक के प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि अधिकरणी अर्थात् एरण पर हथौड़ा मारते हुए वायुकाय उत्पन्न होता है। वायुकाय के जीव अन्य पदार्थों का संस्पर्श होने पर ही मरते हैं, संस्पर्श के बिना नहीं। सिगड़ी (अंगारकारिका—इंगालकारिया) में अग्निकाय के जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं

उत्कृष्ट तीन रात्रि-दिवस तक रहते हैं। वहाँ वायुकायिक जीव भी उत्पन्न होते हैं एवं रहते हैं क्योंकि वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती।

जरा व शोक :

द्वितीय उद्देशक में जरा व शोक के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। इसमें बताया गया है कि जिन जीवों के स्थूल मन नहीं होता उन्हें शोक नहीं होता किन्तु जरा तो होती ही है। जिन जीवों के स्थूल मन होता है उन्हें शोक भी होता है और जरा भी। यहाँ पर भवनपति व वैमानिक देवों के भी जरा व शोक होने का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार जैन आगमों के अनुसार देव भी जरा व शोक से मुक्त नहीं हैं।

सावद्य व निरवद्य भाषा :

इस प्रश्न के उत्तर में कि देवेन्द्र—देवराज शक्र सावद्य भाषा बोलता है अथवा निरवद्य, भगवान् महावीर ने बताया है कि जब शक्र 'सुहुमकायं णिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को ढंक कर बोलता है तब निरवद्य—निष्पाप भाषा बोलता है तथा जब वह 'सुहुमकायं अणिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को बिना ढंके बोलता है, तब सावद्य—सपाप भाषा बोलता है। तात्पर्य यह है कि हाथ अथवा वस्त्र द्वारा मुख ढंक कर बोलने वाले की भाषा निष्पाप अर्थात् निर्दोष होती है जब कि मुख को ढंके बिना बोलने वाले की भाषा सपाप अर्थात् सदोष होती है। इससे बोलने की एक जैनाभिमत विशिष्ट पद्धति का पता लगता है।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव :

पंचम उद्देशक में उल्लुयतीर नामक नगर के एक जंबू नामक चैत्य में भगवान् महावीर के आगमन का उल्लेख है। इस प्रकरण में भगवान् ने शक्रेन्द्र के प्रश्न के उत्तर में बताया है कि महाऋद्धिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न देव भी बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना आने-जाने, बोलने, आँख खोलने, आंख बंद करने, अंगोंको संकुचित करने व फैलाने तथा विषयभोग करने में समर्थ नहीं। बाह्य पुद्गलों को ग्रहण कर ही वह ये सब कार्य कर सकता है। इसके बाद महाशुक्रकल्प नामक स्वर्ग में रहने वाले दो देवों के विवाद का वर्णन है। एक देव सम्यग्दृष्टि है और दूसरा मिथ्यादृष्टि। इस विवाद में सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैन देव ने मिथ्यादृष्टि अर्थात् अजैन देव को पराजित किया। विवाद का विषय पुद्गल-परिणाम कहा गया है। इससे मालूम होता है कि स्वर्गवासी देव भी पुद्गल-परिणाम आदि

की चर्चा करते हैं। सम्यग्दृष्टि देव का नाम गंगदत्त बताया गया है। यह उसके पूर्व जन्म का नाम है। देव होने के बाद भी पूर्व जन्म का ही नाम चलता है, ऐसी जैन परम्परा की मान्यता है। प्रस्तुत प्रकरण में गंगदत्त देव का पूर्व जन्म बताते हुए कहा गया है कि वह हस्तिनापुर निवासी एक गृहपति था एवं तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पास दीक्षित हुआ था।

स्वप्न :

छठे उद्देशक में स्वप्न सम्बन्धी चर्चा है। भगवान् कहते हैं कि एक स्वप्न यथार्थ होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो वैसा ही फल मिलता है। दूसरा स्वप्न अति विस्तारयुक्त होता है। यह यथार्थ होता भी है और नहीं भी। तीसरा चिन्ता-स्वप्न होता है अर्थात् जाग्रत् अवस्था की चिन्ता स्वप्नरूप में प्रकट होती है। चौथा विपरीतस्वप्न होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो उससे विपरीत फल मिलता है। पांचवां अव्यक्तस्वप्न होता है अर्थात् स्वप्नदर्शन में अस्पष्टता होती है। आगे बताया गया है कि पूरा सोया हुआ अथवा जगता हुआ व्यक्ति स्वप्न नहीं देख सकता अपितु कुछ सोया हुआ व कुछ जगता हुआ व्यक्ति ही स्वप्न देख सकता है। संवृत, असंवृत व संवृतासंवृत ये तीनों ही जीव स्वप्न देखते हैं। इनमें से संवृत का स्वप्न यथार्थ ही होता है। असंवृत व संवृतासंवृत का स्वप्न यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। साधारण स्वप्न ४२ प्रकार के हैं और महास्वप्न ३० प्रकार के हैं। इस प्रकार कुल ७२ प्रकार के स्वप्न होते हैं। जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आता है तब वह चौदह महास्वप्न देखकर जागती है। इसी प्रकार चक्रवर्ती की माता के विषय में भी समझना चाहिए। वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और माण्डलिक राजा की माता एक स्वप्न देखकर जागती है। श्रमण भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में एक रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस महास्वप्न देखे थे। प्रस्तुत उद्देशक में यह भी बताया गया है कि स्त्री अथवा पुरुष अमुक स्वप्न देखे तो उसे अमुक फल मिलता है। इस चर्चा से यह मालूम होता है कि जैन अंगशास्त्रों में स्वप्नविद्या को भी अच्छा स्थान मिला है।

कोणिक का प्रधान हाथी :

सत्रहवें शतक के प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में राजा कोणिक के मुख्य हाथी के विषय में चर्चा है। इस चर्चा में मूल प्रश्न यह है कि यह हाथी पूर्वभव में कहाँ था और मरकर कहाँ जायगा ? उत्तर में बताया गया है कि यह हाथी

पूर्वभव में असुरदेव था और मरकर नरक में जायगा तथा वहां से महाविदेह वर्ष में जाकर निर्वाण प्राप्त करेगा। राजा कोणिक का प्रधान हाथी कितना भाग्य-शाली है कि उसकी चर्चा भगवान् महावीर के मुख से हुई है ? इसके बाद इसी प्रकार के अन्य हाथी भूतानंद की चर्चा है। इसके बाद इसकी चर्चा है कि ताड़ के वृक्ष पर चढ़कर उसे हिलाने वाले एवं फलों को नीचे गिराने वाले को कितनी क्रियाएँ लगती हैं। इसके बाद भी इसी प्रकार की चर्चा है जो सामान्य वृक्ष से सम्बन्धित है। इसके बाद इन्द्रिय, योग, शरीर आदि के विषय में चर्चा है।

कम्प :

तृतीय उद्देशक में शैलेशी अर्थात् शिलेश—मेरु के समान अकंप स्थिति को प्राप्त अनगार कैसा होता है, इसकी चर्चा है। इस प्रसंग पर कंप के पाँच प्रकार बताये गये हैं: द्रव्यकंप, क्षेत्रकंप, कालकंप, भावकंप और भयकंप। इसके बाद 'चलना' की चर्चा है। अन्त में यह बताया गया है कि संवेग, निर्वेद, शुश्रूषा, आलोचना, अप्रतिबद्धता, कषायप्रत्याख्यान आदि निर्वाण-फल को उत्पन्न करते हैं।

नरकस्थ एवं स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक आदि जीव :

छठे उद्देशक में नरकस्थ पृथ्वीकायिक जीव की सौधर्म आदि देवलोक में उत्पत्ति होने के विषय में चर्चा है। सातवें में स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक जीव की नरक में उत्पत्ति होने के विषय में विचारणा है। आठवें व नवें में इसी प्रकार की चर्चा अप्कायिक जीव के विषय में है। इससे मालूम पड़ता है कि स्वर्ग व नरक में भी पानी होता है।

प्रथमता-अप्रथमता :

अठारहवें शतक में निम्नलिखित दस उद्देशक हैं: १. प्रथम, २. विशाख, ३. माकंदी, ४. प्राणातिपात, ५. असुर, ६. फणित, ७. केवली, ८. अनगार, ९. भवद्रव्य, १०. सोमिल। प्रथम उद्देशक में जीव के जीवत्व की प्रथमता—अप्रथमता की चर्चा है। इसी प्रकार जीव के सिद्धत्व आदि का विचार किया गया है।

कार्तिक सेठ :

दूसरे उद्देशक में बताया गया है कि विशाखा नगरी के बहुपुत्रिक चैत्य में भगवान् महावीर आते हैं। वहाँ उन्हें यह पूछा जाता है कि देवेन्द्र—देवराज शक्र पूर्वभव में कौन था ? उसे शक्र पद कैसे प्राप्त हुआ ? इसके उत्तर में हस्तिनापुर

निवासी सेठ कार्तिक का सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त बताया गया है। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर दीक्षा स्वीकार कर मृत्यु के बाद शक्रपद—इन्द्रपद पाया। यह घटना मुनिसुव्रत तीर्थंकर के समय की है।

माकंदी अनगार :

तीसरे उद्देशक में भगवान् के शिष्य सरलस्वभावी माकंदिकपुत्र अथवा माकंदी अनगार द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नों के उत्तर हैं। माकंदी अनगार ने अपना अमुक विचार अन्य जैन श्रमणों के सन्मुख रखा जिसे उन लोगों ने अस्वीकार किया। इस पर भगवान् महावीर ने उन्हें बताया कि माकंदी अनगार का विचार बिल्कुल ठीक है।

युग्म :

चौथे उद्देशक में गौतम ने युग्म की चर्चा की है। युग्म चार हैं : कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापर और कल्योज। युग्म व युग में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वैदिक परम्परा में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग व कलियुग—ये चार युग प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त चारयुग्मों की कल्पना का आधार यही चार युग मालूम होते हैं। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में चार बाकी रहें वह राशि कृतयुग्म कहलाती है। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में तीन बच रहें उस राशि को त्र्योज कहते हैं। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए दो बाकी रहें उसे द्वापर एवं एक बाकी रहे उसे कल्योज कहते हैं।

पुद्गल :

छठे उद्देशक में फणित अर्थात् प्रवाहित (पतला) गुड़, भ्रमर, तोता, मजीठ, हल्दी, शंख, कुष्ठ, मयद, नीम, सोंठ, कोट, इमली, शक्कर, वज्र, मक्खन, लोहा, पत्र, बर्फ, अग्नि, तैल आदि के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की चर्चा है। ये सब व्यावहारिक नय की अपेक्षा से मधुरता अथवा कटुता आदि से युक्त हैं किन्तु नैश्चयिक नय की दृष्टि से पांचों वर्णों, पांचों रसों, दोनों गंधों एवं आठों स्पर्शों से युक्त हैं। परमाणु-पुद्गल में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श हैं। इसी प्रकार द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक, चतुष्प्रदेशिक, पंचप्रदेशिक आदि पुद्गलों के विषय में चर्चा है।

मद्रुक श्रमणोपासक :

सातवें उद्देशक में बताया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य के आसपास कालोदायी, शैलोदायी आदि अन्यतीर्थिक रहते थे। इन्होंने मद्रुक नामक

श्रमणोपासक को अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर को वंदन करने जाते हुए देखा एवं उसे मार्ग में रोककर पूछा कि तेरे धर्माचार्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन पांच अस्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं, यह कैसे ? उत्तर में मद्रुक ने कहा कि जो वस्तु कार्य करती हो उसे कार्य द्वारा जाना जा सकता है तथा जो वस्तु वैसी न हो उसे हम नहीं जान सकते। इस प्रकार धर्मास्तिकायादि पांच अस्तिकायों को मैं नहीं जानता अतः देख नहीं सकता। यह सुनकर उन अन्यतीर्थिकों ने कहा कि अरे मद्रुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है कि इन पांच अस्तिकायों को भी नहीं जानता। मद्रुक ने उन्हें समझाया कि जैसे वायु के स्पर्श का अनुभव करते हुए भी हम उसके रूप को नहीं देख सकते, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को सूँघते हुए भी उसके परमाणुओं को नहीं देख सकते, अरणि की लकड़ी में छिपी हुई अग्नि को जानते हुए भी उसे आंखों से नहीं देख सकते, समुद्र के उस पार रहे हुए अनेक पदार्थों को देखने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार छद्मस्थ मनुष्य पंचास्तिकाय को नहीं देख सकता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसका अस्तित्व ही नहीं। यह सुनकर कालोदायी आदि चुप हो गए। भगवान् महावीर ने श्रमणों के सामने मद्रुक श्रमणोपासक के इस कार्य की बहुत प्रशंसा की।

पुद्गल-ज्ञान :

आठवें उद्देशक में यह बताया गया है कि सावधानी पूर्वक चलते हुए भावितात्मा अनगार के पांव के नीचे मुर्गी का बच्चा, बतख का बच्चा अथवा चींटी या सूक्ष्म कीट आकर मर जाय तो उसे ईर्यापथिकी क्रिया लगती है, साम्परायिकी क्रिया[1] नहीं। इसी उद्देशक में इस विषय की भी चर्चा है कि छद्मस्थ मनुष्य परमाणुपुद्गल को जानता व देखता है अथवा नहीं ? उत्तर में भगवान् ने बताया है कि कोई छद्मस्थ परमाणुपुद्गल को जानता है किन्तु देखता नहीं, कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। इस प्रकार द्विप्रादेशिक स्कन्ध से लेकर असंख्येय प्रादेशिक स्कन्ध तक समझना चाहिए। अनन्त प्रादेशिक स्कन्ध को कोई जानता है किन्तु देखता नहीं, कोई जानता नहीं परन्तु देखता है तथा कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। इसी प्रकार की चर्चा अवधिज्ञानी तथा केवली के विषय में भी की गई है। यहां जानने व देखने का

---

[1] कषायजन्य प्रवृत्ति से साम्परायिक कर्म का बंध होता है जिससे भवभ्रमण करना पड़ता है।

क्या अर्थ है, इसके सम्बन्ध में पहले ज्ञान-दर्शन की चर्चा के प्रसंग पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

यापनीय :

दसवें उद्देशक में वाणियग्राम नगर के निवासी सोमिल ब्राह्मण के कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने जवणिज्ज—यापनीय, जत्ता—यात्रा, अव्वाबाह—अव्याबाध, फासुयविहार—प्रासुकविहार आदि शब्दों का विवेचन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यापनीय नामक एक संघ है जिसके मुखिया आचार्य शाकटायन थे। प्रस्तुत उद्देशक में आनेवाले 'जवणिज्ज' शब्द के साथ इस यापनीय संघ का सम्बन्ध है। विचार करने पर मालूम होता है कि 'जवणिज्ज' का 'यमनीय' रूप अधिक अर्थयुक्त एवं संगत है जिसका संबंध पांच यमों के साथ स्थापित होता है। इस प्रकार का कोई अर्थ 'यापनीय' शब्द में से नहीं निकलता। विद्वानों को एतद्विषयक विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि वर्तमान में यह शब्द कुछ नया एवं अपरिचित सा लगता है किन्तु खारवेल के शिलालेख में 'जवणिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे इसकी प्राचीनता एवं प्रचलितता सिद्ध होती है।

मास :

सोमिल द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होने पर वह भगवान् का श्रमणोपासक हो गया। इस प्रसंग पर 'मास' का विवेचन करते हुए महीनों के जो नाम गिनाये गये हैं वे श्रावण से प्रारंभ कर आषाढ़ तक समाप्त किये गये हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय श्रावण प्रथम मास माना जाता रहा होगा एवं आषाढ़ अन्तिम मास।

विविध :

उन्नीसवें शतक में दस उद्देशक हैं : लेश्या, गर्भ, पृथ्वी, महास्रव, चरम, द्वीप, भवनावास, निर्वृत्ति, करण और वाणव्यन्तर।

बीसवें शतक में भी दस उद्देशक हैं : द्वीन्द्रिय, आकाश, प्राणवध, उपचय, परमाणु, अन्तर, बंध, भूमि, चारण और सोपक्रम जीव। प्रथम उद्देशक में दो इन्द्रियों वाले जीवों की चर्चा है। द्वितीय में आकाशविषयक, तृतीय में हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य आदि विषयक, चतुर्थ में इन्द्रियोपचय विषयक, पंचम में

परमाणु पुद्गलविषयक, षष्ठ में दो नरकों एवं दो स्वर्गों के मध्य स्थित पृथ्वीकायिक आदि विषयक तथा सप्तम में बन्धविषयक चर्चा है। अष्टम में कर्मभूमि के सम्बन्ध में विवेचन है। इसमें वर्तमान अवसर्पिणी के सब तीर्थंकरों के नाम गिनाये गये हैं। छठे तीर्थङ्कर का नाम पद्मप्रभ के बजाय सुप्रभ बताया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि कालिक श्रुत का विच्छेद कब हुआ तथा दृष्टिवाद का विच्छेद कब हुआ ? साथ ही यह भी बताया गया है कि भगवान् वर्धमान—महावीर का तीर्थ कितने समय तक चलेगा ? उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, ज्ञातकुल और कौरवकुल के व्यक्ति इस धर्म में प्रवेश करते हैं तथा उनमें से कुछ मुक्ति भी प्राप्त करते हैं। यहां क्षत्रियों के केवल छः कुलों का ही निर्देश है। इससे यह मालूम होता है कि ये छः कुल उस समय विशेष उत्कृष्ट गिने जाते रहे होंगे। नवम उद्देशक में चारण मुनियों की चर्चा है। चारण मुनि दो प्रकार के हैं: विद्याचारण और जंघाचारण। उग्र तप से प्राप्त होने वाली आकाशगामिनी विद्या का नाम विद्याचारण लब्धि है। जंघाचारण भी एक प्रकार की लब्धि है जो इसी प्रकार के तप से प्राप्त होती है। इन लब्धियों से सम्पन्न मुनि आकाश में उड़कर बहुत दूर तक जा सकते हैं। दशम उद्देशक में यह बताया गया है कि कुछ जीवों का आयुष्य आघात-जनक विघ्न से टूट जाता है जबकि कुछ का इस प्रकार का विघ्न होने पर भी नहीं टूटता।

इक्कीसवें, बाईसवें व तेईसवें शतक में विविध प्रकार की वनस्पतियों एवं वृक्षों के विषय में चर्चा है।

चौबीसवें शतक में चौबीस उद्देशक हैं। इनमें उपपात, परिमाण, संघयण, ऊंचाई, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग, संज्ञा, कषाय, इंद्रिय, समुद्घात, वेदना, वेद, आयुष्य, अध्यवसान, अनुबंध एवं कालसंवेध पदों द्वारा समस्त प्रकार के जीवों का विचार किया गया है।

पचीसवें शतक में लेश्या, द्रव्य, संस्थान, युग्म, पर्यव, निर्ग्रन्थ, श्रमण, ओघ, भव्य, अभव्य, सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी नामक बारह उद्देशक हैं। इनमें भी जीवों के विविध स्वरूप के विषय में चर्चा है। निर्ग्रन्थ नामक षष्ठ उद्देशक में निम्नोक्त ३६ पदों द्वारा निर्ग्रन्थों के विषय में विचार किया गया है : १. प्रज्ञापना, २. वेद, ३. राग, ४. कल्प, ५. चारित्र, ६. प्रतिसेवना, ७. ज्ञान, ८. तीर्थ, ९. लिंग, १०. शरीर, ११ क्षेत्र, १२. काल, १३. गति, १४. संयम, १५. निकर्ष-

निगास अथवा संनिगास-संनिकर्ष, १६. योग, १७. उपयोग, १८. कषाय, १६. लेश्या, २०. परिणाम, २१. बंध, २२. वेदन, २३. उदीरणा, २४. उपसंपदाहानि, २५. संज्ञा, २६. आहार, २७. भव, २८. आकर्ष, २६. काल, ३०. अंतर, ३१. समुद्घात, ३२. क्षेत्र, ३३. स्पर्शना, ३४. भाव, ३५. परिमाण एवं ३६. अल्प-बहुत्व। यहां निर्ग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ एवं स्नातक के रूप में पाँच भेद कर प्रत्येक भेद का उपर्युक्त ३६ पदों द्वारा विचार किया गया है। यहां यह बताया गया है कि बकुश एवं कुशील किसी अपेक्षा से जिनकल्पी भी होते हैं। निर्ग्रन्थ तथा स्नातक कल्पातीत होते हैं। इस उद्देशक में दस प्रकार की सामाचारी तथा दस प्रकार के प्रायश्चित्तों के भी नाम गिनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त जैन परिभाषा में प्रचलित अन्य अनेक तथ्यों का इसमें निरूपण हुआ है।

छब्बीसवें शतक में भी इसी प्रकार के कुछ पदों द्वारा जीवों के बद्धत्व के विषय में चर्चा की गई है। इस शतक का नाम बंधशतक है।

सत्ताईसवें शतक में पापकर्म के विषय में चर्चा है। इस शतक का नाम करिसु शतक है। इसमें ग्यारह उद्देशक हैं।

अट्ठाईसवें शतक में कर्मोपार्जन के विषय में विचार किया गया है। इस शतक का नाम कर्मसमर्जन है।

उनतीसवें शतक में कर्मयोग के प्रारंभ एवं अन्त का विचार है। इस शतक का नाम कर्मप्रस्थापन है।

तीसवें शतक में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी एवं विनयवादी की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है। जो जीव शुक्ललेश्या वाले हैं वे चार प्रकार के हैं। लेश्यारहित जीव केवल क्रियावादी हैं। कृष्णलेश्या वाले जीव क्रियावादी के अतिरिक्त तीनों प्रकार के हैं। नारकी चारों प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक केवल अक्रियावादी एवं अज्ञानवादी हैं। इसी प्रकार समस्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय के विषय में समझना चाहिए। मनुष्य एवं देव चार प्रकार के हैं। ये चारों वादी भवसिद्धिक हैं अथवा अभवसिद्धिक, इसकी भी चर्चा की गई है। इस शतक में ग्यारह उद्देशक हैं। इसका नाम समवसरण शतक है।

इकतीसवें शतक में फिर युग्म की चर्चा है। यह अन्य ढङ्ग से है। इस शतक का नाम उपपात शतक है। इसमें २८ उद्देशक हैं।

बत्तीसवें शतक में भी इसी प्रकार की चर्चा है। यह चर्चा उद्वर्तना सम्बन्धी है। इसीलिए इस शतक का नाम उद्वर्तना शतक है। इसमें भी २८ उद्देशक हैं।

तैंतीसवें शतक में एकेन्द्रिय जीवों के विषय में विविध प्रकार की चर्चा है। इस शतक में उद्देशक नहीं अपितु अन्य बारह शतक (उपशतक) हैं। यह इस शतक की विशेषता है।

चौंतीसवें शतक में भी इसी प्रकार की चर्चा एवं अवान्तर शतक हैं।

पैंतीसवें शतक में कृतयुग्म आदि की विभिन्न भंगपूर्वक चर्चा की गई है। यह चर्चा एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में है। छत्तीसवें शतक में इसी प्रकार की चर्चा द्वीन्द्रिय जीवों के विषय में है।

इसी प्रकार सैंतीसवें, अड़तीसवें, उनचालीसवें एवं चालीसवें शतक में क्रमशः त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय एवं संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के विषय में चर्चा है।

इकतालीसवें शतक में युग्म की अपेक्षा से जीवों की विविध प्रवृत्तियों के विषय में चर्चा की गई है। इस शतक में १९६ उद्देशक हैं। इसका नाम राशियुग्मशतक है। यह व्याख्याप्रज्ञप्ति का अन्तिम शतक है।

उपसंहार :

इस अंग में कुछ बातें बार-बार आती हैं। इसका कारण स्थानभेद, पृच्छकभेद तथा कालभेद है। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो समझ में ही नहीं आतीं। उनके बारे में वृत्तिकार ने भी विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया है। इस अंग पर चूर्णि, अवचूरिका तथा लघुटीका भी उपलब्ध है। चूर्णि तथा अवचूरिका अप्रकाशित हैं।

ग्रन्थ के अन्त में एक गाथा द्वारा गुणविशाल संघ का स्मरण किया गया है तथा श्रुतदेवता की स्तुति की गई है। इसके बाद सूत्र के अध्ययन के उद्देशों को लक्ष्य कर समय का निर्देश किया गया है। अन्त में गौतमादि गणधरों को नमस्कार किया गया है। वृत्तिकार के कथनानुसार इसका सम्बन्ध किसी प्रतिलिपिकार के साथ है। अन्त ही अन्त में शान्तिकर श्रुतदेवता का स्मरण किया गया है। साथ ही कुंभधर, ब्रह्मशान्तियक्ष, वैरोट्या विद्यादेवी तथा अंतहुंडी नामक देवी को याद किया गया है। प्रतिलिपिकार ने निर्विघ्नता के लिए इन सब की प्रार्थना की है। इनमें से अंतहुंडी नाम के विषय में कुछ पता नहीं लगता।

ज्ञाताधर्मकथा

कारागार

शैलक मुनि

शुक परिव्राजक

थावच्चा सार्थवाही

चोक्खा परिव्राजिका

चीम एवं चीनी

डूबती नौका

उदकज्ञात

विविध मतानुयायी

दयालु मुनि

पाण्डव-प्रकरण

सुंसुमा

सप्तम प्रकरण

ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा[1] का उपोद्घात विपाकसूत्र के उपोद्घात के ही समान है। इसमें सुधर्मास्वामी के 'ओयंसी तेयंसी चउणाणोवगते चोद्दसपुव्वी' आदि अनेक विशेषण उपलब्ध हैं। यहाँ 'विहरति' क्रियापद का तृतीय पुरुष में प्रयोग हुआ है। सुधर्मास्वामी के वर्णन के बाद जो जंबूस्वामी का वर्णन आता है उसमें भी 'घोरतवस्सी' आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी क्रियापद

---

1 (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९; आगम-संग्रह, कलकत्ता, सन् १८७६; सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९५१-१९५२.

(आ) गुजराती छायानुवाद—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३१.

(इ) हिन्दी अनुवाद—मुनि प्यारचंद, जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम, वि. सं. १९९५.

(ई) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६३.

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(ऊ) गुजराती अनुवादसहित (अध्ययन १-८)—जेठालाल, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९८५.

का प्रयोग तृतीय पुरुष में हो हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि यह उपोद्घात भी सुधर्मा व जम्बू के अतिरिक्त किसी अन्य गीतार्थ महानुभाव ने बनाया है।

प्रस्तुत अंगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञातरूप—उदाहरणरूप उन्नीस अध्ययन हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं के दस वर्ग हैं। इन वर्गों में चमर, बलि, चन्द्र, सूर्य, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र आदि की पटरानियों के पूर्वभव की कथाएँ हैं। ये पटरानियां अपने पूर्वभव में भी स्त्रियां थीं। इनके जो नाम यहां दिये गये हैं वे सब पूर्वभव के ही नाम हैं। इस प्रकार इनके मनुष्यभव के ही नाम देवलोक में भी चलते हैं।

प्रथम अध्ययन 'उक्खित्तणाय' में अनेक विशिष्ट शब्द आए हैं—राजगृह, जवणिया (यवनिका—परदा), अट्ठारस सेणीप्पसेणीओ, याग, गणनायक, बहत्तर कला, अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासा, उग्र, भोग, राजन्य, मल्लिकी, लेच्छकी—लिच्छवी, कुत्तियावण, विपुलपर्वत इत्यादि। इन शब्दों से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का बोध होता है।

कारागार :

प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में कारागार का विस्तृत वर्णन है। इसमें कारागार की भयंकर यातनाओं का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इस कथा में यह बताया गया है कि आज की तरह उस समय के मा-बाप भी बालकों को गहने पहना कर बाहर भेजते थे जिससे उनकी हत्या तक हो जाती थी। राज्य के छोटे से अपराध में फँसने पर भी सेठ को कारावास भोगना पड़ता था, यह इस कथा में स्पष्ट बताया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि पुत्र-प्राप्ति के लिए माताएँ किस प्रकार विविध देवों की विविध मनौतियां मनाती थीं। इस कथा से यह मालूम पड़ता है कि कारागार में भोजन घर से ले जाने दिया जाता था। भोजन ले जाने के साधन का नाम भोजनपिटक है। वृत्तिकार के कथनानुसार यह बांस का बना होता है। इस भोजनपिटक को मुहर—छाप लगाकर व चिह्नित करके कारागार में भेजा जाता था। भोजनपिटक के साथ पानी का घड़ा भी भेजा जाता था। कारागार से छूटने के बाद सेठ आलंकारिक सभा में जाकर हजामत बनवा कर सज्जित होता है। मालूम होता है उस समय कारागार में हजामत बनवाने का प्रबन्ध नहीं था। हजामत की दुकान के लिए

प्रस्तुत कथा में 'आलंकारिक सभा' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह कथा रूपक अथवा दृष्टान्त के रूप में है। इसमें सेठ अपने पुत्र के घातक चोर के साथ बांधा जाता है। सेठ आत्मारूप है तथा अन्य चोर देहरूप है। शत्रुरूप चोर की सहायता प्राप्त करने के लिए सेठ उसे खाने-पीने को देता था। इसी प्रकार शरीर को सहायक समझ कर उसका पोषण करना प्रस्तुत कथानक का सार है। एतद्विषयक विशेष समीक्षा मैंने अपनी पुस्तक 'भगवान महावीरनी धर्मकथाओ' में की है।

तृतीय अंड—अंडा नामक तथा चतुर्थ कूर्म नामक अध्ययन के विशेष शब्द ये हैं—मयूरपोषक, मयंगतीर—मृतगंगा इत्यादि। ये दोनों अध्ययन मुमुक्षुओं के लिए बोधदायक हैं।

शैलक मुनि :

पांचवें अध्ययन में शैलक नामक एक मुनि की कथा आती है। शैलक बीमार हो जाता है। उसे स्वस्थ करने के लिए वैद्य औषधि के रूप में मद्य पीने की सिफारिश करते हैं। वह मुनि मद्य तथा अन्य प्रकार के स्वास्थ्यप्रद भोजन का उपयोग कर स्वस्थ हो जाता है। स्वस्थ होने के बाद भी वह रस में आसक्त होकर मद्यादि का त्याग नहीं करता। यह देख कर पंथक नामक उसका शिष्य विनयपूर्वक उसे मार्ग पर लाता है एवं शैलक मुनि पुनः सदाचार सम्पन्न एवं तपस्वी बन जाता है। जिस ढंग से पंथक ने अपने गुरु को जाग्रत किया उस प्रकार के विनय की वर्तमान में भी कभी-कभी आवश्यकता होती है।

इस अध्ययन में षष्टितंत्र, रेवतक पर्वत वगैरह विशिष्ट शब्द आए हैं।

शुक परिव्राजक :

इसी अध्ययन में एक शुकपरिव्राजक की कथा आती है। वह अपने धर्म को शौचप्रधान मानता है। वह परिव्राजक सौगंधिका नगरी का निवासी है। इस नगरी में उसका मठ है। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का ज्ञाता है, षष्टितंत्र में कुशल है, सांख्यमत में निपुण है, पांच यम एवं पांच नियम युक्त शौचमूलक दस प्रकार के धर्म का निरूपण करने वाला है, दानधर्म, शौच-धर्म एवं तीर्थाभिषेक को समझाने वाला है, धातुरक्त वस्त्र पहनता है। उसके उपकरण ये हैं : त्रिदंड, कुंडिका, छत्र, करोटिका, कमंडल, रुद्राक्षमाला, मृत्तिका-भाजन, त्रिकाष्ठिका, अंकुश, पवित्रक—तांबे की अंगूठी, केसरी—प्रमार्जन के लिए वस्त्र-का टुकड़ा। वह सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। सुदर्शन नामक कोई गृहस्थ उसका अनुयायी था जो जैन तीर्थंकर के परिचय में आकर जैन

हो गया था। उसे पुनः अपने मत में लाने के लिए शुक उसके पास आता है। वृत्तिकार ने इस शुक को व्यास का पुत्र कहा है।

शुक कहता है कि शौच दो प्रकार का है: द्रव्यशौच और भावशौच। पानी व मिट्टी से होने वाला शौच द्रव्यशौच है तथा दर्भ व मंत्र द्वारा होने वाला शौच भावशौच है। जो अपवित्र होता है वह शुद्ध मिट्टी व जल से पवित्र हो जाता है। जीव जलाभिषेक करने से स्वर्ग में जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथा में वैदिक कर्मकाण्ड का थोड़ा-सा परिचय मिलता है।

जब शुक को मालूम पड़ा कि सुदर्शन किसी अन्य मत का अनुयायी हो गया है तो उसने सुदर्शन से कहा कि हम तुम्हारे धर्माचार्य के पास चलें और उससे कुछ प्रश्न पूछें। यदि वह उनका ठीक उत्तर देगा तो मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। सुदर्शन के धर्माचार्य ने शुक के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सही उत्तर दे दिया। शुक अपनी शर्त के अनुसार जैनाचार्य का शिष्य हो गया। उसने अपने पूर्व उपकरणों का त्याग कर चोटी उखाड़ ली। वह पुंडरीक पर्वत पर जाकर अनशन करके सिद्ध हुआ। मूल सूत्र में पुंडरीक पर्वत की विशिष्ट स्थिति के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। वृत्तिकार ने इसे शत्रुंजय पर्वत कहा है। प्रस्तुत प्रकरण में जैन साधु के पंचमहाव्रत आदि आचार को एवं जैन गृहस्थ के अणुव्रत आदि आचार को विनय कहा गया है। विनयपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों में विनय शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

शुक-परिव्राजक की कथा में यापनीय, सरिसवयं, कुलत्थ, मास इत्यादि द्व्यर्थक शब्दों की भी अतीव रोचक चर्चा हुई है।

थावच्चा सार्थवाही :

प्रस्तुत पांचवें अध्ययन की इस कथा में थावच्चा नामक एक सार्थवाही का कथानक आता है। वह लौकिक एवं राजकीय व्यवहार व व्यापार आदि में कुशल थी। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि कुछ स्त्रियां भी पुरुष के ही समान व्यापारिक एवं व्यावसायिक कुशलता वाली थीं। इस ग्रन्थ में आनेवाली रोहिणी की कथा भी इस कथन की पुष्टि करती है। इस कथा में कृष्ण के राज्य की सीमा वैताढ्य पर्वत के अन्त तक बताई गई है। यह वैताढ्य पर्वत कौनसा है व कहां स्थित है? एतद्विषयक अनुसंधान की आवश्यकता है।

छठे अध्ययन का नाम 'तुंब' है। तुंब की कथा शिक्षाप्रद है।

सातवें अध्ययन में जैसी रोहणी की कथा आती है वैसी ही कथा बाइबिल के नये करार में मथ्थुकी और ल्यूक के संवाद में भी उपलब्ध होती है और आठवें अध्ययन में आई हुई रोहणी तथा मल्लि की कथा में स्त्रीजाति के प्रति विशेष आदर तथा उनके सामर्थ्य, चातुर्य आदि उत्तमोत्तम गुण भी वर्णित हैं।

चोक्खा परिव्राजिका :

आठवें अध्ययन के मल्लि के कथानक में चोक्खा नामक एक सांख्यमतानुयायिनी परिव्राजिका का वर्णन आता है। यह परिव्राजिका वेदादि शास्त्रों में निपुण थी। उसकी कुछ शिष्याएं भी थीं। इनके रहने के लिए मठ था।

चीन एवं चीनी :

मल्लि अध्ययन में "चीणचिमिढवंकभग्गनासं" इस वाक्य द्वारा किये गए पिशाच के रूप वर्णन के प्रसंग पर अनेक बार 'चीन' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग नाक की छुटाई के सन्दर्भ में किया गया है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि कथा के समय में चीनी लोग इस देश में आ पहुँचे हों।

डूबती नौका :

नवें अध्ययन में आई हुई माकंदी की कथा में नौका का विस्तृत वर्णन है। इसमें नावसम्बन्धी समस्त साधन-सामग्री का विस्तार से परिचय दिया गया है। इस नवम अध्ययन में समुद्र में डूबती हुई नाव का जो वर्णन है वह कादम्बरी जैसे ग्रन्थ में उपलब्ध डूबती नौका के वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। यह वर्णन काव्यशैली का एक सुन्दर नमूना है।

दसवें तथा ग्यारहवें अध्ययन की कथाएँ उपदेशप्रद हैं।

उदकज्ञात :

बारहवें अध्ययन उदकज्ञात में गटर के गंदे पानी को साफ करने की पद्धति बताई हुई है। यह पद्धति वर्तमानकालीन फिल्टरपद्धति से मिलती-जुलती है। इस कथानक का आशय यह है कि पुद्गल के अशुद्ध परिणाम से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है।

तेरहवें अध्ययन में नंदमणियार की कथा आती है। इसमें लोगों के आराम के लिए नंदमणियार द्वारा पुष्करिणी बनवाने की कथा अत्यन्त रोचक है और साथ-साथ चार उद्यान बनवाकर उनमें से एक उद्यान में चित्रसभा तथा

लोगों के श्रम को दूर करने के लिए संगीतशाला और दूसरे में जलयंत्रों से सुशोभित पाकशाला, तीसरे उद्यान में एक अच्छा बड़ा औषधालय बनवाया गया था जिसमें अच्छे वैद्य भी रखे गए थे और चौथे उद्यान में ग्रामजनता के लिए एक आलंकारिक सभा बनवाई गई थी। इस कथा में रोगों के नाम तथा उनके उपचार के लिए विविध प्रकार के आयुर्वेदिक उपाय भी सूचित किए गए हैं।

चौदहवें तेयलि अमात्य के अध्ययन में जो बातें मिलती हैं वे आवश्यक-चूर्णि में भी बताई गई हैं।

विविध मतानुयायी :

नंदीफल नामक पंद्रहवें अध्ययन में एक संघ के साथ विविध मत वालों के प्रवास का उल्लेख है। उन मतवालों के नाम ये हैं :—

चरक—त्रिदंडी अथवा कछनोधारी—कौपीनधारी—तापस।

चीरिक—गली में पड़े हुए चीथड़ों से कपड़े बनाकर पहननेवाले संन्यासी।

चर्मखंडिक—चमड़े के वस्त्र पहनने वाले अथवा चमड़े के उपकरण रखने वाले संन्यासी।

भिच्छुंड—भिक्षुक अथवा बौद्धभिक्षुक।

पंडुरग—शिवभक्त अर्थात् शरीर पर भस्म लगाने वाले।

गौतम—अपने साथ बैल रखने वाले भिक्षुक।

गोव्रती—रघुवंश में वर्णित राजा दिलीप की भांति गोव्रत रखने वाले।

गृहिधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानने वाले।

धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।

अविरुद्ध—किसी के प्रति विरोध न रखने वाले अर्थात् विनयवादी।

विरुद्ध—परलोक का विरोध करने वाले अथवा समस्त मतों के साथ विरोध रखने वाले।

वृद्ध—वृद्धावस्था में संन्यास लेने में विश्वास रखने वाले।

श्रावक—धर्म का श्रवण करने वाले।

रक्तपट—रक्तवस्त्रधारी परिव्राजक।

यहाँ जो अर्थ दिये गये हैं वे इस कथासूत्र की वृत्ति के अनुसार हैं। इस विषय में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता हो सकती है।

दयालु मुनि :

सोलहवें 'अवरकंका' नामक अध्ययन में एक ब्राह्मणी द्वारा एक जैन मुनि को कड़वी तुंबी का शाक दिये जाने की घटना है। इसमें ब्राह्मण एवं श्रमण का विरोध ही काम करता है। इस घटना से स्पष्ट मालूम होता है कि इस विरोध की जड़ें कितनी गहरी हैं। मुनि चींटियों पर दया लाकर उस कडुए शाक को जमीन पर न डालते हुए खुद ही खा जाते हैं एवं परिणामतः मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

इस अध्ययन में वर्णित पारिष्ठापनिकासमिति का स्वरूप विशेष विचारणीय है।

पाण्डव-प्रकरण :

प्रस्तुत कथा में सुकुमालिका नामक एक ऐसी कन्या की बात आती है जिसके शरीर का स्पर्श स्वाभाविकतया दाहक था। इसमें एक विवाह करने के के बाद दामाद के जीवित होते हुए भी कन्या का दूसरा विवाह करने की पद्धति का उल्लेख है। इसमें द्रौपदी के पांच पति कैसे हुए, इसकी विचित्र कथा है। महाभारत में भी व्यास मुनि द्वारा कही हुई इस प्रकार की और दो कथाओं का उल्लेख है। यहां नारद का भी उल्लेख है। उसे कलह-कुशल के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें लोक-प्रचलित कथा कूपमंडूक का भी दृष्टान्त के रूप में उपयोग किया गया है। पांडव कृष्ण के बल की परीक्षा किस प्रकार करते हैं, इसका एक नमूना प्रस्तुत ग्रंथ में मिलता है। कथाकार द्रौपदी का पूर्वभव बताते हुए कहते हैं कि वह अपने पूर्वजन्म में स्वच्छन्द जैन साध्वी थी तथा कामसंकल्प से घिरी हुई थी। उसे अस्नान के कठोर नियम के प्रति घृणा थी। वह बार-बार अपने हाथ-पैर आदि अंगों को धोया करती तथा बिना पानी छींटे कहीं पर बैठती-सोती न थी। यह साध्वी मर कर द्रौपदी बनी। उसके प्राचीन कामसंकल्प के कारण उसे पांच पति प्राप्त हुए। इस कथा में कृष्ण के नरसिंहरूप का भी उल्लेख है। इससे मालूम पड़ता है कि नरसिंहावतार की कथा कितनी लोकव्यापक हो गई थी। इस कथा में यह भी उल्लेख है कि कृष्ण ने अप्रसन्न होकर पांडवों को देशनिकाला दिया। पाण्डवों ने निर्वासित अवस्था में पांडुमथुरा बसाई जो वर्तमान में दक्षिण में मदुरा के नाम से प्रसिद्ध है। इस कथा में शत्रुंजय तथा उज्जयंत—गिरनार पर्वत का भी उल्लेख एक साधारण पर्वत की तरह है। शत्रुंजय पर्वत हस्तकल्प नगर के पास बताया गया है। वर्तमान 'हाथप' हस्तकल्प का ही परिवर्तित रूप प्रतीत होता है। शिलालेखों में इसे 'हस्तवप्र' कहा गया है।

प्राइण्ण—आजञ्ञ—आजन्य – उत्तम घोड़ों—को कथा जिसमें आती है उस सत्रहवें अध्ययन में मच्छंडिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर नाम की तीन प्रकार की शक्कर की चर्चा की गई है तथा उसके प्रलोभन में फंसने वालों को कैसी दुर्दशा होती है, यही बताने का इस कथा का आशय है।

सुंसुमा :

सुंसुमा नामक अठारहवें अध्ययन में असाधारण परिस्थिति उपस्थित होने पर जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान के मृत शरीर का मांस खाकर जीवन-रक्षा कर सकते हैं इसी प्रकार षट्काय के रक्षक व जीवमात्र के माता-पिता के समान जैन *श्रमण-श्रमणियां असाधारण परिस्थिति में ही आहार का उपभोग करते हैं।* उनके लिए आहार अपनी संतान के मृत शरीर के मांस के समान है। उन्हें रसास्वादन की दृष्टि से नहीं अपितु संयम-साधनरूप शरीर की रक्षा के निमित्त ही असह्य क्षुधा-वेदना होने पर आहार ग्रहण करना चाहिए, ऐसा उपदेश है। बौद्ध ग्रंथ संयुत्तनिकाय में इसी प्रकार की कथा इसी आशय से भगवान् बुद्ध ने कही है। विशुद्धिमार्ग तथा शिक्षासमुच्चय में भी इसी कथा के अनुसार आहार का उद्देश्य बताया गया है। स्मृतिचंद्रिका में बताया गया है कि मनुस्मृति में वर्णित त्यागियों से सम्बन्धित आहार-विधान इसी प्रकार का है।

इस प्रकार प्रस्तुत कथा-ग्रन्थ की मुख्य तथा अवान्तर कथाओं में भी अनेक घटनाओं, विविध शब्दों एवं विभिन्न वर्णनों से प्राचीनकालीन अनेक बातों का पता लगता है। इन कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर संस्कृति व इतिहास सम्बन्धी अनेक तथ्यों का पता लग सकता है।

प्रकरण ८

उपासकदशा

मर्यादा-निर्धारण

विघ्नकारी देव

मांसाहारिणी स्त्री व नियतिवादी श्रावक

आनन्द का अवधिज्ञान

उपसंहार

अष्टम प्रकरण

उपासकदशा

सातवें अंग उपासकदशा[1] में भगवान् महावीर के दस उपासकों—श्रावकों की कथाएँ हैं। 'दशा' शब्द दस संख्या एवं अवस्था दोनों का सूचक है। उपासकदशा में उपासकों की कथाएँ दस ही हैं अतः दस संख्यावाचक अर्थ उपयुक्त है। इसी प्रकार उपासकों की अवस्था का वर्णन करने के कारण अवस्थावाची अर्थ भी उपयुक्त ही है।

---

१. (अ) अभयदेवकृत टीकासहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२०; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल वैद्य, पूना, सन् १६३०.

(इ) अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ—Hoernle, Bibliotheca Indica, Cacutta, 1885-1888.

(ई) गुजराती छायानुवाद—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १६३१.

(उ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १६६१.

(ऊ) अभयदेवकृत टीका के गुजराती अनुवाद के साथ—भगवानदास हर्षचन्द्र, अहमदाबाद, वि. सं० १६६२.

(ऋ) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

इस अंग का उपोद्घात भी विपाक के ही समान है।अतः यह कहा जा सकता है कि उतना उपोद्घात का अंश बाद में जोड़ा गया है।

स्थानांग में उपासकदशांग के दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं : आनंद, कामदेव, चूलणिपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता और सालतियापिया—सालेयिकापिता। दसवाँ नाम उपासकदशांग में सालिहीपिया है जबकि स्थानांग में सालतियापिया अथवा सालेयिकापिता है। कुछ प्राचीन हस्तप्रतियों में लंतियापिया, लत्तियपिया, लतिणीपिया, लेतियापिया आदि नाम भी मिलते हैं। इसी प्रकार नंदिणीपिया के बजाय ललितांकपिया तथा सालेइणीपिया नाम भी आते हैं। इस प्रकार इन नामों में काफी हेरफेर हो गया है। समवायांग में अध्ययनों की ही संख्या दी है, नामों की सूचना नहीं। इसी प्रकार नंदीसूत्र में भी अध्ययन-संख्या का ही उल्लेख है, नामों का नहीं।

इस अंग का सटिप्पण अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टिप्पणियाँ प्रस्तुत लेखक द्वारा ही लिखी गई हैं अतः यहाँ एतद्विषयक विशेष विवेचन अनपेक्षित है।

मर्यादा-निर्धारण :

प्रस्तुत सूत्र में आनेवाली कथाओं में सब श्रावक अपने खान-पान, भोगोपभोग एवं व्यवसाय की मर्यादा निर्धारित करते हैं। इन्होंने धन की जो मर्यादा स्वीकार की है वह बहुत ही बड़ी मालूम होती है। खानपान की मर्यादा के अनुरूप ही सम्पत्ति की भी मर्यादा होनी चाहिए। ये श्रावक व्यापार, कृषि, ब्याज का धंधा एवं अन्य प्रकार का व्यवसाय करते रहते हैं। ऐसा करने पर धन बढ़ता ही जाना चाहिए। इस बढ़े हुए धन के उपयोग के विषय में सूत्र में किसी प्रकार का विशेष उल्लेख नहीं है। उदाहरणार्थ गायों की मर्यादा दस हजार अथवा इससे अधिक रखी है। अब उन गायों के नये-नये बछड़े-बछड़ियाँ होने पर उनका क्या होगा? निर्धारित संख्या में वृद्धि होने पर व्रतभंग होगा अथवा नहीं? व्रतभंग की स्थिति पैदा होने पर बढ़ी हुई सम्पत्ति का क्या उपयोग होगा?

आनन्द श्रावक के उसकी पत्नी एवं एक पुत्र था। इस प्रकार वे तीन व्यक्ति थे। आनन्द ने सम्पत्ति की जो मर्यादा रखी वह इस प्रकार है: हिरण्य की चार कोटि मुद्राएँ निधान में सुरक्षित, चार कोटि वृद्धि के लिए गिरवी आदि के हेतु, एवं चार कोटि व्यापार के लिए; दस-दस हजार गायों के चार व्रज, पांच सौ हलों से जोती जा सके उतनी जमीन; देशान्तरगामी पांच सौ शकट व उतने

ही अनाज आदि लाने के लिए, चार यानपात्र—नौका देशान्तरगामी व चार ही नौका घर के उपयोग के लिए। उसने खान-पान की जो मर्यादा रखी वह साधारण है।

वर्तमान में भी श्रावकलोग खान-पान के अमुक नियम रखते हुए पास में अत्यधिक परिग्रह व धनसम्पत्ति रखते हैं। कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा करने के बाद धन की वृद्धि होने पर उसे अपने स्वामित्व में न रखते हुए स्त्री-पुत्रादिक के नाम पर चढ़ा देते हैं। इस प्रकार छोटी-छोटी चीजों का तो त्याग होता रहता है किन्तु महादोषमूलक धनसंचय का काम बंद नहीं होता।

विघ्नकारी देव :

सूत्र में श्रावकों की साधना में विघ्न उत्पन्न करने वाले भूत-पिशाचों का भयंकर वर्णन है। जब ये भूतपिशाच विघ्न पैदा करने आते हैं तब केवल श्रावक ही उन्हें देख सकते हैं, घर के अन्य लोग नहीं। ऐसा क्यों? क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब उन श्रावकों की केवल मनोविकृति है? एतद्विषयक विशेष मनोवैज्ञानिक अनुसंधान की आवश्यकता है। वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी इस प्रकार के विघ्नकारी देवों-दानवों व पिशाचों की कथाएँ मिलती हैं।

मांसाहारिणी स्त्री व नियतिवादी श्रावक :

इस अंगग्रन्थ में एक श्रावक की मांसाहारिणी स्त्री का वर्णन है। इस श्रावक की तेरह पत्नियां थीं। तेरहवीं मांसाहारिणी पत्नी रेवती ने अपनी बारह सौतों की हत्या कर दी थी। वह अपने पीहर से गाय के बछड़ों का मांस मँगवा कर खाया करती थी। इस सूत्र में एक कुम्भकार श्रावक का भी वर्णन है जो मंखलिपुत्र गोशालक का अनुयायी था। बाद में भगवान् महावीर ने उसे युक्तिपूर्वक अपना अनुयायी बना लिया था। इस ग्रंथ में कुछ हिंसाप्रधान धंधों का श्रावकों के लिए निषेध किया गया है, जैसे शस्त्र बनाना, शस्त्र बेचना, विष बेचना, बाल का व्यापार करना, गुलामों का व्यापार करना आदि। एतद्विषयक विशेष समीक्षा 'भगवान महावीरना दश उपासको' नामक पुस्तक में दिये हुए उपोद्घात एवं टिप्पणियों में देखी जा सकती है।

आनन्द का अवधिज्ञान :

श्रावक को अवधिज्ञान किस हद तक हो सकता है, इस विषय में आनन्द व गौतम के बीच चर्चा है। आनन्द श्रावक कहता है कि मेरी बात ठीक है जबकि गौतम गणधर कहते हैं कि तुम्हारा कथन मिथ्या है। आनन्द गौतम की बात

मानने को तैयार नहीं होता। गौतम भगवान् महावीर के पास आकर इसका स्पष्टीकरण करते हैं एवं भगवान् महावीर की आज्ञा से आनंद के पास आकर अपनी गलती स्वीकार कर उससे क्षमायाचना करते हैं। इससे गौतम की विनीतता एवं ऋजुता तथा आनंद की निर्भीकता एवं सत्यता प्रकट होती है।

उपसंहार :

विद्यमान अंगसूत्रों व अन्य आगमों में प्रधानतः श्रमण-श्रमणियों के आचारादि का निरूपण ही दिखाई देता है। उपासकदशांग ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला गया है। इससे श्रावक अर्थात् श्रमणोपासक के मूल आचार एवं अनुष्ठान का कुछ पता लग सकता है। श्रमण-श्रमणी के आचार-अनुष्ठान की ही भांति श्रावक-श्राविका के आचार-अनुष्ठान का निरूपण भी अनिवार्य है क्योंकि ये चारों ही संघ के समान स्तम्भ हैं। वास्तव में श्रमण-श्रमणियों की विद्यमानता का आधार भी एक दृष्टि से श्रावक-श्राविकाएँ ही हैं। श्रावकसंस्था के आधार के बिना श्रमणसंस्था का टिकना संभव नहीं। श्रावकधर्म की भित्ति जितनी अधिक सदाचार व न्याय-नीति पर प्रतिष्ठित होगी, श्रमणधर्म की नींव उतनी ही अधिक दृढ़ होगी। इस विचार से श्रावक-श्राविकाओं के जीवनव्यवहार की व्यवस्था इसमें की गई है। गृहस्थकर्मों को केवल आरंभ-समारंभकारी कह देने से काम नहीं चलता अपितु गृहस्थधर्म में सदाचार एवं सद्विचार की प्रतिष्ठा करना इसका उद्देश्य है।

प्रकरण ९

अन्तकृतदशा

द्वारका-वर्णन

गजसुकुमाल

दयाशील कृष्ण

कृष्ण की मृत्यु

अर्जुनमाली एवं युवक सुदर्शन

अन्य अन्तकृत

नवम प्रकरण

अन्तकृतदशा

आठवाँ अंग अंतगडदसा[1] है। इसका संस्कृत रूप अंतकृतदशा अथवा अंतकृद्दशा है। अंतकृत अर्थात् संसार का अंत करनेवाले। जिन्होंने अपने संसार अर्थात् भवचक्र—जन्ममरण का अंत किया है अर्थात् जो पुन: जन्म-मरण के चक्र में फँसनेवाले नहीं हैं ऐसी आत्माओं का वर्णन अन्तकृतदशा में उपलब्ध है। इसका उपोद्घात भी विपाकसूत्र के ही समान है।

दिगम्बर परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रंथों में अंतकृतों के जो नाम मिलते हैं वे स्थानांग में उल्लिखित नामों से अधिकांशतया मिलते-जुलते हैं। स्थानांग में निम्नोक्त दस नामों का निर्देश है :—

---

[1] (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १६२०; धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७५.

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १९३२.

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—L. D. Barnett, 1907.

(ई) अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९९०.

(उ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५८.

(ऊ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९४०.

नमी, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकंम, पल्लते-तिय और फाल अंबडपुत्र ।

समवायांग में अन्तकृतदशा के दस अध्ययन व सात वर्ग बताये गये हैं। नामों का उल्लेख नहीं है। नन्दिसूत्र में इस अंग के दस अध्ययन व आठ वर्ग बताये गये हैं। नामों का उल्लेख इसमें भी नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध अंतकृतदशा में न तो दस अध्ययन ही हैं और न उपर्युक्त नामवाले अंतकृतों का ही वर्णन है। इसमें नंदी के निर्देशानुसार आठ वर्ग हैं, समवाय के उल्लेखानुसार सात वर्ग नहीं। उपलब्ध अंतकृतदशा के प्रथम वर्ग में निम्नोक्त दस अध्ययन हैं :—

गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, कंपिल्ल, अक्षोभ, पसेणई और विष्णु।

द्वारका-वर्णन :

प्रथम वर्ग में द्वारका का वर्णन है। इस नगरी का निर्माण धनपति की योजना के अनुसार किया गया। यह किस प्रदेश में थी, इसका सूत्र में कोई उल्लेख नहीं है। द्वारका के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत, नन्दनवन एवं सुरप्रिय यक्षायतन होने का उल्लेख है। राजा का नाम कृष्ण वासुदेव बताया गया है। कृष्ण के अधीन समुद्र-विजय आदि दस दशार्ह, बलदेव आदि पाँच महावीर, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, रुक्मिणी आदि सोलह हजार देवियाँ—रानियाँ, अनंगसेना आदि सहस्रों गणिकाएँ व अन्य अनेक लोग थे। यहाँ द्वारका में रहने वाले अंधकवृष्णि राजा का भी उल्लेख आता है।

अंधकवृष्णि के गौतम आदि दस पुत्र संयम ग्रहण कर उसका पूर्णतया पालन करते हुए सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन कर अंतकृत अर्थात् मुक्त हुए। ये दसों मुनि शत्रुंजय पर्वत पर सिद्ध हुए।

द्वितीय वर्ग में इसी प्रकार के अन्य दस नाम हैं।

गजसुकुमाल :

तृतीय वर्ग में तेरह नाम हैं। नगर भद्दिलपुर है। गृहपति का नाम नाग व उसकी पत्नी का नाम सुलसा है। इसमें सामायिक आदि चौदह पूर्वों के अध्ययन का उल्लेख है। सिद्धिस्थान शत्रुंजय ही है। इन तेरह नामों में गज-

सुकुमाल मुनि का भी समावेश है। कृष्ण के छोटे भाई गज को कथा इस प्रकार है।—

छः मुनि थे। वे छहों समान आकृतिवाले, समान वयवाले एवं समान वर्णोंवाले थे। वे दो-दो की जोड़ी में देवकी के यहां भिक्षा लेने गये। जब वे एक बार, दो बार व तीन बार आये तो देवकी ने सोचा कि ये मुनि बार-बार क्यों आते हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन मुनियों ने कहा कि हम बार-बार नहीं आते किन्तु हमसबकी समान आकृति के कारण तुम्हें ऐसा ही लगता है। हम छहों सुलसा के पुत्र हैं। मुनियों की यह बात सुन कर देवकी को कुछ स्मरण हुआ। उसे याद आया कि पोलासपुर नामक गांव में अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण ने मुझे कहा था कि तू ठीक एक समान आठ पुत्रों को जन्म देगी। देवकी ने सोचा कि उस मुनि का कथन ठीक नहीं निकला। वह एतद्विषयक स्पष्टीकरण के लिए तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पास पहुँची। अरिष्टनेमि ने बताया कि अतिमुक्तक की बात गलत नहीं है। ऐसा हुआ है कि सुलसा के मृत बालक पैदा होते थे। उसने पुत्र देनेवाले हरिणेगमेसी देव की आराधना की। इससे उसने तेरे जन्मे हुए पुत्र उठाकर उसे सौंप दिये व उसके मरे हुए बालक लाकर तेरे पास रख दिये। इस प्रकार ये छः मुनि वस्तुतः तेरे ही पुत्र हैं। यह सुनकर देवकी के मन में विचार हुआ कि मैंने किसी बालक का बचपन नहीं देखा अतः अब यदि मेरे एक पुत्र हो तो उसका बचपन देखूँ। इस विचार से देवकी भारी चिन्ता में पड़ गई। इतने में कृष्ण वासुदेव देवकी को प्रणाम करने आये। देवकी ने कृष्ण को अपने मन की बात बताई। कृष्ण ने देवकी को सांत्वना देते हुए कहा कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरे एक छोटा भाई हो। इसके बाद कृष्ण ने पौषधशाला में जाकर तीन उपवास कर हरिणेगमेसी देव की आराधना की व उससे एक छोटे भाई की मांग की। देव ने कहा कि तेरा छोटा भाई होगा और वह छोटी उम्र में ही दीक्षित होकर सिद्धि प्राप्त करेगा। बाद में देवकी को पुत्र हुआ। उसी का नाम गज अथवा गजसुकुमाल है। गज का विवाह करने के उद्देश्य से कृष्ण ने चतुर्वेदज्ञ सोमिल ब्राह्मण की सोमा नामक कन्या को अपने यहां लाकर रक्खी। इतने में भगवान् अरिष्टनेमि द्वारका के सहस्राम्रवन उद्यान में आये। उनका उपदेश सुनकर माता-पिता की अनुमति मांगकर गज ने दीक्षा अंगीकार की। सोमा ऐसे ही रह गई। सोमिल ने क्रोधित हो श्मशान में ध्यान करते हुए मुनि गजसुकुमाल के सिर पर मिट्टी की

पाल बाँधकर धधकते अंगारे रखे। मुनि शान्त भाव से मृत्यु प्राप्त कर अन्तकृत हुए।

इस कथा में अनेक बातें विचारणीय हैं, जैसे पुत्र देनेवाला हरिणेगमेसी देव, क्षायिकसम्यक्त्वधारी कृष्ण द्वारा की गई उसकी आराधना और वह भी पौषध-शाला में, देवकी के पुत्रों का अपहरण, अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी, भगवान् अरिष्टनेमि का एतद्विषयक स्पष्टीकरण आदि।

दयाशील कृष्ण :

तृतीय वर्ग में कृष्ण से सम्बन्धित एक विशिष्ट घटना इस प्रकार है :—

एक बार वासुदेव कृष्ण सदलबल भगवान् अरिष्टनेमि को वंदन करने जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक वृद्ध मनुष्य को ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर ले जाते हुए देखा। यह देखकर कृष्ण के हृदय में दया आई। उन्होंने भी ईंटें उठाना शुरू किया। यह देखकर साथ के सब लोग भी ईंटें उठाने लगे। देखते ही देखते सब ईंटें घर में पहुँच गईं। इससे उस वृद्ध मनुष्य को राहत मिली। वासुदेव कृष्ण का यह व्यवहार प्रति सहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति का निर्देशक है।

चतुर्थ वर्ग में जालि आदि दस मुनियों की कथा है।

कृष्ण की मृत्यु :

पाँचवें वर्ग में पद्मावती आदि दस अंतकृत स्त्रियों की कथा है। इसमें द्वारका के विनाश की भविष्यवाणी भगवान् अरिष्टनेमि के मुख से हुई है। कृष्ण की मृत्यु की भविष्यवाणी भी अरिष्टनेमि द्वारा ही की गई है जिसमें बताया गया है कि दक्षिण समुद्र की ओर पांडुमथुरा जाते हुए कोसंबी नामक वन में बरगद के वृक्ष के नीचे जराकुमार द्वारा छोड़ा हुआ बाण बायें पैर में लगने पर कृष्ण की मृत्यु होगी। इस कथा में कृष्ण ने यह भी घोषित किया है कि जो कोई दीक्षा लेगा उसके कुटुम्बियों का पालन-पोषण व रक्षण मैं करूँगा।

चौथे व पाँचवें वर्ग के अंतकृत कृष्ण के ही कुटुम्बीजन थे।

अर्जुनमाली एवं युवक सुदर्शन :

छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। इसमें एक मुद्गरपाणि यक्ष का विशिष्ट अध्ययन है। इसका सार इस प्रकार है :—

अर्जुन नाम का एक माली था। वह मुद्गरपाणि यक्ष का बड़ा भक्त था। प्रतिदिन उसकी प्रतिमा की पूजा-अर्चना किया करता था। उस प्रतिमा के हाथ में लोहे का एक विशाल मुद्गर था। एक बार भोगलोलुप गुंडों की एक टोली ने यक्ष के इस मंदिर में अर्जुन को बांध कर उसकी स्त्री के साथ अनाचारपूर्ण बरताव किया। उस समय अर्जुनमाली ने उस यक्ष की खूब प्रार्थना की एवं अपने को तथा अपनी स्त्री को उन गुण्डों से बचाने की अत्यन्त आग्रहपूर्ण विनती की किन्तु काष्ठप्रतिमा कुछ न कर सकी। इससे वह समझा कि यह कोई शक्तिशाली यक्ष नहीं है। यह तो केवल काष्ठ है। जब वे गुण्डे चले गये एवं अर्जुनमाली मुक्त हुआ तो उसने उस मूर्ति के हाथ में से लोहमुद्गर ले लिया एवं उस मार्ग से गुजरनेवाले सात जनों को प्रतिदिन मारने लगा। यह घटना राजगृह नगर में हुई। यह देखकर वहां के राजा श्रेणिक ने यह घोषित कर दिया कि उस मार्ग से कोई भी व्यक्ति न जाय। जाने पर मारे जाने की अवस्था में राजा की कोई जिम्मेदारी न होगी। संयोगवश इसी समय भगवान् महावीर का उसी वनखंड में पदार्पण हुआ। राजगृह का कोई भी व्यक्ति, यहां तक कि वहां का राजा भी अर्जुनमाली के भय से महावीर को वंदन करने न जा सका। पर इस राजगृह में सुदर्शन नामक एक युवक रहता था जो भगवान् महावीर का परम भक्त था। वह अकेला ही महावीर के वंदनार्थ उस मार्ग से रवाना हुआ। उसके माता-पिता ने तो बहुत मना किया किन्तु वह न माना। वह महावीर का साधारण भक्त न था। उसे लगा कि भगवान् मेरे गांव के पास आवें और मैं मृत्यु के भय से उन्हें वंदन करने न जाऊं तो मेरी भक्ति अवश्य लज्जित होगी। यह सोच कर सुदर्शन रवाना हुआ। मार्ग में उसे अर्जुनमाली मिला। वह उसे मारने के लिए आगे बढ़ा किन्तु सुदर्शन की शान्त मुद्रा देखकर उसका मित्र बन गया। बाद में दोनों भगवान् महावीर के पास पहुंचे। भगवान् का उपदेश सुन कर अर्जुनमाली मुनि हो गया। अन्त में उसने सिद्धि प्राप्त की।

इस कथा में एक बात समझ में नहीं आती कि श्रेणिक के पास राजसत्ता व सैनिकबल होते हुए भी वह अर्जुनमाली को लोगों को मारने से क्यों नहीं रोक सका? श्रेणिक भगवान् महावीर का असाधारण भक्त कहा जाता है फिर भी वह उन्हें वंदन करने नहीं गया। सारे नगर में भगवान् का सच्चा भक्त एक सुदर्शन ही साबित हुआ। संभवतः इस कथा का उद्देश्य यही बताना हो कि सच्ची श्रद्धा व भक्ति कितनी दुर्लभ है!

अन्य अंतकृत :

छठे वर्ग के पंद्रहवें अध्ययन में अतिमुक्त नामक भगवान् महावीर के एक शिष्य का कथानक है। इस अध्ययन में गांव के चौक अथवा क्रीडास्थल के लिए 'इन्द्रस्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सातवें वर्ग में तेरह अध्ययन हैं। इनमें अंतकृत-स्त्रियों का वर्णन है।

आठवें वर्ग में दस अध्ययन हैं। इन अध्ययनों में श्रेणिक की काली आदि दस भार्याओं का वर्णन है। इस वर्ग में प्रत्येक अंतकृत-साध्वी के विशिष्ट तप का विस्तृत परिचय दिया गया है। इससे इनकी तपस्या की उग्रता का पता लगता है।

प्रकरण १०

अनुत्तरौपपातिकदशा

जालि आदि राजकुमार

दीर्घसेन आदि राजकुमार

धन्यकुमार

दशम प्रकरण

अनुत्तरौपपातिकदशा

बारहवें स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक विमान हैं और इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध ये पांच अनुत्तर विमान हैं। ये विमान सब विमानों में श्रेष्ठ हैं अर्थात् इनसे श्रेष्ठतर अन्य विमान नहीं हैं। अतः इन्हें अनुत्तर विमान कहते हैं। जो व्यक्ति अपने तप एवं संयम द्वारा इन विमानों में उपपात अर्थात् जन्म ग्रहण करते हैं उन्हें अनुत्तरौपपातिक कहते हैं। जिस सूत्र में इसी प्रकार के मनुष्यों की दशा अर्थात् अवस्था का वर्णन है, उसका नाम अनुत्तरौपपातिकदशा[1] है।

---

[1] (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १६२० ; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५.

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १६३२.

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—L. D. Barnett, 1907.

(ई) मूल—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १६२१.

(उ) अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १६६०.

(ऊ) हिन्दी टीका सहित—मुनि आत्माराम, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १६३६.

(ऋ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १६५६.

(ए) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(ऐ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १६४०.

समवायांग में बताया गया है कि अनुत्तरौपपातिकदशा नवम अंग है। यह एक श्रुतस्कन्धरूप है। इसमें तीन वर्ग व दस अध्ययन हैं। नन्दीसूत्र में भी यही बताया गया है। इसमें अध्ययनों की संख्या का निर्देश नहीं है। अनुत्तरौपपातिकदशा के अन्त में लिखा है कि इसका एक श्रुतस्कन्ध है, तीन वर्ग हैं, तीन उद्देशनकाल हैं अर्थात् तीन दिनों में इसका अध्ययन पूर्ण होता है। प्रथम वर्ग में दस उद्देशक अर्थात् अध्ययन हैं, द्वितीय में तेरह एवं तृतीय में दस उद्देशक हैं। इस प्रकार इस सूत्र में सब मिलकर तैंतीस अध्ययन होते हैं। समवायांग सूत्र में इसके तीन वर्ग, दस अध्ययन व दस उद्देशनकाल बताये गये हैं। नन्दीसूत्र में तीन वर्ग व तीन ही उद्देशनकाल निर्दिष्ट हैं। इस प्रकार इन सूत्रों के उल्लेख में परस्पर भेद दिखाई देता है। इस भेद का कारण वाचना-भेद होगा।

राजवार्तिक आदि अचेलकपरम्परासम्मत ग्रन्थों में भी अनुत्तरौपपातिकदशा का परिचय मिलता है। इनमें इसके तीन वर्गों का कोई उल्लेख नहीं है। ऋषिदास आदि से सम्बन्धित दस अध्ययनों का ही निर्देश है। स्थानांग में दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं: ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, संस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्तक। स्थानांग व राजवार्तिक में जिन नामों का उल्लेख है उनमें से कुछ नाम उपलब्ध अनुत्तरौपपातिक में मिलते हैं। जैसे वारिषेण (राजवार्तिक) नाम प्रथम वर्ग में है। इसी प्रकार धन्य, सुनक्षत्र तथा ऋषिदास (स्थानांग व राजवार्तिक) नाम तृतीय वर्ग में हैं। अन्य नामों की अनुपलब्धि का कारण वाचनाभेद हो सकता है।

उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम वर्ग में १० अध्ययन हैं, द्वितीय वर्ग में १३ अध्ययन हैं और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। इस प्रकार तीनों वर्गों की अध्ययन-संख्या ३३ होती है। प्रत्येक अध्ययन में एक-एक महापुरुष का जीवन वर्णित है।

जालि आदि राजकुमार :

प्रथम वर्ग में जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदंत, वेहल्ल, वेहायस और अभयकुमार - इन दस राजकुमारों का जीवन दिया गया है। आर्य सुधर्मा ने अपने शिष्य जम्बू को उक्त दस राजकुमारों के जन्म, नगर, माता-पिता आदि का विस्तृत परिचय करवाकर उनके त्याग व तप का सुंदर ढंग से वर्णन किया है और बताया है कि ये दसों राजकुमार मनुष्य-भव पूर्ण करके

कौन-कौन से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं तथा देवयोनि पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर कहाँ जन्म लेंगे एवं किस प्रकार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे ।

दीर्घसेन आदि राजकुमार :

द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्पसेन—इन तेरह राजकुमारों के जीवन का वर्णन जालिकुमार के जीवन की ही भांति संक्षेप में किया गया है । ये भी अपनी तपःसाधना द्वारा पांच अनुत्तर विमानों में गये हैं । वहाँ से च्युत होकर मनुष्यजन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे ।

धन्यकुमार :

तृतीय वर्ग में धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पुष्टिमातृक, पेढालपुत्र, पोट्टिल्ल और वेहल्ल—इन दस कुमारों के भोगमय एवं तपोमय जीवन का सुंदर चित्रण किया है । इनमें से धन्यकुमार का वर्णन विशेष विस्तृत है ।

धन्यकुमार काकंदी नगरी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था । भद्रा के पास अपरिमित धन तथा अपरिमित भोग-विलास के साधन थे । उसने अपने सुयोग्य पुत्र का लालन-पालन बड़े ऊँचे स्तर से किया था । धन्यकुमार भोग-विलास की सामग्री में डूब चुका था । एक दिन भगवान् महावीर की दिव्य वाणी सुनकर उसके मन में वैराग्य की भावना जाग्रत हुई और तदनुसार वह अपने विपुल वैभव का त्याग कर मुनि बन गया ।

मुनि बनने के बाद धन्य ने जो तपस्या की वह अद्भुत एवं अनुपम है । तपोमय जीवन का इतना सुन्दर एवं सर्वांगीण वर्णन श्रमणसाहित्य में तो क्या, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता । महाकवि कालिदास ने अपने ग्रंथ कुमारसंभव में पार्वती की तपस्या का जो वर्णन किया है वह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी धन्य मुनि की तपस्या के वर्णन के समकक्ष नहीं है—उससे अलग ही प्रकार का है ।

धन्यमुनि अपनी आयु पूर्ण करके सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए । वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म पाकर तपःसाधना द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे ।

प्रकरण ११



प्रश्न व्याकरण

असत्यवादी मत

हिंसादि आस्रव

अहिंसादि संवर

एकादश प्रकरण

प्रश्नव्याकरण

पण्हावागरण अथवा प्रश्नव्याकरण[1] दसवां अंग है। इसका जो परिचय अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रंथों एवं सचेलक परम्परा के स्थानांग आदि सूत्रों में मिलता है, उपलब्ध प्रश्नव्याकरण उससे सर्वथा भिन्न है।

स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनों का उल्लेख है: उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षोभकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दागप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

---

१ (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.

(आ) ज्ञानविमलविरचित वृत्तिसहित—मुक्तिविमल जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १९९५.

(इ) हिन्दी टीका सहित—मुनि हस्तिमल्ल, हस्तिमल्ल सुराणा, पाली, सन् १९५०.

(ई) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६२.

(उ) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६; घेवरचन्द्र बांठिया, सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, वि०सं० २००९.

(ऊ) गुजराती अनुवाद—मुनि छोटालाल, लाधाजी स्वामी पुस्तकालय, लींबड़ी, सन् १९३९.

समवायांग में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मंत्रविद्या एवं अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओं से सम्बन्धित हैं। इसके ४५ अध्ययन हैं।

नंदीसूत्र में भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं; अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयों का वर्णन है; नागकुमारों व सुवर्णकुमारों की संगति के दिव्य संवाद हैं; ४५ अध्ययन हैं।

विद्यमान प्रश्नव्याकरण में न तो उपर्युक्त विषय ही हैं और न ४५ अध्ययन ही। इसमें हिंसादिक पांच आस्रवों तथा अहिंसादिक पांच संवरों का दस अध्ययनों में निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रश्नव्याकरण का दोनों जैन परम्पराओं में उल्लेख है वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यमान प्रश्नव्याकरण बाद में होनेवाले किसी गीतार्थ पुरुष की रचना है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि लिखते हैं कि इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से इस प्रकार की सब विद्याएँ इस सूत्र में से निकाल दी गई एवं उनके स्थान पर केवल आस्रव व संवर का समावेश कर दिया गया। यहाँ एक बात विचारणीय है कि जिन भगवान् ज्योतिष आदि चमत्कारिक विद्याओं एवं इसी प्रकार की अन्य आरंभ-समारंभपूर्ण विद्याओं के निरूपण को दूषित प्रवृत्ति बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्नव्याकरण में चमत्कारिक विद्याओं का निरूपण जिन प्रभु ने कैसे किया होगा ?

प्रश्नव्याकरण का प्रारंभ इस गाथा से होता है :

> जंबू ! इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं पवयणस्स ।
> नीसंदं वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं ॥

अर्थात् हे जम्बू ! यहां महर्षिप्रणीत प्रवचनसाररूप आस्रव व संवर का निरूपण करूंगा।

गाथा में जंबू का नाम तो है किन्तु 'महर्षियों द्वारा सुभाषित' शब्दों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण केवल सुधर्मा द्वारा नहीं हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विषय की दृष्टि से यह सूत्र पूरा ही नया हो गया है

जिसका कर्ता कोई गीतार्थ पुरुष हो सकता है।

असत्यवादी मत :

सूत्रकार ने असत्यभाषक के रूप में निम्नोक्त मतों के नामों का उल्लेख किया है :—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पंचस्कन्धवादी — बौद्ध
३. मनोजीववादी—मन को जीव माननेवाले
४. वायुजीववादी— प्राणवायु को जीव माननेवाले
५. अंडे से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले
६. लोक को स्वयंभूकृत माननेवाले
७. संसार को प्रजापतिनिर्मित माननेवाले
८. संसार को ईश्वरकृत माननेवाले
९. सारे संसार को विष्णुमय माननेवाले
१०. आत्मा को एक, अकर्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त माननेवाले
११. जगत् को यादृच्छिक माननेवाले
१२. जगत् को स्वभावजन्य माननेवाले
१३. जगत् को देवकृत माननेवाले
१४. नियतिवादी—आजीवक

हिंसादि आस्रव :

इसके अतिरिक्त संसार में जिस-जिस प्रकार का असत्य व्यवहार में, कुटुम्ब में, समाज में, देश में व सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी प्रकार हिंसा, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह के स्वरूप व दूषणों का खूब लंबा वर्णन किया गया है। हिंसा का वर्णन करते समय वेदिका, विहार, स्तूप, लेण, चैत्य, देवकुल, आयतन आदि के निर्माण में होनेवाली हिंसा का निर्देश किया गया है। वृत्तिकार ने विहार आदि का अर्थ इस प्रकार दिया है : विहार अर्थात् बौद्धविहार, लेण अर्थात् पर्वत में काटकर बनाया हुआ घर, चैत्य अर्थात् प्रतिमा, देवकुल अर्थात् शिखरयुक्त देवप्रासाद।

जो लोग चैत्य, मंदिर आदि बनवाने में होनेवाली हिंसा को गिनती में नहीं लेते उनके लिए इस सूत्र का मूलपाठ तथा वृत्तिकार का विवेचन एक चुनौती है। इस प्रकरण में वैदिक हिंसा का भी निर्देश किया गया है एवं धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा का उल्लेख करना भी सूत्रकार भूले नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जगत् में चलनेवाली समस्त प्रकार की हिंसाप्रवृत्ति का भी निर्देश किया गया है। हिंसा के संदर्भ में विविध प्रकार के मकानों के विभिन्न भागों के नामों का, वाहनों के नामों का, खेती के साधनों के नामों का तथा इसी प्रकार के हिंसा के अनेक निमित्तों का निर्देश किया गया है। इसी प्रसंग पर अनार्य—म्लेच्छ जाति के नामों की भी सूची दी गई है।

असत्य के प्रकरण में हिंसात्मक अनेक प्रकार की भाषा बोलने का निषेध किया गया है।

चौर्य का विवेचन करते हुए संसार में विभिन्न प्रसंगों पर होनेवाली विविध चोरियों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अब्रह्मचर्य का विवेचन करते हुए सर्वप्रकार के भोगपरायण लोगों, देवों, देवियों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, माण्डलिक राजाओं एवं इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों के भोगों का वर्णन किया गया है। साथ ही शरीर के सौन्दर्य, स्त्री के स्वभाव तथा विविध प्रकार के कायोपचार का भी निरूपण किया गया है। इस प्रसंग पर स्त्रियों के निमित्त होनेवाले विविध युद्धों का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार ने एतद्विषयक व्याख्या में सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, रक्तसुभद्रा, अहल्या (अहिल्लिका), सुवर्णगुलिका, रोहिणी, किन्नरी, सुरूपा व विद्युन्मति की कथा जैन परम्परा के अनुसार उद्धृत की है।

पांचवें आस्रव परिग्रह के विवेचन में संसार में जितने प्रकार का परिग्रह होता है अथवा दिखाई देता है उसका सविस्तार निरूपण किया गया है। परिग्रह के निम्नोक्त पर्याय बताये गये हैं : संचय, उपचय, निधान, पिण्ड, महेच्छा, उपकरण, संरक्षण, संस्तव, आसक्ति। इन नामों में समस्त प्रकार के परिग्रह का समावेश है।

अहिंसादि संवर :

प्रथम संवर अहिंसा के प्रकरण में विविध व्यक्तियों द्वारा आराध्य विविध प्रकार की अहिंसा का विवेचन है। इसमें अहिंसा के पोषक विभिन्न अनुष्ठानों का भी निरूपण है।

सत्यरूप द्वितीय संवर के प्रकरण में विविध प्रकार के सत्यों का वर्णन है। इसमें व्याकरणसम्मत वचन को भी अमुक अपेक्षा से सत्य कहा गया है तथा बोलते समय व्याकरण के नियमों तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में निम्नलिखित सत्यों का निरूपण किया गया है : जनपदसत्य, संमतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

जनपदसत्य अर्थात् तद्-तद् देश की भाषा के शब्दों में रहा हुआ सत्य। संमतसत्य अर्थात् कवियों द्वारा अभिप्रेत सत्य। स्थापनासत्य अर्थात् चित्रों में रहा हुआ व्यावहारिक सत्य। नामसत्य अर्थात् कुलवर्धन आदि विशेषनाम। रूप सत्य अर्थात् वेश आदि द्वारा पहचान। प्रतीतिसत्य अर्थात् छोटे-बड़े का व्यवहारसूचक वचन। व्यवहारसत्य अर्थात् लाक्षणिक भाषा। भावसत्य अर्थात् प्रधानता के आधार पर व्यवहार, जैसे अनेक रंगवाली होने पर भी एक प्रधान रंग द्वारा ही वस्तु की पहचान। योगसत्य अर्थात् सम्बन्ध से व्यवहृत सत्य, जैसे छत्रधारी आदि। उपमासत्य अर्थात् समानता के आधार पर निर्दिष्ट सत्य, यथा समुद्र के समान तालाब, चन्द्र के समान मुख आदि।

अचौर्य सम्बन्धी प्रकरण में अचौर्य से संबंधित समस्त अनुष्ठानों का वर्णन है। इसमें अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम तक व्याख्या की गई है।

ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रकरण में ब्रह्मचर्य का निरूपण, तत्सम्बन्धी अनुष्ठानों का वर्णन एवं उसकी साधना करने वालों का प्ररूपण किया गया है। साथ ही अनाचरण की दृष्टि से ब्रह्मचर्यविरोधी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

अन्तिम प्रकरण अपरिग्रह से सम्बन्धित है। इसमें अपरिग्रहवृत्ति के स्वरूप, तद्विषयक अनुष्ठानों एवं अपरिग्रहव्रतधारियों के स्वरूप का निरूपण है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में पांच आस्रवों तथा पांच संवरों का निरूपण है। इसमें महाव्रतों की समस्त भावनाओं का भी प्ररूपण है। भाषा समासयुक्त है जो शीघ्र समझ में नहीं आती। वृत्तिकार ने प्रारंभ में ही लिखा है कि इस ग्रंथ की प्राय: कूट पुस्तकें (प्रतियां) उपलब्ध हैं। हम अज्ञानी हैं और यह शास्त्र गंभीर है। अत: विचारपूर्वक अर्थ की योजना करनी चाहिए। सबसे अन्त में उन्होंने यह भी लिखा है कि जिनके पास आम्नाय नहीं है उन हमारे जैसे लोगों के

लिए इस शास्त्र का अर्थ समझना कठिन है। अतः यहां हमने जो अर्थ दिया है वही ठीक है, ऐसी बात नहीं है। वृत्तिकार के इस कथन से मालूम पड़ता है कि आगमों की आम्नाय अर्थात् परम्परागत विचारसरणि खंडित हो चुकी थी—टूट चुकी थी। प्रतियां भी प्रायः विश्वसनीय न थीं। अतः विद्वानों को सोच-समझ कर शास्त्रों का अर्थ करना चाहिए। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० ७३-७४) में कहा गया है कि आक्षेपविक्षेप द्वारा हेतुनयाश्रित प्रश्नों के व्याकरण का नाम प्रश्नव्याकरण है। उसमें लौकिक तथा वैदिक अर्थों का निर्णय है। इस विषयनिरूपण में हिंसा, असत्य आदि आस्रवों का तथा अहिंसा, सत्य आदि संवरों का समावेश होना संभावित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि अंगुष्ठप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि का विचार प्रश्नव्याकरण में है, ऐसी बात राजवार्तिककार ने नहीं लिखी है परंतु धवलाटीका में नष्टप्रश्न मुष्टिप्रश्न इत्यादि का विचार प्रश्नव्याकरण में है, ऐसा बताया गया है।

प्रकरण १२

विपाकसूत्र

द्वादश प्रकरण

विपाकसूत्र

विपाकसूत्र[1] के प्रारंभ में ही भगवान् महावीर के शिष्य सुधर्मा स्वामी एवं उनके शिष्य जम्बू स्वामी का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। साथ ही यह प्रश्न किया गया है कि भगवान् महावीर ने दसवें अंग प्रश्नव्याकरण में अमुक-अमुक बातें बताई हैं तो इस ग्यारहवें अंग विपाकश्रुत में क्या-क्या बातें बताई हैं? इसका उत्तर देते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि भगवान् महावीर ने इस श्रुत के दो श्रुतस्कन्ध बताये हैं: एक दुःखविपाक व दूसरा सुखविपाक। दुःखविपाक

---

[1] (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०; धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७६; मुक्तिकमलजैनमोहनमाला, बड़ौदा, सन् १९२०.

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १९३३.

(इ) गुजराती अनुवाद सहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि.सं. १९८७.

(ई) हिन्दी अनुवादसहित—मुनि आनन्दसागर, हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, कोटा, सन् १९३५; अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(उ) हिन्दी टीकासहित—ज्ञानमुनि, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना, वि. सं. २०१०.

(ऊ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९.

(ऋ) गुजराती छायानुवाद – गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९४०.

के दस प्रकरण हैं। इसी प्रकार सुखविपाक के भी दस प्रकरण हैं। यहाँ इन सब प्रकरणों के नाम भी बताये हैं। इनमें आनेवाली कथाओं के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति, रीतिरिवाज, जीवन-व्यवस्था आदि का पता लगता है।

प्रारम्भ में आनेवाला सुधर्मा व जम्बू का वर्णन इन दोनों महानुभावों के अतिरिक्त किसी तीसरे ही पुरुष द्वारा लिखा गया मालूम होता है। इससे यह फलित होता है कि इस उपोद्घात अंश के कर्ता न तो सुधर्मा हैं और न जम्बू। इन दोनों के अतिरिक्त कोई तीसरा ही पुरुष इसका कर्ता है।

प्रत्येक कथा के प्रारंभ में सर्वप्रथम कथा कहने के स्थान का नाम, बाद में वहाँ के राजा-रानी का नाम, तत्पश्चात् कथा के मुख्य पात्र के स्थान आदि का परिचय देने का रिवाज पूर्व परम्परा से चला आता है। इस रिवाज के अनुसार प्रस्तुत कथा-योजक प्रारंभ में इन सारी बातों का परिचय देते हैं।

मृगापुत्र :

दुःखविपाक की प्रथम कथा चंपा नगरी के पूर्णभद्र नामक चैत्य में कही गई है। कथा के मुख्य पात्र का स्थान मियग्गाम-मृगग्राम है। रानी का नाम मृगादेवी व पुत्र का नाम मृगापुत्र है। मृगग्राम चंपा के आस-पास में कहीं हो सकता है। इसके पास चंदनपादप नामक उद्यान होने का उल्लेख है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ चंदन के वृक्ष विशेष होते होंगे।

कथा शुरू होने के पूर्व भगवान् महावीर की देशना का वर्णन आता है। जहाँ महावीर उपदेश देते हैं वहाँ लोगों के झुंड के झुंड जाने लगते हैं। इस समय एक जन्मांध पुरुष अपने साथी के साथ कहीं जा रहा था। वह चारों ओर के चहल-पहल से परिचित होकर अपने साथी से पूछता है कि आज यह क्या हो-हल्ला है? इतने लोग क्यों उमड़ पड़े हैं? क्या गाँव में इन्द्र, स्कन्द, नाग, मुकुन्द, रुद्र, शिव, कुबेर, यक्ष, भूत, नदी, गुफा, कूप, सरोवर, समुद्र, तालाब, वृक्ष, चैत्य अथवा पर्वत का उत्सव शुरू हुआ है? साथी से महावीर के आगमन की बात जानकर वह भी देशना सुनने जाता है। महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इंद्रभूति उस जन्मान्ध पुरुष को देखकर भगवान् से पूछते हैं कि ऐसा

कोई अन्य जन्मान्ध पुरुष है ? यदि है तो कहाँ है ? भगवान् उत्तर देते हैं कि मृगग्राम में मृगापुत्र नामक एक जन्मान्ध ही नहीं अपितु जन्ममूक व जन्मबधिर राजकुमार है जो केवल मांसपिण्ड है अर्थात् जिसके शरीर में हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान आदि अवयवों व इंद्रियों की आकृति तक नहीं है। यह सुनकर द्वादशांगविद् व चतुर्ज्ञानधर इन्द्रभूति कुतूहलवश उसे देखने जाते हैं एवं भूमिगृह में छिपाकर रखे हुए मांसपिण्डसदृश मृगापुत्र को प्रत्यक्ष देखते हैं। यहाँ एक बात विशेष ज्ञातव्य है। किसी को यह मालूम न हो कि ऐसा लड़का रानी मृगादेवी का है, उसने उसे भूमिगृह में छिपा रखा था। रानी पूर्ण मातृवात्सल्य से उसका पालन-पोषण करती थी। जब गौतम इन्द्रभूति उस लड़के को देखने गये तब मृगादेवी ने आश्चर्यचकित हो गौतम से पूछा कि आपको इस बालक का पता कैसे लगा ? इसके उत्तर में गौतम ने उसे अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर के ज्ञान के अतिशय का परिचय कराया। मृगापुत्र के शरीर से बहुत दुर्गन्ध निकलती थी और वह यहाँ तक कि स्वयं मृगादेवी को मुँह पर कपड़ा बाँधना पड़ा था। जब गौतम उसे देखने गये तो उन्हें भी मुँह पर कपड़ा बाँधना पड़ा।

मृगापुत्र के वर्णन में एक भयंकर दुःखी मानव का चित्र उपस्थित किया गया है। दुःखविपाक का यह एक रोमाञ्चकारी दृष्टान्त है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि मृगापुत्र को ऐसी वेदना होने का क्या कारण है ? उत्तर में भगवान् ने उसके पूर्वभव की कथा कही। यह कथा इस प्रकार है :—

भारतवर्ष में शतद्वार नगर के पास विजयवर्धमान नामक एक खेट—बड़ा गाँव था। इस गाँव के अधीन पाँच सौ छोटे-छोटे गाँव थे। इस गाँव में एकाई नामक राठौड़—रट्ठउड—राष्ट्रकूट (राजा द्वारा नियुक्त शासन-संचालक) था। वह अति अधार्मिक एवं क्रूर था। उसने उन गाँवों पर अनेक प्रकार के कर लगाये थे। वह लोगों की न्याययुक्त बात भी सुनने के लिए तैयार न होता था। वह एक बार बीमार पड़ा। उसे श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, हरस, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरुचि, नेत्रवेदना, कर्णवेदना, कंडू, जलोदर व कुष्ठ—इस प्रकार सोलह रोग एक साथ हुए। उपचार के लिये वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञाता, ज्ञातापुत्र, चिकित्सक, चिकित्सकपुत्र आदि विविध उपचारक अपने साधनों व उपकरणों से सज्जित हो उसके पास आये। उन्होंने अनेक उपाय किये किन्तु

राठौड़ का एक भी रोग शान्त न हुआ। वह ढाई सौ वर्ष की आयु में मृत्यु प्राप्त कर नरक में गया और वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर मृगापुत्र हुआ। मृगापुत्र के गर्भ में आते ही मृगादेवी अपने पति को अप्रिय होने लगी। मृगादेवी ने गर्भनाश के अनेक उपाय किये। इसके लिए उसने अनेक प्रकार की हानिकारक औषधियाँ भी लीं किंतु परिणाम कुछ न निकला। अन्त में मृगापुत्र का जन्म हुआ। जन्म होते ही मृगादेवी ने उसे गाँव के बाहर फेंकवा दिया किंतु पति के समझाने पर पुनः अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण किया।

गौतम ने भगवान् से पूछा कि यह मृगापुत्र मरकर कहाँ जायेगा ? भगवान् ने बताया कि सिंह आदि अनेक भव ग्रहण करने के बाद सुप्रतिष्ठपुर में गोरूप से जन्म लेगा, एवं वहाँ गङ्गा के किनारे मिट्टी में दब कर मरने के बाद पुनः उसी नगर में एक सेठ का पुत्र होगा। बाद में सौधर्म देवलोक में देवरूप से जन्म ग्रहण कर महाविदेह में सिद्धि प्राप्त करेगा।

कामध्वजा व उज्झितक :

द्वितीय कथा का स्थान वाणिज्यग्राम (वर्तमान बनियागाँव जो कि वैशाली के पास है), राजा मित्र एवं रानी श्री है। कथा की मुख्य नायिका कामज्झया—कामध्वजा गणिका है। वह ७२ कला, ६४ गणिका-गुण, २९ अन्य गुण, २१ रतिगुण, ३२ पुरुषोचित कामोपचार आदि में निपुण थी; विविध भाषाओं व लिपियों में कुशल थी; संगीत, नाट्य, गांधर्व आदि विद्याओं में प्रवीण थी। उसके घर पर ध्वज फहराता था। उसकी फ़ीस हजार मुद्राएँ थीं। उसे राजा ने छत्र, चामर आदि दे रखे थे। इस प्रकार वह प्रतिष्ठित गणिका थी। कामध्वजा गणिका के अधीन हजारों गणिकाएँ थीं। विजयमित्र नामक एक सेठ का पुत्र उज्झितक इस गणिका के साथ रहने लगा एवं मानवीय कामभोग भोगने लगा। यह उज्झितक पूर्वभव में हस्तिनापुर निवासी भीम नामक कूटग्राह (प्राणियों को फंदे में फँसानेवाला) का गोत्रास नामक पुत्र था। उज्झितक का पिता विजयमित्र व्यापार के लिए विदेश रवाना हुआ। वह मार्ग में लवण समुद्र में डूब गया। उसकी भार्या सुभद्रा भी इस दुर्घटना के आघात से मृत्यु को प्राप्त हुई। उज्झितक कामध्वजा के साथ ही रहता था। वह पक्का शराबी, जुआरी, चोर व वेश्यागामी बन चुका था। दुर्भाग्यवश इसी समय मित्र राजा की भार्या श्री रानी को योनिशूल रोग हुआ। राजा ने संभोग के लिए कामध्वजा को अपनी उपपत्नी बनाकर उसके यहाँ से उज्झितक को निकाल दिया। राजा की मनाही

होने पर भी एक बार उज्झितक कामध्वजा के यहां पकड़ा गया। राजा के नौकरों ने उसे खूब पीटा, पीट-पीट कर अधमरा कर दिया और प्रदर्शन के लिए गांव में घुमाया। महावीर के शिष्य इन्द्रभूति ने उसे देखा एवं महावीर से पूछा कि यह उज्झितक मर कर कहां जाएगा? महावीर ने मृगापुत्र की मरणोत्तर दुर्गति की ही भांति इसको भी दुर्गति बताई व कहा कि अन्त में यह महाविदेह में जन्म लेकर मुक्त होगा। उज्झितक की वेश्यागमन के कारण यह गति हुई।

अभग्नसेन :

तीसरी कथा में अभग्नसेन नामक चोर का वर्णन है। वह पूर्वभव में अति पातकी, मांसाहारी तथा शराबी था। स्थान का नाम पुरिमताल (प्रयाग) बताया गया है। इसका भविष्य भी मृगापुत्र के ही समान समझना चाहिए। इस कथा में चोरी और हिंसा के परिणाम की चर्चा है।

शकट :

चौथी कथा शकट नामक युवक की है। यह कथा उज्झितक की कथा से लगभग मिलती-जुलती है। इसमें वेश्या का नाम सुदर्शना तथा नगरी का नाम साहंजनी—शाखाञ्जनी है।

बृहस्पतिदत्त :

पांचवीं कथा बृहस्पतिदत्त नामक पुरोहित-पुत्र की है। नगरी का नाम कौशांबी (वर्तमान कोसम गांव), राजा का नाम शतानीक, रानी का नाम मृगावती, कुमार का नाम उदयन, कुमारवधू का नाम पद्मावती, पुरोहित का नाम सोमदत्त और पुरोहितपुत्र का नाम बृहस्पतिदत्त है। बृहस्पतिदत्त पूर्वजन्म में महेश्वरदत्त नामक पुरोहित था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में निपुण था। अपने राजा जितशत्रु की शान्ति के लिए प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के एक-एक बालक को पकड़वाकर उनके हृदय के मांसपिण्ड से शान्तियज्ञ करता था। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दो-दो बालकों को पकड़वा कर शान्तियज्ञ करता था। इसी प्रकार चार महीने में चार-चार बालकों, छः महीने में आठ-आठ बालकों तथा वर्ष में सोलह-सोलह बालकों के हृदयपिण्ड द्वारा शान्तियज्ञ करता था। जिस समय राजा जितशत्रु युद्ध में जाता उस समय उसकी विजय के लिए ब्राह्मणादि

प्रत्येक के एकसौ आठ बालकों के हृदयपिण्ड द्वारा शान्तियज्ञ करता था। परिणामतः राजा की विजय होती थी। महेश्वरदत्त मर कर पुरोहित सोमदत्त का बृहस्पतिदत्त नामक पुत्र हुआ। राजपुत्र उदयन ने इसे अपना पुरोहित बनाया। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण बृहस्पतिदत्त अन्तःपुर में भी आने-जाने लगा। यहाँ तक कि वह उदयन की पत्नी पद्मावती के साथ कामक्रीडा करने लगा। जब उदयन को इस बात का पता लगा तो उसने बृहस्पतिदत्त की बहुत दुर्दशा की तथा अन्त में उसे मरवा डाला।

इस कथा में नरमेध व शत्रुघ्न-यज्ञ का निर्देश है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में नरमेध होते थे व राजा अपनी शान्ति के लिए नरहिंसक यज्ञ करवाते थे। इससे यह भी मालूम होता है कि ब्राह्मण पतित होने पर कैसे कुकर्म कर सकते हैं।

नंदिवर्धन :

छठी कथा नंदिवर्धन की है। नगरी मथुरा, राजा श्रीदाम, रानी बंधुश्री, कुमार नंदिवर्धन, अमात्य सुबंधु व आलंकारिक (नापित) चित्र है। कुमार नंदिवर्धन पूर्वभव में दुर्योधन नामक जेलर अथवा फौजदार था। वह अपराधियों को भयंकर यातनाएं देता था। इन यातनाओं की तुलना नारकीय यातनाओं से की गई है। प्रस्तुत कथा में इन यातनाओं का रोमांचकारी वर्णन है। दुर्योधन मर कर श्रीदाम का पुत्र नंदिवर्धन होता है। उसे अपने पिता का राज्य शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने की इच्छा होती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह आलंकारिक चित्र से हजामत बनवाते समय उस्तरे से श्रीदाम का गला काट देने के लिए कहता है। चित्र यह बात श्रीदाम को बता देता है। श्रीदाम नंदिवर्धन को पकड़वाकर दुर्दशापूर्वक मरवा देता है। नंदिवर्धन का जीव भी अन्त में महाविदेह में सिद्ध होगा।

उंबरदत्त व धन्वन्तरि वैद्य :

सातवीं कथा उंबरदत्त की है। गाँव का नाम पाटलिखंड, राजा का नाम सिद्धार्थ, सार्थवाह का नाम सागरदत्त, उसकी भार्या का नाम गंगदत्ता और उनके पुत्र का नाम उंबरदत्त है। उंबरदत्त पूर्वभव में धन्वन्तरि नामक वैद्य था। धन्वन्तरि अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता था : कालचिकित्सा, शालाक्य, शल्यचिकित्सा, कायचिकित्सा, विषचिकित्सा, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण। उसके लघुहस्त

शुभहस्त और शिवहस्त विशेषण कुशलता के सूचक थे। वह अनेक प्रकार के रोगियों की चिकित्सा करता था। श्रमणों तथा ब्राह्मणों को परिचर्या करता था। औषधि में विविध प्रकार के मांस का उपयोग करने के कारण धन्वन्तरि मर कर नरक में गया। वहाँ से आयु पूर्ण कर सागरदत्त का पुत्र उंबरदत्त हुआ। माता के उंबरदत्त नामक यक्ष की मनौती करने के कारण इसका नाम भी उंबरदत्त ही रखा गया। इसका पिता जहाज टूट जाने के कारण समुद्र में डूब कर मर गया। माता भी मृत्यु को प्राप्त हुई। उंबरदत्त अनाथ हो घर-घर भीख माँगने लगा। उसे अनेक रोगों ने घेर लिया। हाथ-पैर की अंगुलियाँ गिर पड़ीं। सारे शरीर से रुधिर बहने लगा। उंबरदत्त को ऐसी हालत में देख कर गौतम ने महावीर से प्रश्न किया। महावीर ने उसके पूर्वभव और आगामी भव पर प्रकाश डाला एवं बताया कि अन्त में वह महाविदेह में मुक्त होगा।

शौरिक मछलीमार :

आठवीं कथा शौरिक नामक मछलीमार की है। शौरिक गले में मछली का काँटा फँस जाने के कारण तीव्र वेदना से कराह रहा था। वह पूर्व जन्म में किसी राजा का रसोइया था जो विविध प्रकार के पशु-पक्षियों का मांस पकाता, मांस के वैविध्य से राजा-रानी को खुश रखता और खुद भी मांसाहार करता था। परिणामतः वह मर कर शौरिक मछलीमार हुआ।

देवदत्ता :

नवीं कथा देवदत्ता नामक स्त्री की है। यह कथा इस प्रकार है :—

सिंहसेन नामक राजपुत्र ने एक ही दिन में पाँच सौ कन्याओं के साथ विवाह किया। दहेज में खूब सम्पत्ति प्राप्त हुई। इन भार्याओं में से श्यामा नामक स्त्री पर राजकुमार विशेष आसक्त था। शेष ४९९ स्त्रियों की वह तनिक भी परवाह नहीं करता था। यह देख कर उन उपेक्षित स्त्रियों की माताओं ने सोचा कि शस्त्रप्रयोग, विषप्रयोग अथवा अग्निप्रयोग द्वारा श्यामा का खात्मा कर दिया जाय तो हमारी कन्याएँ सुखी हो जायँ। यह बात किसी तरह श्यामा को मालूम हो गई। उसने राजा को सूचित किया। राजा ने उन स्त्रियों एवं उनकी माताओं को भोजन के बहाने एक महल में एकत्र कर महल में आग लगा दी। सब स्त्रियाँ जल कर भस्म हो गईं। हत्यारा राजा मर कर नरक में गया। वहाँ की आयु समाप्त कर देवदत्ता नामक स्त्री हुआ। देवदत्ता का

विवाह एक राजपुत्र से हुआ। राजपुत्र मातृभक्त था अतः अधिक समय माता की सेवा में ही व्यतीत करता था। प्रातःकाल उठते ही राजपुत्र पुष्पनंदी माता श्रीदेवी को प्रणाम करता था। बाद में उसके शरीर पर अपने हाथों से तेल आदि की मालिश कर उसे नहलाता एवं भोजन करता था। भोजन करने के बाद उसके अपने कक्ष में सो जाने पर ही पुष्पनंदी नित्यकर्म से निवृत्त हो भोजन करता था। इससे देवदत्ता के आनन्द में विघ्न पड़ने लगा। वह राजमाता की जीवनलीला समाप्त करने का उपाय सोचने लगी। एक बार राजमाता के मद्य पी कर निश्चिन्त होकर सो जाने पर देवदत्ता ने तप्त लोहशलाका उसकी गुदा में जोर से घुसेड़ दी। राजमाता की मृत्यु हो गई। राजा को देवदत्ता के इस कुकर्म का पता लग गया। उसने उसे पकड़वा कर मृत्युदण्ड का आदेश दिया।

अंजू :

दसवीं कथा अंजू की है। स्थान का नाम वर्धमानपुर, राजा का नाम विजय, सार्थवाह का नाम धनदेव, सार्थवाह की पत्नी का नाम प्रियंगु एवं सार्थवाहपुत्री का नाम अंजू है। अंजू पूर्वभव में गणिका थी। गणिका का पापमय जीवन समाप्त कर धनदेव की पुत्री हुई थी। अंजू का विवाह राजा विजय के साथ हुआ। पूर्वकृत पापकर्मों के कारण अंजू को योनिशूल रोग हुआ। अनेक उपचार करने पर भी रोग शान्त न हुआ।

उपर्युक्त कथाओं में उल्लिखित पात्र ऐतिहासिक हैं या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

सुख विपाक :

सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आनेवाली दस कथाओं में पुण्य के परिणाम की चर्चा है। जिस प्रकार दुःखविपाक की कथाओं में किसी असत्यभाषी की तथा महापरिग्रही की कथा नहीं आती उसी प्रकार सुखविपाक की कथाओं में किसी सत्यभाषी की तथा ऐच्छिक अल्पपरिग्रही की कथा नहीं आती। आचार के इस पक्ष का विपाकसूत्र में प्रतिनिधित्व न होना अवश्य विचारणीय है।

विपाक का विषय :

इस सूत्र के विषय के सम्बन्ध में अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला और अंगपण्णत्ति में बताया गया है कि इसमें दुःख और सुख के विपाक अर्थात् परिणाम का वर्णन है। सचेलक परम्परा के समवायांग तथा नंदीसूत्र

में भी इसी प्रकार विपाक के विषय का परिचय दिया गया है। इस प्रकार विपाकसूत्र के विषय के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में कोई वैषम्य नहीं है। नन्दी और समवाय में यह भी बताया गया है कि असत्य और परिग्रहवृत्ति के परिणामों की भी इस सूत्र में चर्चा की गई है। उपलब्ध विपाक में एतद्विषयक कोई कथा नहीं मिलती।

अध्ययन-नाम :

स्थानांग में कर्मविपाक (दुःखविपाक) के दस अध्ययनों के नाम दिये गये हैं: मृगापुत्र, गोत्रास, अंड, शकट, ब्राह्मण, नंदिषेण, शौर्य, उदुंबर, सहसोद्दाह–आमरक और कुमारलिच्छवी। उपलब्ध विपाक में मिलनेवाले कुछ नाम इन नामों से भिन्न हैं। गोत्रास नाम उज्झितक के अन्य भव का नाम है। अंड नाम अभग्नसेन द्वारा पूर्वभव में किये गये अंडे के व्यापार का सूचक है। ब्राह्मण नाम का सम्बन्ध बृहस्पतिदत्त पुरोहित से है। नंदिषेण का नाम नंदिवर्धन के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। सहसोद्दाह-आमरक का सम्बन्ध राजा की माता को तप्तशलाका से मारनेवाली देवदत्ता के साथ जुड़ा हुआ मालूम होता है। कुमार-लिच्छवी के स्थान पर उपलब्ध नाम अंजू है। अंजू के अपने अन्तिम भव में किसी सेठ के यहाँ पुत्ररूप से अर्थात् कुमाररूप से जन्म ग्रहण करने की घटना का उल्लेख आता है। संभवतः इस घटना को ध्यान में रखकर स्थानांग में कुमार-लिच्छवी नाम का प्रयोग किया गया है। लिच्छवी शब्द का सम्बन्ध लिच्छवी नामक वंशविशेष से है। वृत्तिकार ने 'लेच्छई' का अर्थ 'लिप्सु' अर्थात् 'लाभ प्राप्त करने की वृत्तिवाला वणिक्' किया है। यह अर्थ ठीक नहीं है। यहाँ 'लेच्छई' का अर्थ 'लिच्छवी वंश' ही अभिप्रेत है। स्थानांग के इस नामभेद का कारण वाचनान्तर माना जाय तो कोई असंगति न होगी। स्थानांगकार ने सुखविपाक के दस अध्ययनों के नामों का कोई उल्लेख नहीं किया है।

१. परिशिष्ट

दृष्टिवाद

बारहवाँ अंग दृष्टिवाद अनुपलब्ध है अतः इसका परिचय कैसे दिया जाय ? नन्दिसूत्र में इसका साधारण परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है :—

दृष्टिवाद की वाचनाएँ परिमित अर्थात् अनेक हैं, अनुयोगद्वार संख्येय हैं, वेढ (छंदविशेष) संख्येय हैं, श्लोक संख्येय हैं, प्रतिपत्तियाँ (समझने के साधन) संख्येय हैं, निर्युक्तियाँ संख्येय हैं, संग्रहणियाँ संख्येय हैं, अङ्ग की अपेक्षा से यह बारहवाँ अङ्ग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, संख्येय सहस्र पद हैं, अक्षर संख्येय हैं, गम एवं पर्यव अनन्त हैं। इसमें त्रस और स्थावर जीवों, धर्मास्तिकाय आदि शाश्वत पदार्थों एवं क्रियाजन्य पदार्थों का परिचय है। इस प्रकार जिन-प्रणीत समस्त भावों का निरूपण इस बारहवें अंग में उपलब्ध है। जो मुमुक्षु इस अंग में बताई हुई पद्धति के अनुसार आचरण करता है वह ज्ञान के अभेद की अपेक्षा से दृष्टिवादरूप हो जाता है — उसका ज्ञाता व विज्ञाता हो जाता है।

दृष्टिवाद के पूर्व आदि भेदों के विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है (पृ० ४४, ४८-५१)। यह बारहवाँ अंग भद्रबाहु के समय से ही नष्टप्रायः है। अतः इसके विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं जाना जा सकता। मलधारी हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति में कुछ भाष्य-गाथाओं को 'पूर्वगत' बताया है। इसके अतिरिक्त एतद्विषयक विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।

२. परिशिष्ट

अचेलक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में सचेलकसम्मत अंगादिगत अवतरणों का उल्लेख

जिस प्रकार वर्तमान अंगसूत्रादि आगम सचेलक परम्परा को मान्य हैं उसी प्रकार अचेलक परम्परा को भी मान्य रहे हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अचेलक परम्परा के लघुप्रतिक्रमण सूत्र के मूल पाठ में ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययन गिनाये हैं। इसी प्रकार सूत्रकृतांग के तेईस एवं आचारप्रकल्प (आचारांग) के अठाईस अध्ययनों के नाम दिये हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में भी अंगविषयक उल्लेख उपलब्ध हैं किन्तु अमुक सूत्र में इतने अध्ययन हैं, ऐसा उल्लेख इनमें नहीं मिलता। इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख अचेलक परम्परा के लघुप्रतिक्रमण एवं सचेलक परम्परा के स्थानांग, समवायांग व नंदीसूत्र में उपलब्ध है। इसी प्रकार का उल्लेख अचेलक परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी की आचार्य प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति में विस्तारपूर्वक मिलता है, यद्यपि इन नामों व सचेलक परम्परासम्मत नामों में कहीं-कहीं अन्तर है जो नगण्य है।

ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों के नाम लघुप्रतिक्रमण में इस प्रकार गिनाये गये हैं :—

> उक्कोडणाग[१] कुम्मं[२] अंडय[३] रोहिणि[४] सिस्स[५] तुंब[६] संघादे[७]।
> मादंगिमल्लि[८] चंदिम[९] तावद्देवय[१०] तिक[११] तलाय[१२] किण्णे[१३] ॥१॥
> सुसुकेय[१४] अवरकंके[१५] नंदीफलं[१६] उदगणाह[१७] मंडुक्के[१८]।
> एत्तो य पुंडरीगो[१९] णाहज्झाणाणि उणवीसं ॥२॥

सचेलक परम्परा में एतद्विषयक संग्रहगाथाएं इस प्रकार हैं :—

> उक्खित्ते[१] णाए संघाडे[२] अंडे[३] कुम्मे[४] सेलए[५]।
> तुंबे[६] य रोहिणी[७] मल्ली[८] मागंदी[९] चंदिमा[१०] इय ॥१॥
> दावद्दवे[११] उदगणाए[१२] मंडुक्के[१३] तेयली[१४] चेव।
> नंदिफले[१५] अवरकंका[१६] आयन्ने[१७] सुंसु[१८] पुंडरीया[१९] ॥२॥

ये गाथाएं सवृत्तिक आवश्यकसूत्र (पृ० ६५३) के प्रतिक्रमणाधिकार में हैं।

सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों के नाम प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी की वृत्ति में इस प्रकार हैं :—

समए[1] वेदालिज्जे[2] एत्तो उवसग्ग[3] इत्थिपरिणामे[4]।
णरयंतर[5] वीरथुदी[6] कुसील[7]परिभासए वीरिए[8] ॥१॥
धम्मो[9] य अग्ग[10] मग्गे[11] समोवसरणं[12] तिकाल[13] गंथहिदे।
आदा[14] तदित्थगाथा[15] पुंडरीको[16] किरियाठाणे[17] य ॥ २ ॥
आहारय[18]परिणामे पच्चक्खाण[19] अणगार[20]गुणकित्ति।
सुद[21] अत्थ[22] णालंदे[23] सुद्दयउज्झाणाणि तेवीसं ॥ ३ ॥

इन गाथाओं से बिलकुल मिलता हुआ पाठ उक्त आवश्यकसूत्र (पृ० ६५१ तथा ६५८) में इस प्रकार है :

समए[1] वेया[2]लीयं उवसग्ग[3]परिण्ण थीप[4]रिण्णा य।
निरयविभ[5]त्ती वीरत्थ[6]ओ य कुसीलाणं परिह[7]ासा ॥ १ ॥
वीरिय[8] धम्म[9] समाही[10] मग्ग[11] समोसरणं[12] अहतहं[13] गंथो[14]।
जमईअं[15] तह गाहा[16] सोलसमं होइ अज्झयणं ॥ २ ॥
पुंडरीय[17] किरियट्ठा[18]णं आहारप[19]रिण्ण पच्चक्खा[20]णकिरियाय।
अणगार[21] अद्द[22] नालंद[23] सोलसाइं तेवीसं ॥ ३ ॥

अचेलक परम्परा के ग्रंथ भगवती आराधना अथवा मूल आराधना की अपराजितसूरिकृत विजयोदया नामक वृत्ति में आचारांग, दशवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं सूत्रकृतांग के पाठों का उल्लेख कर यत्र-तत्र कुछ चर्चा की गई है।[1] इसमें 'निषेधेऽपि उक्तम्' (पृ. ६१२) यों कहकर निशीथसूत्र का भी उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं, भगवती आराधना की अनेक गाथाएं सचेलक परम्परा के पयन्ना—प्रकीर्णक आदि ग्रंथों में अक्षरशः उपलब्ध होती हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि प्राचीन समय में अचेलक परम्परा और सचेलक परम्परा के बीच काफी अच्छा सम्पर्क था। उन्हें एक-दूसरे के शास्त्रों का ज्ञान भी था। तत्त्वार्थसूत्र के 'विजयादिषु द्विचरमाः' (४.२६) की व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार भट्टाकलंक ने 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम्' यों कह कर व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवतीसूत्र का स्पष्ट उल्लेख किया है एवं उसे प्रमाणरूप से स्वीकार किया है। भट्टाकलंक निर्दिष्ट यह विषय व्याख्याप्रज्ञप्ति के २४ वें शतक के २२ वें उद्देशक के १६ वें एवं १७ वें प्रश्नोत्तर

---

१. उदाहरण के लिए देखिये—पृ. २७७, ३०७, ३५३, ६०६, ६११.

में उपलब्ध है। धवलाकार वीरसेन 'लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाह-पण्णत्तिवयणादो' (षट्खण्डागम, ३, पृ. ३५) यों कहकर व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं। यह विषय व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रथम शतक के छठे उद्देशक के २२४ वें प्रश्नोत्तर में उपलब्ध है। इसी प्रकार दशवैकालिक, अनुयोगद्वार, स्थानांग व विशेषावश्यकभाष्य से सम्बन्धित अनेक संदर्भ और अवतरण धवला टीका में उपलब्ध होते हैं। एतद्विषयक विशेष जानकारी तद्-तद् भाग के परिशिष्ट देखने से हो सकती है। अचेलक परम्परा के मूलाचार ग्रंथ के षडावश्यक के सप्तम अधिकार में आनेवाली १९२ वीं गाथा की वृत्ति में आचार्य वसुनंदी स्पष्ट लिखते हैं कि एतद्विषयक विशेष जानकारी आचारांग से कर लेनी चाहिए: आचाराङ्गात् भवति ज्ञातव्यः। यह आचारांग सूत्र वही है जो वर्तमान में सचेलक परम्परा में विद्यमान है। मूलाचार में ऐसी अनेक गाथाएं हैं जो आवश्यक-निर्युक्ति की गाथाओं से काफी मिलती-जुलती हैं। इनकी व्याख्या में पीछे से होनेवाले संकुचित परम्पराभेद अथवा पारस्परिक सम्पर्क के अभाव के कारण कुछ अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार अचेलक परम्परा की साहित्यसामग्री देखने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इस परम्परा में भी उपलब्ध अंग आदि आगमों को सुप्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ है। आग्रह का अतिरेक होने पर विपरीत परिस्थिति का जन्म हुआ एवं पारस्परिक सम्पर्क तथा स्नेह का ह्रास होता गया।

३. परिशिष्ट

आगमों का प्रकाशन व संशोधन

एक समय था जब धर्मग्रंथों के लिखने का रिवाज न था। उस समय धर्मपरायण आत्मार्थी लोग धर्मग्रंथों को कंठस्थ कर सुरक्षित रखते एवं उपदेश द्वारा उनका यथाशक्य प्रचार करने का प्रयत्न करते थे। शारीरिक और सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन होने पर जैन निर्ग्रंथों ने अपवाद का आश्रय लेते हुए भी आगमादि ग्रंथों को ताडपत्रादि पर लिपिबद्ध किया। इस प्रकार के लिखित साहित्य की सुरक्षा के लिए भारत में जैनों ने जो प्रयत्न, परिश्रम और अर्थव्यय किया है वह बेजोड़ है। ऐसा होते हुए भी हस्तलिखित ग्रंथों द्वारा अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचारकार्य उतना नहीं हो सकता जितना कि होना चाहिए। मुद्रण युग का प्रादुर्भाव होने पर प्रत्येक धर्म के आचार्य व गृहस्थ सावधान हुए एवं अपने-अपने धर्मसाहित्य को छपवाने का प्रयत्न करने लगे। तिब्बती पंडितों ने मुद्रणकला का आश्रय लेकर प्राचीन साहित्य की सुरक्षा की। वैदिक व बौद्ध लोगों ने भी अपने-अपने धर्मग्रंथों को छपवा कर प्रकाशित किया। जैनाचार्यों व जैन गृहस्थों ने अपने आगम ग्रंथों को प्रकाशित करने का उस समय कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने आगम-प्रकाशन में अनेक प्रकार की धार्मिक बाधाएँ देखीं। कोई कहता कि छापने से तो आगमों की आशातना अर्थात् अपमान होने लगेगा। कोई कहता कि छापने से वह साहित्य किसी के भी हाथ में पहुँचेगा जिससे उसका दुरुपयोग भी होने लगेगा। कोई कहता कि आगमों को छापने में आरंभ-समारंभ होने से पाप लगेगा। कोई कहता कि छपने पर तो श्रावक लोग भी आगम पढ़ने लगेंगे जो उचित नहीं है। इस प्रकार विविध दृष्टियों से समाज में आगमों के प्रकाशन के विरुद्ध वातावरण पैदा हुआ। ऐसा होते हुए भी कुछ साहसी एवं प्रगतिशील जैन अग्रणी ने आगमसाहित्य का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसके लिए उन्हें परम्परागत अनेक रूढ़ियों का भंग करना पड़ा।

अजीमगंज, बंगाल के बाबू धनपतसिंह जी को आगमों को मुद्रित करवाने का विचार सर्वप्रथम सूझा। उन्होंने समस्त आगमों को टबों के साथ प्रकाशित किया।

जैसा कि सुना जाता है, इसके बाद श्री वीरचंद राघवजी को प्रथम सर्वधर्मपरिषद् में चिकागो भेजनेवाले विजयानंदसूरिजी ने भी आगम-प्रकाशन को सहारा दिया एवं इस कार्य को करनेवालों को प्रोत्साहित किया। सेठ भीमसिंह माणेक ने भी आगम-प्रकाशन की प्रवृत्ति प्रारंभ की एवं टीका व अनुवाद के साथ एक-दो आगम निकाले। विदेश में जर्मन विद्वानों ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' ग्रंथमाला के अन्तर्गत तथा अन्य रूप में आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन आदि को मूल अथवा अनुवाद के रूप में प्रकाशित किया। स्थानकवासी परम्परा के जीवराज घेलाभाई नामक गृहस्थ ने जर्मन विद्वानों द्वारा मुद्रित रोमन लिपि के आगमों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया। इसके बाद स्व० आनन्दसागर सूरिजी ने आगमोदय समिति की स्थापना कर एक के बाद एक करके तमाम आगमों का प्रकाशन किया। सागरजी का पुरुषार्थ और परिश्रम अभिनन्दनीय होते हुए भी साधनों की परिमितता तथा सहयोग के अभाव के कारण यह काम जितना अच्छा होना चाहिए था उतना अच्छा नहीं हो पाया। इस बीच प्रस्तुत लेखक ने व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र के दो बड़े-बड़े भाग मूल, टीका, अनुवाद (मूल व टीका दोनों का) तथा टिप्पणियों सहित श्री जिनागम प्रकाशन सभा की सहायता से प्रकाशित किये। इस प्रकाशन के कारण जैन समाज में भारी ऊहापोह हुआ। इसके बाद जैनसंघ के अग्रणी कुंवरजी भाई आनंदजी की अध्यक्षता में चलने वाली जैनधर्म प्रसारक सभा ने भी कुछ आगमों का अनुवाद सहित प्रकाशन किया। इस प्रकार आगम-प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त होता गया। अब तो कहीं विरोध का नाम भी नहीं दिखाई देता। इधर स्थानकवासी मुनि अमोलक ऋषि जी ने भी हैदराबाद के एक जैन अग्रणी की सहायता से बत्तीस आगमों का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन किया। ऋषिजी ने इसके लिए अति श्रम किया जो सराहनीय है, किन्तु संशोधन की कमी के कारण इस प्रकाशन में अनेक स्थानों पर त्रुटियाँ रह गई हैं। अब तो तेरापंथी मुनि भी इस काम में रस लेने लगे हैं। पंजाबी मुनि स्व० आत्मारामजी महाराज ने भी अनुवाद सहित कुछ आगमों का प्रकाशन किया है। मुनि फूलचंदजी 'भिक्षु' ने बत्तीस आगमों को दो भागों में प्रकाशित किया है। इसमें भिक्षुजी ने अनेक पाठ बदल दिये हैं। वयोवृद्ध मुनि घासीलालजी ने भी आगम-प्रकाशन का कार्य किया है। इन्होंने जैन परम्परा के आचार-विचार को ठीक-ठीक नहीं जाननेवाले ब्राह्मण पंडितों द्वारा आगमों पर संस्कृत में विवेचन लिखवाया है। अतः इसमें काफी अव्यवस्था

हुई है। इधर आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी ने आगमों के प्रकाशन का कार्य प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के तत्त्वावधान में प्रारंभ किया है। यह प्रकाशन आधुनिक शैली से युक्त होगा। इसमें मूल पाठ, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्ति का यथावसर समावेश किया जायगा। आवश्यकतानुसार पाठान्तर भी दिये जाएँगे। विषय-सूची, शब्दानुक्रमणिका, परिशिष्ट, प्रस्तावना आदि भी रहेंगे। इस प्रकार यह प्रकाशन निःसंदेह आधुनिक पद्धति का एक श्रेष्ठ प्रकाशन होगा, ऐसी अपेक्षा और आशा है। महावीर जैन विद्यालय भी मूल आगमों के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील है।

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थों की सूची

अभिधर्मकोश—स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन

आचाराङ्गनिर्युक्ति—आगमोदय समिति

आचाराङ्गवृत्ति— ,,

आत्मोपनिषद्

आवश्यकवृत्ति—हरिभद्र—आगमोदय समिति

ऋग्वेद

ऋषिभाषित—आगमोदय समिति

ऐतरेयब्राह्मण

कठोपनिषद्

केनोपनिषद्

गाथाओ पर नवो प्रकाश—स्व० कवि खबरदार

गीता

जैन साहित्य संशोधक आचार्य श्री जिनविजयजी

तत्त्वार्थभाष्य

तैत्तिरीयोपनिषद्

नन्दिवृत्ति—हरिभद्र—ऋषभदेव केशरीमल

नन्दिवृत्ति—मलयगिरि—आगमोदय समिति

नारायणोपनिषद्

पतेतपशेमानी (पारसी धर्म के 'खोरदेह-अवेस्ता' नामक ग्रंथ का प्रकरण)
—कावशजी एदलजी कांगा

पाक्षिकसूत्र—आगमोदय समिति

प्रश्नपद्धति—आत्मानंद जैन सभा, भावनगर

बुद्धचर्या—स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन

बृहदारण्यक

ब्रह्मविद्योपनिषद्

मज्झिमनिकाय—नालंदा प्रकाशन

मनुस्मृति

महावीरचरियं—देवचंद लालभाई

महावीर-वाणी—स्वामी आत्मानंद की प्रस्तावना—मनसुखलाल ताराचंद

माण्डुक्योपनिषद्

मिलिंदपञ्ह

मुण्डकोपनिषद्

योगदृष्टिसमुच्चय—देवचंद लालभाई

लोकाशाह और उनकी विचारणा (गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति-ग्रंथ)
—पं० दलसुख मालवणिया

वायुपुराण (पत्राकार)

विशेषावश्यकभाष्य—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस

वैदिक संस्कृति का इतिहास (मराठी)—श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी

षट्खण्डागम

समवायांगवृत्ति—आगमोदय समिति

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति—आगमोदय समिति

स्थानांग-समवायांग—पं० दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

हलायुधकोश